पूर्वांचल मे सराक संस्कृति और जैन धर्म

तित्थयर

वर्ष २२ अंक – १ अप्रेल १९९८

जैन भवन

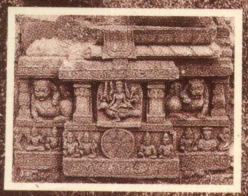

'जिसे तुम मारना चाहते हो वह तुम ही हो।'

Sethia Oil Industries Ltd.

Manufacturers of De-oiled Rice Bran, Mustard De-oiled Cakes, Neem deoiled Powder, Ground-nut De-oiled Cakes, Mahua deoiled cakes etc. And Solvent Extracted Rice Bran Oil, Neem Oil, Mustard Oil etc.

Plant
Post Box No. 5
Lucknow Road
Sitapur-261001 (U.P.)
Ph : 42017/42397/42073
(05862)
Gram - Sethia - Sitapur
Fax : 42790 (05862)

Registered Office
143, Cotton Street
Cal-700 007
Ph : 2384329/
8471/5738
Gram - Sethia Meal

Executive Office
2, India Exchange Place
Calcutta-700 001
Ph : 2201001/9146/5055
Telex : 217149 SOIN IN
Fax : 2200248 (033)

तित्थयर

श्रमण संस्कृति मूलक मासिक पत्रिका

पूर्वांचल में सराक संस्कृति और जैन धर्म
विशेषांक

जैन भवन
कलकत्ता

वर्ष - २२ अंक - १, अप्रेल १९९८

संपादन
लता कुमारी बोथरा

विशेषांक मूल्य - 24.00

लेख, पुस्तक समीक्षा तथा पत्रिका से सम्बन्धित पत्र व्यवहार के लिये पता - Editor : **Tithayar**, P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007

विज्ञापन तथा सदस्यता के लिये कृपया सम्पर्क करें -
Secretary, Jain Bhawan, P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007
Subscription for one year : Rs. 55.00, US $ 20.00,
for three years : 160.00, US $ 60.00.
Life Membership : India : Rs. 1000.00, Foreign : US $ 160.00.

Published by Lata Kumari Bothra on behalf of Jain Bhawan from P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007 and Printed by her at Surana Printing Works, 205 Rabindra Sarani Calcutta - 700 007, Phone : 239-4393

अनुक्रमणिका

क्र.सं.	लेख	लेखक	पृ. सं.
१.	शुभाशंसा	प्रो. कल्याणमल लोढ़ा	१
२.	सम्पादकीय		३
३.	जैन धर्म की पहचान		१४
४.	सराक जाति का इतिहास		१५
५.	जैन धर्मावलम्बी राढ़ क्षेत्र की सराक जाति	श्री हरिप्रसाद तिवारी श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी	२३
६.	सीमान्त बंगाल की सराक संस्कृति	श्री युधिष्ठिर माजी	३४
७.	रूपम (कथानक)	श्री युधिष्ठिर माजी	४९
८.	जैन धर्म के पृष्ठ-पोषक राजा पुण्ड्र और उनकी राजधानी	श्री हरिप्रसाद तिवारी श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी	५६
९.	उड़ीसा की सराक संस्कृति	श्री युधिष्ठिर माजी	६३
१०.	निर्ग्रंथ दर्शन और उसका पीठस्थान गिरिव्रज राजगृह के अस्तित्व के संदर्भ में ऋग्वेद	श्री हरिप्रसाद तिवारी श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी	७५
११.	बंगाल सीमान्त पर बसा सराक सम्प्रदाय	श्री श्यामचन्द मुखोपाध्याय	८८
१२.	बिहार सीमान्त की प्राचीनतम् सराक संस्कृति	श्री युधिष्ठिर माजी	१०१
१३.	भगवान महावीर की सिद्ध भूमि और तत्संलग्न अंचल	श्री हरिप्रसाद तिवारी श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी	१०७

१४.	बंगाल में जैन युग की स्मृति	श्री गोपेन्द्र कृष्ण बसु	१२३
१५.	तेलकूपी में सराक और ब्राह्मण संस्कृति की मिश्र रूप-रेखा	श्री युधिष्ठिर माजी	१३१
१६.	देउलघाटा के दीवाल चित्र और सराक संस्कृति	श्री युधिष्ठिर माजी	१३७
१७.	प्राचीनतम् सराक संस्कृति का निदर्शन पाड़ा का मन्दिर	श्री युधिष्ठिर माजी	१४४
१८.	प्राचीन सराक संस्कृति की सुवर्णभूमि पाकविड़रा	श्री युधिष्ठिर माजी	१५०
१९.	राढ़ भूमि में जैन धर्म और दुर्गापुर	डा° त्रिपुरा बसु	१५८
२०.	बंगाल के जैन पुरातत्व की शोध में पाँच दिन	श्री भंवरलाल नाहटा	१६६
२१.	उड़ीसा में जैन धर्म		१७५
२२.	असम में जैन धर्म		१९०
२३.	जैन धर्म और बंगदेश	क्षिति मोहन सेन	१९२
२४.	संकलन		२२३
२५.	जैन भवन		२२७

Composed by
COMPU LASER GRAPHICS, 9, Srimani Ghat Lane, Rishra-712248, Hooghly.

शुभाशंसा

प्रिय श्रीमती लताजी,

मुझे यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि आप तित्थयर का पूर्वी भारत में जैन धर्म पर एक विशेषांक निकाल रही हैं । 'तित्थयर' के साथ ही मुझे गणेशजी ललवानी का स्मरण होता हैं । उन्होंनें जीवन पर्यन्त बंगाल में ही नहीं पूरे भारत में जैन धर्म, दर्शन व संस्कृति का समर्पित व निःस्पृह भाव से अध्ययन कर चिन्तन का नवीन आयाम प्रस्तुत किया । सच कहा जाए तो वर्तमान पीढ़ी में उनका योगदान ऐतिहासिक महत्व रखता है । उनका बहुआयामी व्यक्तित्व, उनका गम्भीर वैदुष्य, कथा सृजन और सारस्वत अध्ययन प्रेरक और प्रभावी था । पूर्णचन्द जी नाहर, विजयसिंह नाहर, श्री चन्द जी रामपुरिया, भंवरलाल जी नाहटा जैसे मनीषियों के योगदान के समकक्ष ही उन्होंने सर्वात्य भाव से धर्म सेवा की । आज आप जैन भवन का दायित्व ग्रहण कर उसी परम्परा का संवर्धन कर रहीं हैं । श्री दिलीप सिंह जी नाहटा व डा॰ सत्यरंजन बनर्जी का समर्थन आपको प्राप्त है ही ।

पूर्वी भारत में जैन धर्म उसका प्रचार और प्रभाव विशिष्ट महत्व रखता है । बंगाल को ही लें । भगवान महावीर ने स्वयं लाढ़ (राढ़ पश्चिम बंगाल) में भ्रमण किया था और काफी उपसर्ग उन्हें सहने पड़े । चंडकौशिक का प्रसंग तो सर्वविदित है । वर्द्धमान जिला में वर्द्धमान नाम ही महावीर का द्योतक ह। भगवान के मुक्षोपरान्त यह प्रदेश आर्य देश माना जाने लगा । विद्वानों का अभिमत है कि पहले यह अनार्य गिना जाता था । प्रथम भद्रबाहु का जन्म कोटिवर्ष (उत्तरबंगाल) में हुआ । भद्रबाहु के चार शिष्यों ने चार शाखाओं की स्थापना की थी । उनके स्थानीय जनपद के ही नाम ह ताम्र लिप्तिका, पौण्ड्रवर्धिका, कोटिवर्षिका, दासी खबड़िका । बंगला देश में पाँचवी सदी का एक शिलालेख पहाड़पुर में मिला है । यह शिलालेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है । चीनी यात्री ह्वेनसांग ने लिखा है कि बंगाल के विभिन्न क्षेत्रों मे निर्ग्रन्थों की प्रचुर संख्या थी । पाल वंश के काल (९वीं व १० वीं शताब्दी) की अनेक भव्य मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं । सेन राज वंश कट्टर ब्राह्मणवादी था और उसके काल में जैन धर्मानुयायियों का ह्रास हुआ ।

श्री गणेश जी ललवानी ने सराक जाति की जीवन पद्यति का सांगोपांग अध्ययन किया था । कर्नल डाल्टन ने भी सराक जाति का गवेषना पूर्ण अध्ययन

किया था । मानभूम गेजेटियार में भी एतत् सम्बन्धी प्रचुर उल्लेख प्राप्त हैं । विल्सन का मत है कि महावीर ने वज्रभूमि में यातनाएँ सहीं । टिंकल के मतानुसार मयुरभंज जैनियो के हाथ में था । बलरामपुर, बोरल, पाकविड़रा में जैन मूर्त्तियों के भग्नावेष मिले है । ऐसी मान्यता हैं कि पाकविड़रा मे २४वें तीर्थंकर की विधिवत पूजा होती थी । कलकत्ता म्यूजियम मे शांन्तिनाथ जी व ऋषभदेव की मूर्त्तियाँ रखी हैं । भगवान महावीर के पूर्व भगवान पार्श्वनाथ भी इधर आए थे । ताम्रलिप्त से वे जहाँ गऐ उसे कोप कटक कहा जाता है वहाँ पर उन्होंने पारना किया था उस समय से यह धन्य कटक कहा जाने लगा । बंगीय साहित्य परिषद् में मंगल चण्डी की मूर्त्ति विद्यमान है । कासिम बाजार में नेमिनाथ जी का मन्दिर था । हाल ही में बांकुड़ा व मेदिनीपुर जिलों में अनेक प्राचीन जैन मूर्त्तियाँ खुदायी में प्राप्त हुई हैं । कनिंघम का मत है – "These Jain images is a clear proof of the existence of Jain relegion in this part" सराक जाति (जिसे श्रावक जाति भी कहा जाता है) की मान्यता है– डोह-डुमुर-पोढ़ा-छाती, यह तीन नहीं खाए सराक जाति ।

सराक जाति के कुल देवता हैं पार्श्वनाथ और उनमें आज भी जैन संस्कार विद्यमान है । स्वः ताजमल जी बोथरा ने सराक जाति का विशद अध्ययन स्वः गणेश ललवानी जी के साथ किया था ।

बिहार के सम्बन्ध में तो सभी ज्ञात हैं । उत्कल प्रदेश में भी जैन धर्म व संस्कृति की प्रचुरता थी । कलिंग देश मे स्वयं भगवान महावीर गए थे । नन्द राजाओं के समय में कलिंग (उड़ीसा) में जैनों का काफी प्रचार था । खारवेल ने (२वीं शताब्दी पू.) जैन धर्म को अत्याधिक प्रोत्साहन दिया व प्रचार किया। उदयगिरि और खण्डगिरि में अनेक प्राचीन शिलालेख मिले हैं। ह्वेनसांग ने कलिंग को जैनोंका गढ़ कहा था । १६वीं शताब्दी तक राजा रूद्र देव जैन धर्म के प्रति सहिष्णुता रखते थे । असम व त्रिपुरा में भी कहाँ-कहाँ जैन धर्म का प्रचार हुआ–इस पर गम्भीरता से गवेषण अभीष्ट है ।

'तित्थयर' का यह विशेषांक नयी सद्भावनाओं के साथ अध्ययन के नूतन आयाम खोलेगा ऐसा मेरा विश्वास है । मैं इस सत्संकल्प व सत्प्रयत्न के लिये आपका साधुवाद करता हूँ ।

साभिवादन,

आपका

कल्याणमल लोढ़ा

वीर निर्वाण संवन २५२४

वि.सं माध- २०५४

सम्पादकीय

साधारणतयः ये माना जाता है कि जैन धर्म राजस्थान व गुजरात से पूर्वी भारत में आया तथा जैनी लोग पश्चिमी भारत से यहाँ आकर बसे। परन्तु जैसे-जैसे इस विषय में खोज होने लगी वैसे-वैसे नये-नये तथ्य सामने आने लगे और यह स्पष्ट हुआ कि पूर्वी भारत में बंगाल, बिहार, उड़ीसा व असम आदि क्षेत्रों में यत्र-तत्र बिखरी सराक जाति विशुद्ध रूप से पूर्वी भारत में श्रमण संस्कृति की प्राचीनतम जीवित परम्परा के रूप में विद्यमान है। जिसके उद्‌गम व विकास का श्रोत जानने के लिए हमें प्रागऐतिहासिक काल में जाना पड़ेगा। विदेशी आक्रमणों तथा विषम सामाजिक परिस्थितियों के कारण हम लम्बे समय तक अपनी इस पुरातन जीवित संस्कृति से बिल्कुल अनछुते रहे। सर्वप्रथम इनके परिचय को पाश्चात्य विद्वान ही प्रकाश में लाए जिनमें डाल्टन, वेलेन्टाइन, बाल, गेट, ओमाली, रिसले, मेजर टिकेल, डब्लु.डब्लु. हन्टर आदि प्रमुख हैं। Col. Dalton ने मानभूम क्षेत्र का भ्रमण कर उनके विषय में लिखा है– In the district of Manbhoom we find distinct type of architectural remains those that appear more ancient, said by the people to be so are as described, traditionally and no doubt correctly, to a race called variously serap, serab, serak, srawaka, who were probably the earliest Aryan colonist in this part of India. "मानभूम जिले में जो भिन्न प्रकार के स्थापत्यों के ध्वंसावशेष देखे उनमें जो प्राचीन हैं उनके विषय में कहा जाता है और इस विषय में कोई सन्देह भी नहीं है कि वे उन प्रथम आर्य औपनिवेशियों द्वारा निर्मित थे जिन्हें सेराप, सेराब, सराक या श्रावक कहा जाता है।" पूर्वी भारत में जैन धर्म तथा संस्कृति की प्रतीक इस सराक जाति के पूर्व पुरूष कौन थे यह जानने के लिए संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद का अवलोकन करना पड़ेगा। ऋग्वेद में तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक राजनैतिक एवं धार्मिक चिन्तनों का भंडार मिलता है। जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के विषय में भी ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। ऋषभदेव मानवीय संस्कृति के आदि सूत्रधार थे। इनके प्रमाण वेदों के अलावा उपनिषदों तथा पुराणों में भी मिलते हैं। "ऋषभदेव ने न केवल श्रमण धर्म की स्थापना की अपित् अपने चारों ओर

के वन्य समाज को असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प एवं रक्षण की शिक्षा देकर ग्राम तथा नगर समाज के रूप में संगठित किया और उन्हें कला कौशल सिखा कर संस्कृति और सभ्यता का आरम्भ किया । नयी संस्कृति, नयी सभ्यता और नयी राज्य व्यवस्था के जनक के रूप में अगर उन्हें प्रजापति, मनु, कुलकर तथा ब्रह्मा के नाम से सम्बोधित किया जाये तो वह अनुचित न होगा । ऋषभदेव को शैव धर्म में शिव, वैष्णव धर्म में विष्णु के अवतार के रूप में आदर एवं श्रद्धा प्राप्त है ।" (श्रमण संस्कृति- जे. एल. जैन) सराक जाति के गोत्र-आदिदेव, ऋषभदेव अनन्तदेव, धर्मदेव, गौतम, काश्यप एवं सिखारिया हैं जो जैन तीर्थंकरों के नाम उनके गोत्र तथा उनके गणधरों के नाम पर है । सिखारिया से अभिप्राय सम्मेत शिखर को मानने वाले । बहुल संख्यक सराक अपना गोत्र पिता ऋषभदेव को मानते हैं अतः यह माना जा सकता है कि उनके पूर्व पुरूष ऋषभदेव या उनके निकट के व्यक्ति रहे हैं ।

ऋग्वेद की सूक्तियों में पणियों का उल्लेख पाया जाता है जिनको वश में करने के लिए अनेक मंत्रों[1] की रचना की गयी । ये पणि कौन थे । ऋग्वेद से इनके बारे में पता लगता है कि ये व्यवसाय में दक्ष, धनी, रूचिसम्पन्न तथा सामुद्रिक यात्रा करने वाली जाति थी । सूक्तियोंके अनुसार ये यज्ञ विहीन थे । इन्द्र को नहीं मानते थे, बुद्धिमान एवं बलवान थे । इन्हीं समृद्धिशाली मनुष्यों की जाति को ऋग्वेद में पणियों के नाम से अलंकृत किया गया । संभवतयः हमारी प्राचीन मुद्रा का नाम पण एवं वाणिज्य संसार का नाम पण्य इन्हीं से पड़ा ।[2] प्रायः यह देखा गया है कि धातु सम्पन्न लोग कृषि निर्भर लोगों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न तथा समृद्ध होते हैं । सप्तसिंधु के लोगों की अपेक्षा ये पणि लोग अधिक समृद्धिशील थे शायद इसीलिए उनकी ईर्ष्या का कारण थे तथा उनको वश में करने के उद्देश्य से उन पर आक्रमण का उल्लेख भी है । इनके मूल स्थान के सम्बन्ध में ऋग्वेद में इन्हें प्राच्य देश का निवासी कहा गया है तथा इस प्राच्य भूमि की मिट्टी को अरूण वर्ण वताया गया है । भारत वर्ष के पूर्व में ही ताम्र एवं लौह खदानों का अधिकांश भाग स्थित है तथा प्राचीन काल से ही इनका खनन और

---

१. ऋग्वेद 6/61/1, 1/36/16
1/39/10, 1/176/4, 1/175/3, 1/33/5
2/26/1, 5/20/2, 2/23/8, 6/61/1

२. Kosambi D.D. An Introduction to the study of Indian History Pg - 72.

निष्कासन होता रहा है । अतः धातु युग के प्रारम्भ से ही यहाँ एक उन्नत सभ्यता का विकास हुआ जिसका पणि के नाम से ऋग्वेद की सूक्तियों में उल्लेख है । क्योंकि ये जाति यज्ञ, हिंसा की विरोधी थी अतः इन्हें श्रमण या निर्ग्रन्ध धर्मानुयायी कहा जा सकता है । अथर्वेद मे भी ब्रात्यों का प्रिय धाम प्राची दिशा बताया गया है। प्राची से तात्पर्य बंगाल, बिहार, उड़ीसा से है। श्रमण संस्कृति में व्रत धारण करने के कारण श्रमणों को व्रात्य कहा गया है। ये व्रात्य ब्राह्मण वेदों को नहीं मानते थे एवं यज्ञ तथा पशुबलि के विरोधी थे । ये लोग तपस्या से आत्मशोधन में विश्वास रखते थे । जैन धर्म के सभी तीर्थंकर क्षत्रिय थे अतः इन्हे व्रात्य क्षत्रिय कहा जाने लगा। चारों वर्णों के लोग जैन धर्मानुयायी थे और हिंसा के विरोधी थे अतः वेदों में इन्हें व्रात्य तथा अनार्य कह कर सम्बोधित किया गया । क्योंकि पूर्वी भारत में इनका वास था अतः उस क्षेत्र को अनार्य क्षेत्र माना गया ।

वैलेन्टाइन अपनी किताब 'On the Ancient copper mines of Singhbhum' मे लिखते है—"छोटा नागपुर की मालभूमि की तलहटी में ताँबे की पहाड़ियों का पर्यवेक्षण करते-करते मैं जितना पूर्व की ओर अग्रसर होता गया उतना ही देखता गया कि जहाँ भी खाने थी उन सबसे ताँबे का निष्कांसन का कार्य हो चुका था । पहाड़ों के ऊपर अधिपत्यकाओं में, अरण्य में यहाँ तक कि जो धूल-धक्कड़ एवं गर्दिश के नीचे दब चुकी थीं उनसे भी ताँबा निकाला जा चुका था यह देख मेरे मन मे कौतुहल हुआ तथा प्रश्न जागृत हुआ कि वे लोग कौन थे जिन्होंने इन खानों से इतनी निपुणता पूर्वक ताम्बा निकाला ? इस सम्बन्ध में जिनका नाम लिया गया वे थे सराक" । जैन आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ही इस जाति को आदिम युग से धातु युग मे लाये थे तथा इन्हें धातु एवं शिल्प का कार्य सिखाया था । इस प्रकार हम देखते हैं कि धातु शिल्प के ऊपर एकाधिकार के कारण सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था सराक जाति के हाथ में थी । शायद इसी ईर्ष्या के कारण परवर्ती काल में 'हो' जाति ने इन पर आक्रमण कर ताम्र खदानों को छीनने की चेष्टा की । ताम्र युग ही नहीं, लौह युग की सृष्टा भी सराक जाति ही है । जैसा कि देखा गया है कि इस अंचल में प्रचुर परिमाण में लौह निष्कासन भी किया गया । हिन्दूओं के प्रसिद्ध पुराण ब्रह्मबैवर्त में सराक सम्प्रदाय के सम्बन्ध में एक विवरण मिलता है जिससे पता चलता है कि ये सराक लोगं कपड़े बुनने अर्थात् तांती का कार्य करते थे । बंगाल और उड़ीसा का तांत शिल्प आज भी प्रसिद्ध है । वर्तमान मे उड़ीसा की सराक जाति की एक शाखा कपड़े

बुनने का कार्य करती है । ये उड़ीसा के बालेश्वर जिले में है तथा इनकी संख्या ५६ हजार के लगभग है । ऐसा लगता है कि परवर्तीकाल में जीविकोपार्जन के लिये इन लोगों ने यह व्यवसाय अपनाया ।

आज के जाम ग्राम के पास अजय नदी के ऊपरी तट पर पहाड़पुर गाँव से सिन्धुसभ्यता कालीन एक मातृ मूर्ति का मस्तक प्राप्त हुआ है । जिससे सिन्धु जातियों के इस अंचल मे आगमन का प्रमाण मिलता है ।[3]

पूर्वी भारत में जैनो का एक बहुत बड़ा तीर्थ वर्तमान बंगाल के निकट स्थित है जो पारसनाथ पहाड़ के नाम से प्रसिद्ध है । कल्पसूत्र आदि आगमों के अनुसार भगवान पार्श्वनाथ सहित २० तीर्थंकरों का इसी शिखर पर निर्वाण हुआ था । बंगाल की सेन्सस रिपोर्ट ४५७ पृष्ट ११० मे उल्लेख है – 'प्राचीन काल में पारसनाथ हिल के नजदीक जैनियों की खूब बड़ी बस्ती थी । मानभूम और सिंहभूम तो इनके खास स्थान थे । ये लोग पूर्व में जैन श्रावक थे और इनकी संतान सराक जाति के नाम से प्रसिद्ध है ।'

महाभारत में हिंसक यज्ञों के स्थान पर अहिंसा का समर्थन मिलता है । जो निश्चित ही २२वें तीर्थंकर अरिष्टनेमी के प्रभाव के कारण है । महाभारत मे अंग, बंग और कलिंग का वर्णन भी मिलता है । खर्बट या कर्बल ताम्रलिप्त के निकटस्थ शहर थे जिनके विषय में महाभारत मे वर्णन है । उस काल का शुभंदेश आज का हावड़ा कहा जाता है ।[4] २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का इस अंचल से विशेष सम्बन्ध रहा है । तथा उनके इस क्षेत्र मे विचरने के प्रमाण भी हमे साहित्य में मिलते हैं । प्रसेनजित और कलिंग राज्य मे युद्ध छिड़ने पर भगवान पार्श्वनाथ ने शत्रुओं को परास्त कर राजकुमारी प्रभावती का उद्धार किया था । पार्श्वनाथ के साथ कलिंग की प्राचीन संस्कृति का व्यापक सम्बन्ध रहा है । खण्डगिरी के मूल नायक पार्श्वनाथ ही हैं । नगेन्द्रनाथ बसु ने भगवती सूत्र, क्षेत्र समास और भावदेव सूरी द्वारा लिखित २४ तीर्थंकरों की जीवनी पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि पार्श्वनाथ ने अंग, बंग और कलिंग मे जैन धर्म का प्रचार किया था । ताम्रलिप्त बन्दरगाह से कलिंग की ओर अवस्थान करते हुए कोप-कटक में धन्य नामक एक गृहस्थ के घर आहार भोजन ग्रहण किया था । वसु महोदय के विचारों के अनुसार कोप कटक बालेश्वर जिले का आधुनिक कुपारी ग्राम है । इस क्षेत्र के सराक जाति के लोग आज भी अपने को भगवान पार्श्वनाथ का उपासक मानते हैं ।

जैन साहित्य में चित्रसेन और पद्मावती चरित्र में राजपुत्र चित्रसेन कलिंग के वसन्तपुर पत्तन के राजा वीरसेन के पुत्र थे । उत्तराध्ययन के १८वें अध्ययन

में करकण्डू राजा का उपख्यान[5] भी पूर्वी भारत में जैन धर्म की प्राचीनता को स्पष्ट करता है। करकण्डू चम्पा और कलिंग के राजा थे। उन्होंने तेरापुर गुफा का परिदर्शन कर वहाँ जैन मन्दिरों का निर्माण कराया था। (J.B.O.R. Vol XVI Part- 1,2 Karkanducharya Introduction)।

बौद्ध साहित्य में अंग, बंग, कलिंग में गौतम बुद्ध धर्म प्रचार के लिये आये थे ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। जब कि भगवान महावीर इस क्षेत्र मे एक बार नही कई बार आये थे ऐसा वर्णन जैन साहित्य में मिलता है। भगवती सूत्र में जिन १६ जनपदों का वर्णन है उनमें अंग, बंग तथा कलिंग सर्वोपरि हैं। प्रज्ञापना नामक पंचम उपांग मे भारत वर्ष के आर्य अधिवासियों को नौ भागों मे बाँटा गया है जिनमे क्षत्रियो का उल्लेख करते हुए प्रथम अंग द्वितीय बंग तृतीय कलिंग तथा चतुर्थ राढ़ क्षेत्र का उल्लेख किया गया है। बाह्मण वैदिक साहित्य मे इन क्षेत्रों को अनार्य घोषित किया गया है क्यों कि यहाँ के निवासी जैन धर्मानुयायी थे। बौद्ध साहित्य में भी इन क्षेत्रों की उपेक्षा की गयी है। जब कि जैन साहित्य में इन क्षेत्रों को आर्य क्षेत्र माना गया है। वास्तव मे देखा जाए तो इन क्षेत्रों के आर्याकरण मे भगवान ऋषभदेव से भगवान महावीर एवं उनके शिष्य-प्रशिष्यों का बहुत बड़ा हाथ रहा। प्रसिद्ध इतिहासकार दत्तात्रेय भंडारकर का भी यही मत है कि जैन धर्म के माध्यम से ही बंगाल का आर्याकरण हुआ।

भगवती सूत्र के अनुसार वज्ज भूमि के क्षेत्र पणिय भूमि में भगवान महावीर ने छः वर्षावास व्यतीत किये थे। वीरभूम, वर्द्धमान आदि क्षेत्र आज भी उनके नाम की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखे हैं। आचारंग सूत्र के अनुसार महावीर ने राढ़ क्षेत्र की ऊसर भूमि में अनेक विपत्तियों का सामना किया था। आचारंग सूत्र के नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में लिखा है–

अह दुच्चरं लाढमचारी वज्जभूमियं सुब्भभूमियं पंतं।
सिज्जं सेविंसु, आसणगणि चेव पंताणि ॥२॥

अर्थात्–जहाँ विचरना बहुत ही कठिन है ऐसे लाढ़ देश की वज्र भूमि

---

३. 'राढ़ क्षेत्र की सराक जाति'— श्री हरिप्रसाद, नृसिंहप्रसाद तिवारी।
४. जनसत्ता १५ अप्रेल १९९७।
५. करकंडु कलंगेसू, पंचालेहु य
दुम्मुहो नमि राजा विदेहेसु, गंधारेसु य नग्गई ॥४६॥
उत्तरध्ययन १८वें अध्ययन

और शुभ्र भूमि इन दोनों प्रदेशों मे भगवान विचरे थे । वहाँ अनेक उपद्रवों से युक्त सूने घर आदि मे भगवान ने विश्राम लिया था ।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा बहवे जाणवया लूसिंसु,
अह लूह दैसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थहिंसिंसुणि–वइंसु ॥३॥

लाढ़ देश मे विचरते समय भगवान को बहुत उपसर्ग हुऐ थे । वहाँ के निवासी लोग भगवान को मारते थे, कुत्ते उन्हे काटते थे और उन पर टूट पड़ते थे ।

णागो संगाम सीसे व पारए तत्थ से महावीरे
एवं वि तत्थ लाढेहिं अलद्धपुव्वो वि एगया गामो ॥८॥

जैसे हाथी संग्राम के अग्रभाग मे जा कर शत्रुओं के प्रहार की परवाह न करता हुआ शत्रु सेना को जीतकर उसको पार कर जाता है इसी तरह भगवान महावीर स्वामी ने भी लाढ़ देश के परिग्रहों को जीतकर उस देश को पार किया था । कभी ठहरने के लिए ग्राम भी नहीं मिलता था तब वे जंगल मे वृक्षादि के नीचे ठहर जाते थे ।

हस्ती गुम्फा शिलालेख से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर कलिंग भी आये थे तथा वहाँ कुमारी पर्वत पर धर्म देशना दी थी । भगवान महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ तोषल राजा के मित्र थे । तोषल राज्य मे शैलपुर नाम के तीर्थस्थान होने की बात जैन ग्रन्थों में मिलती है ।

कलिंग का पिहुण्ड नामक सुविख्यात बन्दरगाह का वर्णन जैन साहित्य में तीर्थ के रूप में मिलता है । भगवान महावीर के समय में अनेक राजा श्रेणिक, कुणिक, चण्डप्रद्योत, उदयन, शतनीक आदि भगवान महावीर के परिवार से वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा जुड़े थे । अतः इनका महावीर से प्रभावित होना आवश्यक है । खारवेल के शिलालेखों से पता चलता है कि मगध के नन्द राजाओं ने कलिंग पर आक्रमण कर वहाँ से कलिंग जिन की मूर्त्ति को पाटलिपुत्र मे स्थापित किया था । इस घटना के विवरण से नन्द राजाओं के तथा उनके समय कलिंग मे जैन धर्म का प्रभाव था ऐसा पता चलता है ।

कल्पसूत्र के रचनाकार चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु स्वामी भी बंगाल के अधिवासी थे। कल्पसूत्र में गोदास गण की जिन चार शाखाओं का वर्णन है वे भी इसी क्षेत्र से सम्बन्धित हैं ।

सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के जैन धर्मानुयायी होने का प्रमाण जैन साहित्य में मिलता है । श्रवणबेलगोला में चन्द्रगिरी पर्वत पर भद्रबाहु स्वामी के

चरण तथा शिलालेखों मे भी उनका वर्णन है । लगभग उसी काल में निर्मित मन्दिर भी स्थित है । अधिकांश मौर्य सम्राट जैन धर्मी थे जिनमें अशोक का पौत्र सम्प्रति प्रमुख है । कहा जाता है कि सम्प्रत्ति ने जैन धर्म प्रचार के लिये वही किया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के लिये किया था । उड़ीसा धौली का शिलालेख (पूरी जिले मे भूवनेश्वर से सात मील दक्षिण में अश्वथामा पहाड़ी पर) इस बात का प्रमाण है कि उस समय उड़ीसा में जैन धर्म उन्नत अवस्था में था । क्योंकि सम्मेद शिखर पर्वत की तलहटी उस समय धौली गाँव तक पड़ती थी तथा उस समय खण्डगिरी व उदयगिरी सम्मेद शिखर पर्वत की श्रृंखला के अन्तर्गत थे । (खण्डगिरी नाम इस बात का धोतक है कि पहाड़ के खण्डित होने के कारण ही यह नाम पड़ा ।) अतः २० तीर्थंकरों की इस निर्वाण क्षेत्र की तलहटी मे ये शिलालेख खुदवाया गया जो यह स्पष्ट करता है कि सम्राट उस स्थान को विशेष पवित्र मानते थे । अशोक ने जिस समय कलिंग पर आक्रमण किया था उस समय कलिंग में जैन धर्म ही प्रमुख था। कलिंग की समृद्धता तथा ताम्रलिप्त पर उनका अधिकार ही अशोक के कलिंग आक्रमण का कारण रहे हैं । अशोक के समय पुण्डवर्द्धन में १८,००० (अठारह हजार) । निर्ग्रन्थों की हत्या का वर्णन भी हमें बौद्ध ग्रन्थ दिव्यवदान सूत्र में मिलता है ।

ई. पू° दूसरी या पहली शताब्दी को उड़ीसा में जैन धर्म का स्वर्ण युग कहा जा सकता है । चेदि वंश के महान प्रतापी सम्राट महामेघवाहन खारवेल के शासन मे जैन धर्म अपनी पराकाष्टा पर था । खारवेल सम्राट जैन धर्म को हजारों वर्षों तक सुरक्षित एवं जीवित रखने के लिये खण्डगिरी के पाषाण फल्कों पर उसकी अमर कीर्ति अंकित कर गये । सम्राट खारवेल ने मगध पर आक्रमण कर कलिंग जिन की मूर्त्ति को पुनः कलिंग मे लाकर स्थापित किया था ।

ई. सन् की दूसरी शताब्दी में पूर्वी भारत में मुरण्ड राजाओं का अधिपत्य करीब २४० वर्षों तक रहा । जैन, ग्रीक तथा चीनी साहित्य में भी इन राजाओं का विवरण मिलता है । ये राजा जैन धर्म के समर्थक थे । १९४८ ई. में शिशुपाल गढ़ के निकट भूमि खुदाई में प्राप्त स्वर्ण मुद्रा से इस क्षेत्र में मुरण्ड राजाओं के शासन का विवरण प्राप्त होता है । ई. पू° दूसरी शताब्दी के भरहुत की एक वैदिक लिपि में पुण्ड्रवर्धन का उल्लेख किया गया है । मथुरा में एक शिलालेख प्राप्त होता है जो दूसरी शताब्दी का है उसमें किसी राढ़वासी द्वारा तीर्थंकर की मूर्त्ति उत्सर्ग करने की बात लिखी हुई है।

पहाड़पुर से पाये जाने वाले ताम्रपत्र से विदित होता है कि जैन धर्म पूर्वी भारत में गुप्त काल में प्रतिष्ठित था। जैन कल्पसूत्र एवं अन्य आगमों को गुप्त काल में सम्राट कुमारगुप्त के समय में लिपिबद्ध किया गया था। उस समय ताम्रलिप्त, कोटिवर्द्धन, पुण्ड्रवर्धन व खर्बट जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे। अविभाजित बंगाल के पूर्वांचल में स्थित कुमिल्ला के निकट मयनावती नामक स्थान मे गुप्तकालीन जैन बिहार का पता चला है।

७वीं शताब्दी में जब चीनी चात्री ह्वेनसांग भारत आया था तब उसने पूर्वी भारत मे बहुत से स्थानों पर जैन बस्तियाँ देखी थीं। यद्यपि वो बौद्ध धर्मावलम्बी था परन्तु उसके लेखों से पता चलता है कि वैशाली, पुण्ड्रवर्द्धन तथा कलिंग आदि जनपदों में जैनो की संख्या सबसे अधिक थी। १४वीं शताब्दी मे जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीति महातीर्थ नामक संग्रह कल्प के अन्तर्गत पुण्ड्रपर्वत और कोटिभूमि का उल्लेख किया है तथा इन स्थानों पर भगवान महावीर के चैत्यालय होने की बात कही है। पुण्ड्रपर्वत को पुण्ड्रवर्द्धन से और कोटि भूमि को कोटिवर्ष से समीकृत किया जा सकता है। ये दोनों स्थान प्राचीन काल से ही उत्तरी बंगाल में स्थित थे। जैसा कि हम देखते हैं कि एक समय जैन धर्म पश्चिमी भारत में फैला हुआ था परन्तु उसका प्रधान कार्यक्षेत्र अंग, बंग और कलिंग रहा है। जैन धर्म राज धर्म के रूप में शताब्दियों तक इस भूमि पर विद्यमान रहा तथा इसका प्रभाव आज भी इन क्षेत्रों मे देखा जा सकता है इसी कारण प्रसिद्ध विद्वान प्रबोधचन्द्र सेन ने बंगाल का आदि धर्म जैन धर्म ही बताया है।

बंगाली भाषा मे अनेक शब्द ऐसे हैं जिनके साथ जैन पारिवारिक शब्दों का साम्य मिलता है। जैसे जैनों मे पल्ली गाँव को कहते है बंगाल में आज भी गाँवों को पल्ली कहा जाता है। जैन साधु के उत्तरीय को पछेड़ी कहते हैं। बंगला मे भी पाछुड़ी सम्बोधित करते हैं। जैन साधु जिस रजोहरण से धूल झाड़ते है उसको पीछी कहते हैं। बंगाल मे झाड़ु को पीछी ही कहा जाता है। जैन ग्रन्थों की लिपि और पुरातन बंगला भाषा की लिपि में अद्‌भुत साम्य है। बंगला भाषा की उत्पत्ति अर्धमागधी (प्राकृत) से ही हुई है। बंगाल के मनसा मंगल, चण्डी मंगल, धर्म मंगल आदिकाव्यों पर जैन प्रभाव स्पष्टतया दीख पड़ता है। मनसा देवी भगवान पार्श्वनाथ की शासन देवी पद्मावती ही है। बंगाल में कहीं कहीं मनसा रूप में नागछत्रधारी पार्श्वनाथ भी पूजे जाते हैं। मनसा मंगल में बेहुला की कथा श्रीपाल चरित्र कथानक का स्मरण कराती है। यतीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुसार बंगाल में मीननाथ

से जो नाथ सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ वह जैनियों के तीर्थंकरों तथा उनके शिष्य सम्प्रदाय से हुआ है । मीननाथ के गुरू थे आदिनाथ अर्थात् ऋषभनाथ। बंगाल की रामायण के कथानक में जैन रामायण की छाप स्पस्ट दीखती है।

वर्तमान युग की उड़ीसा की संस्कृति एवं धार्मिक जीवन पर जैन धर्म का जो विस्तृत प्रभाव है वह गहन चिंतन का विषय है । मध्ययुगीन भंज शासकों के वंश परिचय के रूप में जिस श्रुत मयुरिका से वंश उत्पत्ति का वर्णन संगीत मुक्तावली में मिलता है वे श्रुतदेवी जैन सरस्वती ही हैं, और उनका वाहन मयूर है । उड़ीसा क्रीड़ा का 'पद्य तोला' गीत तथा प्राचीन पुस्तक 'सारला महाभारत' पर जैन प्रभाव विद्यमान हैं । जगन्नाथ दास कृत भागवत में जैन तत्व दीक्षा का प्रतिपादन हुआ है । चैतन्यदास विरचित बिष्णु पुराण के छटे अध्याय में ऋषभ और भरत का चरित्र दिया गया है । प्रसिद्ध बउला गाय के उपाख्यान में जैन अहिंसा तत्व बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्फुटित हुआ है । जैनों के कल्पवृक्ष से प्रभावित हो कर उड़ीसा के पुरी और भुवनेश्वर के मन्दिरों में कल्पवृक्ष की स्थापना की गयी । पुरी जगन्नाथ के मन्दिर के अहाते में 'कोइली बैकुंठ' रहा है । यह कोइली शब्द तमिल के 'कोरल' से आया है जिसका अर्थ है कैवल्य जो जैन धर्म का परिचायक है। जगन्नाथ शब्द मूलतः जैन है तथा यह भगवान ऋषभदेव का ही नाम है। (ऐसा अभिधान राजेन्द्रकोष मे उल्लेख है) भले ही आज ये वैष्णव प्रभाव से कुछ भी हो पर वास्तव में यह जैन तीर्थंकर ऋषभदेव का पूजा केन्द्र है ।

यह दुर्भाग्य पूर्ण है कि जो भूमि ऋषभदेव के समय से १०वीं शताब्दी तक जैन संस्कृति के प्रभाव में रही और जहाँ लक्ष-लक्ष जैन धर्मानुयायी थे आज वहाँ के निवासी जैन धर्म की मूल धारा से अलग-थलग पड़ गये । विदेशी आक्रमणों तथा कठिन विषम परिस्थितियों के कारण जैन धर्म का ह्रास होने लगा । जिस पूर्वी भारत से महाप्रभावी आचार्यों ने जैन धर्म को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण भारत में प्रचारित किया उसी पूर्वी भारत में दीर्घकाल बाद पश्चिम से पुनः जैनियों का आगमन हुआ (मुर्शिदाबाद में) लेकिन यहाँ जो प्राचीन संस्कृति के प्रतीक जैन पुरूष प्राचीन काल से थे जिनकी संताने आज सराक नाम से जानी जाती हैं । ये सराक शब्द जैन गृहस्थों के लिये प्रयुक्त शब्द श्रावक से निकला है जिसका संस्कृत में अर्थ है सुनने वाला। यद्यपि वर्तमान मे अधिकांश वैष्णव बन गये हैं परन्तु अपने पूर्वजों की जैन होने की बात ये जानते हैं तथा मानते हैं ।

Col. Dalton इनके बारे में कहते है— "They called themselves

Saraks and they Pride of themselves on the fact that under our govt one of their community had never been convicted of a heinous crime.....They struck me as having a very respectable and intelligent person."

ये पूर्णतयः शाकाहारी हैं, हिंसा से घृणा करते है यहाँ तक कि काटने के शब्द को भी व्यवहार में नहीं लाते हैं । पार्श्वनाथ पहाड़ इनका आराध्य क्षेत्र है । सर्वप्रथम जब धान को अपने घर मे उठाते हैं तो पहाड़ की दिशा में धान अर्पण करके तब अपने काम में लेते हैं । श्री प्रबोधचन्द्र सेन अपनी पुस्तक 'बंगाल के आदि धर्म' में इनके लिये लिखते है– "जैन धर्म को भूल जाने पर भी ये लोग अभी तक शाकाहारी हैं तथा पूर्णतयः अहिंसक है । भगवान पार्श्वनाथ को अपना कुलदेवता मानते हैं । सम्मेत शिखर तथा उदयगिरी और खंडगिरी में दर्शन पूजनार्थ जाते हैं । बी॰ एल जैन के अनुसार 'सराक हमारे लिये वह अवशेष हैं जो जिनेश्वर देव से अनुभावित संस्कृति का जीवित अंश हैं ।"

अनेक जैन मूर्त्तियाँ तीर्थंकरों गणधरों एवं शासन देवियों की जो इन क्षेत्रों में सर्वत्र बिखरी पड़ी हैं वे इन्ही सराको के पूर्व पुरूषों के द्वारा निर्मित एवं प्रतिष्ठित करायी गयी हैं । इनकी प्राचीन कारीगरी के बहुत से चिन्ह अवशेष हैं जो इस देश में सबसे प्रचीन हैं ऐसा यहाँ के सब लोग कहते हैं। ये चिन्ह वास्तव में उन लोगों के हैं जिस जाति के लोगों को 'सराक-सरावग' कहते हैं जो शायद भारत के इस भाग में सबसे पहले बसने बाले हैं । (A.S.B. 1868 N-35)

पहाड़पुर से पाये गये ताम्रपत्र के अलावा इस क्षेत्र में अनेंकों जैन मन्दिरों के भग्नावेष व असंख्य जैन मूर्त्तियाँ प्राप्त हुई हैं । चन्द्रकेतु गढ़ से प्राप्त तीर्थंकर मूर्त्ति का स्कन्ध लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन तीर्थंकर मूर्त्ति से मिलता है। राजशाही जिले से प्राप्त प्राचीनतम मूर्त्ति वहीं के म्यूजियम में रखी हुयी है। इसी जिले से प्राप्त ऋषभदेव की खड्गासन स्थित मूर्त्ति वर्तमान में कलकत्ता के आशुतोष मुखर्जी म्यूजियम में रक्षित है ।

बांकुड़ा, वीरभूम, पुरूलिया, मेदिनीपुर, विष्णुपुर के गाँवों में जैन संस्कृति के प्राचीन साक्ष्य बिखरे पड़े है । पुरूलिया जिले के तेलकूपी में इतनी जैन मूर्त्तियाँ मिली हैं कि देखकर विस्मित होना पड़ता है । पाड़ा, पाकविड़रा के ४ मन्दिरों में करीब ५० के लगभग मूर्त्तियाँ विद्यमान है । जिनमें पद्मप्रभू स्वामी की ७ फुट लम्बी मूर्त्ति उल्लेखनीय है । वर्द्धमान, पूंचड़ा, दुर्गापुर,

आसनसोल जिले से भी काफी संख्या में जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी है । दुर्भाग्यवश बंगाल के गाँवों में आज भी सैंकड़ों मूर्त्तियाँ खण्डहरों तथा बृक्षों के नीचे आरक्षित पड़ी हैं जिनमे से काफी विदेश चली गयी । कुछ को वहां के ग्रामीण लोग लौकिक देवी-देवता के रूप में पूजते हैं । जैन मूर्त्तियों को वो शिव, भैरव कहीं इर्गूनाथ तो कहीं मनसा के रूप में पूजते हैं । तेलकूपी के भैरवनाथ विख्यात और जागृत देवता माने जाते हैं । यह और कोई नहीं भगवान महावीर हैं जो कालान्तर में भैरव नाम से स्थानान्तरित हो गये । ये मूर्त्तियाँ प्रायः उसी क्षेत्रों में पायी जाती रही हैं जहाँ सराक लोगों का बहुल्य है तथा जिस-जिस क्षेत्र में तीर्थंकर विचरे थे । इस प्रकार हम देखते हैं कि कालान्तर में जैन धर्म विरोधी प्रवाह में इस क्षेत्र की जैन मूर्त्तियां तथा मन्दिरों को हिन्दु संस्कृति में परिवर्तित कर दिया गया फिर भी जैन धर्म की अमिट छाप बंगाल और उड़ीसा के जन जीवन पर आज भी उनकी भाषा, संस्कृति, साहित्य एवं रीति रिवाजों में देखी जा सकती है ।

पूर्वांचल में जैनत्व की पहचान के प्रतीक के रूप में यह कहा जा सकता है कि "यदि वर्तमान में जैन समाज एक विशाल वट वृक्ष है तो सराक वे जड़ हैं जिन पर यह वृक्ष पल्लवित होकर विस्तृत हुआ है । यदि वर्तमान जैन संघ जिनेश्वर की नूतन प्रतिमा है तो सराक उसकी प्राचीन प्रतिमा का अवशेष हैं । यदि जैन रूपी पर्वत की खुदायी करें तो उस खुदायी की महत्वपूर्ण उपलब्धि होंगे 'सराक' ।"

'तित्थयर' पत्रिका के २२वें वर्ष पर पूर्वी भारत में जैन धर्म की ऐतिहासिक पृष्टभूमि के प्रमाण के रूप में सराक संस्कृति की महत्वत्ता को स्थापित करने एवं प्रकाश में लाने के लिये यह विशेषांक निकाल रहे हैं । इसमें दी गयी शोधात्मक रचनाएँ भविष्य में शोधार्थियों का मार्ग प्रशस्त करेंगी ऐसा मेरा विश्वास है । इस सारस्वत प्रयास के प्रेरक आदरणीय कल्याणमल लोढ़ा के कुशल निर्देशन एवं डा॰ एस. आर. बनर्जी के सतत् प्रेरणा के फलस्वरूप यह विशेषांक अपना आकार ग्रहण कर पाया है । किन्तु गणेश की अवस्थिति बिना ज्ञान प्रकाशित नहीं होता अतः प्रकाशन में हर संभव सहयोग श्री दिलीप सिंह जी नाहटा एवं श्री पवित्र कुमार जी दूगड़ ने प्रदान कर संकल्प को लक्ष्य तक पहुँचाया है । भारत सरकार के पुरातत्व विभाग से भी हम यह अपेक्षा करते हैं कि वो इस क्षेत्र मे ध्यान दें और विलुप्त हो रहे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक प्रमाणों को संरक्षित करे ताकि प्राचीन जीवंत धरोहरों को पुनः प्रतिष्ठित किया जा सके ।

जैन धर्म की पहचान

"अब तक जैन धर्म को जितना जान सका हूं मेरा दृढ विश्वास हो गया हैं कि विरोधी सज्जन यदि जैन साहित्य का मनन कर लेंगे तो विरोध करना छोड़ देंगे ।"

— डा. गंगानाथ झा, एम.ए., डी. लिट.

"जैन धर्म में मनुष्य की उन्नति के लिए सदाचार को अधिक महत्व प्रदान किया गया हैं । जैन धर्म अधिक मौलिक, स्वतन्त्र तथा सुव्यवस्थित है ।"

— डा.ए.गिरनो

"मै अपने देशवासियों को दिखाऊंगा कि कैसे उत्तम नियम और ऊंचे विचार जैन धर्म और जैन आचार्यों में है, जैन साहित्य बौद्ध साहित्य से काफी बढ़-चढ़कर है । ज्यों-ज्यों मैं जैन धर्म तथा उसके साहित्य को समझता हूँ त्यों-त्यों मैं अधिकाधिक पसन्द करना हूं ।"

— डा.जान्स हर्टल, जर्मनी

"नये धार्मिक आन्दोलन चलाने की आवश्यक्ता नहीं हैं क्योंकि जैन धर्म में दुःखी दुनिया के हित के लिये सब कुछ मौजूद हैं । उसका ऐतिहासिक आधार भी सारभूत हैं । जैन धर्म ने ही पहले पहल अहिंसा का प्रचार किया । दूसरे धर्मों ने उसे वहां से ही लिया ।"

— श्री प्रो.लुई रेनाड, पी.एच.डी. पेरिस

"महावीर स्वामी ने शब्दों में ही नहीं अपितु रचनात्मक जीवन में एक महान आन्दोलन किया । वह आन्दोलन जो नवीन एवं सम्पूर्ण जीवन में सुख पाने के लिए नव आशा का स्त्रोत था, जिसे कि हम यहां धर्म कह रहे हैं ।"

— श्रीमति आइस डेविडस, डी.लिट.एम.ए

"भगवान महावीर अलौकिक महापुरूष थे । वे तपस्वियों में आदर्श, विचारकों में महान, आत्मविकास में अग्रसर दर्शनकार और सभी विद्याओं में पारंगत थे । उन्होंने अपनी तपस्या के बल से उन विद्याओं को रचनात्मक रूप देकर जन समूह के समक्ष उपस्थित किया था ।"

— डा. अर्नेस्ट लाय मैन, जर्मनी

सराक जाति का इतिहास

सन् १८६४-६५ में ले० कॅर्नल डाल्टन ने मानभूम जिला परिभ्रमण की टूर डायरी लिखते समय एक ऐसी जाति का उल्लेख किया जिसने उन्हें विशेष रूप से प्रभावित किया था। उनके सम्बन्ध में वे लिखते हैं– "१८६३ में जब कि मैं पुरूलिया से १२ मील दूर जुम्प्रा नामक स्थान पर गया तो वहाँ के कुछ अधिवासी मुझसे मिलने आए। मुझे उनकी मुखाकृति बुद्धिदीप्त और वड़ी ही शालीन लगी। उन्होंने स्वयं को सराक बताते हुए गर्व से कहा कि किसी घृणित कार्य के लिए उनमें से कोई भी कोर्ट में अभियुक्त बनकर नहीं गया है। वास्तव में किसी को आघात पहुँचाने या किसी भी हत्या के प्रति उनके मन में अत्यन्त घृणा थी। वे पार्श्वनाथ के उपासक थे और सूर्योदय के पूर्व कुछ नहीं खाते थे।" आगे वे फिर लिखते हैं— "यद्यपि छोटा नागपुर के स्थान-स्थान पर उनकी बस्तियाँ पायी जाती हैं फिर भी उनके पूर्वज वहाँ के अधिवासी नहीं थे। उनका आदि निवास स्थान था पाँचेत। उनलोगों का देहवर्ण, गठन और केश विन्यास मुण्डा और कोल जाति के लोगों से भिन्न था। वे बड़े ही उद्योगी थे। जीविकोपार्जन के लिए उन्होंनें कृषि और वाणिज्य दोनों को ही ग्रहण किया था।" इनके स्थापत्य सम्बन्धी कार्यों के विषय में लिखते समय डाल्टन ने लिखा—"मानभूम जिले में मैंने दो विभिन्न प्रकार के स्थापत्यों के ध्वंसावशेष देखे। उनमें जो प्राचीन हैं उनके विषय में कहा जाता है—और इस विषय में कोई सन्देह भी नहीं है कि वे उन प्रथम आर्य औपनिवेशियों द्वारा निर्मित थे जिन्हें कि सेराप, सेराव, सेराक या श्रावक कहा जाता है। यहाँ तक कि भूमिज जिन्होंने कि बहुत पहले से ही उन अंचलों में बस्तियाँ स्थापित की थी, वे भी कहते हैं कि उनके पूर्वजों ने (जो कि इस प्रकार के स्थापत्य निर्माण के कौशल से अनभिज्ञ थे) यहाँ बस्ती स्थापित करने के लिए जंगल साफ करते समय इस प्राचीन स्थापत्य को देखा था। साथ ही यह भी प्रवाद है कि सिंहभूम के पूर्वांचल में भी सराकों ने ही प्रथम उपनिवेश स्थापित किया था। लगता है सराकों ने अपनी बस्तियाँ नदियों के किनारे-किनारे स्थापित की थीं। शायद इसीलिए उनके मन्दिरों के

ध्वंसावशेष दामोदर, कासाई एवं अन्य नदियों के किनारे ही पाए जाते हैं। कासाई नदी की तटभूमि पूराकीर्ति का एक समृद्ध क्षेत्र है। मैंनें वहाँ की मूर्तियाँ देखी हैं एवं इस विषय में मैं निस्सन्देह भी हूँ कि ये सब पशु लञ्छन सह जैन तीर्थंकरों की ही मूर्तियाँ हैं। मैंने जितने भी मन्दिरों का विवरण दिया है वे सब सम्भवतः वीर या महावीर जिस पथ से गुजरे थे उसी पथ के किनारे उनके पदचिन्हों को अनुसरण कर उन लोगों द्वारा निर्मित हैं जिन्हें कि उन्होंने अपना अनुयायी बताया था। ये सभी मन्दिर समय या सम्मेत शिखर की परिधि में ही हैं। इस सम्मेत शिखर के विषय में कहा जाता है कि वीर निर्वाण के २३० वर्ष पूर्व जिन पार्श्व या पार्श्वनाथ ने सांसारिक बन्धनों को क्षय कर इसी स्थान पर निर्वाण प्राप्त किया था। अतः लगता है जंगलों के मध्य, नदियों के किनारे-किनारे महावीर के आविर्भाव के भी बहुत पहले जिन्होंने यहाँ बस्तियाँ स्थापित की थीं, जिनके मध्य महावीर ने धर्म का प्रचार किया था वे जैन धर्म के तत्वों से अपरिचित नहीं थे। भूमिज, हो या लुरका कोलों के मध्य प्रचलित प्रवादानुसार भी सराकों ने ही इस अंचल को सर्वप्रथम अपने अधिकार में लिया था।"

सराकों की बुद्धिदीप्त शालीन मुखाकृति और पुराकीर्ति के विषय में डाल्टन ने बडी ही उच्छ्वसित भाषा में अपना वक्तव्य उपस्थित किया है। और शायद वर्तमान काल में सराकों से हमारा यही परिचय है। किन्तु, यह परिचय हमारे मन में विस्मय उत्पादन करता है। और वह विस्मय यह है कि जिस जाति का चरित्र इतना उन्नत है, जिनकी एक विशिष्ट संस्कृति है, एक विशेष सत्ता है, उन्हें हम इतने दिनों तक कैसे भूले रहे ? आज भी कहाँ सीमा है सराकों के विषय में हमारी अज्ञानता की ? कहना होगा आज भी बहुत कम लोग यह जानते हैं कि सराक जो कि एक प्राचीन सभ्यता के धारक एवं वाहक हैं हमारे मध्य ही रहते हैं। इतना ही नहीं लम्बे समय के पश्चात् भी उन लोगों ने अपना निजी वैशिष्ट्य पूर्णतः नष्ट नहीं किया है। उन लोगों के हिन्दू धर्म में धर्मान्तरित हो जाने पर भी वे आज भी रात्रि-भोजन नहीं करते। हिंसा से उन्हें अत्यन्त घृणा है। अतः वे निरामिषभोजी हैं। यहाँ तक कि फल या तरकारी काटते समय वे 'काटा' शब्द का भी व्यवहार नहीं करते। हठात् यदि कोई यह शब्द बोल दे तो वे उस फल या तरकारी को फेंक देते हैं। क्या यह उनकी एकनिष्ठता का परिचायक नहीं ?

यद्यपि डाल्टन ने सराक जाति का जो परिचय दिया वह अति सामान्य है, फिर भी इस कार्य के लिए हम उनके कृतज्ञ हैं। सराक चरित्र के एक अन्य रूप का परिचय हमें भेलेन्टाइन बांल की रचना में मिलता है। उनकी 'On the ancient copper mines of Singhbhum' नामक पुस्तक से जो कि १८६६ में लिखी गयी थी कुछ अंश उद्धृत कर रहा हूँ— "छोटानागपुर के मालभूमि की तलहटी से ताम्बे की खान युक्त पहाड़ियों का पर्यवेक्षण करते-करते मैं जितना ही पूर्व की ओर अग्रसर होता गया उतना ही देखता गया कि जहाँ भी खानें थी उन सबों से ही ताम्बा निष्कासन का कार्य हो चुका था। पहाड़ों के ऊपर, अधिपत्यकाओं में, अरण्य में, यहाँ तक कि जो धूल धक्कड़ एवं गर्दिश के नीचे में दब चुकी थीं उनसे भी ताम्बा निकाला जा चुका था। यह देखकर मेरे मन में कौतुहल एवं प्रश्न जागृत हुआ कि वे लोग कौन थे जिन्होंने इन खानों से इतनी निपुणतापूर्वक ताम्बा निकाला था ? इस सम्बन्ध में जिनका नाम लिया गया वे थे सराक"। मेजर टिकेल भी इनके विषय में लिखते हैं कि "एक समय सिंहभूम सराकों या श्रावकों के अधिकार में था। जबकि आज वह उनके हाथों से निकल चुका है। उस समय में वे वहाँ वहुत बड़ी संख्या में रहते थे और समृद्धिशाली भी थे। शायद महावीर सिंहभूम नहीं आए थे। अतः यहाँ मन्दिरादि परिदृष्ट नहीं होते। सम्भवतः जैन यति और साधुओं ने भी मानभूम की दक्षिणस्थ पर्वतमाला अतिक्रम कर सिंहभूम में प्रवेश नहीं किया। फिर भी लगता है दुस्साहसी जैन सराक या श्रावकों ने अरण्य भेद कर सिंहभूम में प्रवेश किया था। और उनका वह दुस्साहस ताम्बे की खान का अनुसन्धान कर लेने के कारण पुरस्कृत भी हुआ। उन्होंने अपनी समस्त शक्ति और समय नियोजित कर दिया था ताम्बे की खानों से ताम्बा निकालने में।" यह एक बहुत बड़ी विशिष्टता है सराक चरित्र की। किन्तु खेद है आज लोग उनके इस विशिष्ट गुण की चर्चा नहीं करते। आज तो जो लोग सराक जाति की चर्चा करने लगे हैं या उनके उन्नयन का कुछ कार्य कर रहे हैं वे उन्हें एक विशेष धार्मिक दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा करते हैं, उनकी विशिष्ट सत्ता की ओर दृष्टिपात नहीं करते। परन्तु अब सराकों को अपनी विशिष्ट सत्ता के प्रति स्वयं जागृत होना होगा। निश्चित ही उनकी भूमिका गतानुगतिक जीवन यापन की नहीं है, वल्कि वह है दुस्साहसिक अग्रगामियों की। यह उन्हें स्मरण रखना होगा।

सराक मूलतः जैन थे यह बात डाल्टन ने ही नहीं उस समय के प्रमुख अंग्रेज लेखक गेटे, रिसले, औमालि, कूपलैण्ड प्रमृति ने भी लिखी है ।

गेटे ने अपनी 'सेन्सास रिपोर्ट' में लिखा है— "यह सराक शब्द निस्सन्देह श्रावक शब्द से उद्‌भूत हुआ हैं जिसका कि संस्कृत अर्थ है श्रवणकारी । जैनों के मध्य यह शब्द उन गृहस्थों के लिए प्रयुक्त हुआ है जो कि लौकिक व्यवसाय करते हैं एवं यति और साधुओं से भिन्न हैं ।" कूपलैण्ड ने 'गेजेटियर आफ मानभूम डिस्ट्रिक्ट' में लिखा हैं— "सराकगण मूलतः जैन हैं इसमें कोई सन्देह नहीं है ।" उन्हें चाहे सन्देह नहीं रहा हो किन्तु यह बात परवर्ती बंगाली हिन्दू लेखक स्वीकार नहीं कर सके । श्रद्धेय हरेकृष्ण मुखोपाध्याय ने उन्हें बौद्ध कहा है । नगेन्द्रनाथ बसु ने 'वीरभूम विवरण' के द्वितीय खण्ड की भूमिका में उन्हें जैन, बौद्ध, वैष्णवों के सम्मिलन से उद्‌भूत बताया है । लगता है भला इससे अधिक असत्य और क्या हो सकता है ? जिस समय बंगला देश वैष्णव धर्म के प्रबल प्रवाह में प्रवाहित भी नहीं हुआ था उस समय भी सराक थे यह हम मुकुन्दराम कृत 'चण्डीमंगल' के आधार पर कह सकते हैं। कारण व्याघ कालकेतु ने जिस समय गुजरात नगर पतन किया उस समय वहाँ जो निवास करने आए थे उनमें हम सराकों का नाम पाते हैं ।

सराक वैसे गुजराटे
जीव-जन्तु नहीं काटे
सर्वकाल करे निरामिष ।

ये निरामिषी और अहिंसक थे यह भी हम इसके आधार पर कह सकते हैं । बौद्ध गृहस्थ उपासकों के तो निरामिषी होने का कोई कारण ही नहीं था ।

हमलोगों के सराकों को भूल जाने पर भी प्राचीन बंगला साहित्य में उनका जो उल्लेख मिलता है यह उक्त कथन की मूल्यवान दलील है । फिर इसका मूल्य उस समय और भी बढ़ जाता है जबकि हम देखते हैं कि बंगला देश में साधारणतः जो सब मूर्तियाँ पायी गयी हैं वे अष्टम शताब्दी के बाद की हैं । ऐतिहासिकगण कहते हैं कि उस समय से बंगला देश में जैन धर्म का प्रभाव और प्रतिपत्ति कम हो गयी थी । अतः यही कारण है कि बंगला देश में जैन मूर्तियाँ बहुत कम पायी गयी हैं । पर इन ऐतिहासिकों का कथन वैसा

ही निरर्थक है जैसा कि यह कहना कि सराक जैन, बौद्ध और वैष्णवों के सम्मिलन से उद्‌भूत है । जबकि केवल बाँकुड़ा और पुरूलिया की ही कई सौ जैन मूर्तियों को हम दसम् और ग्यारहवीं शताब्दी की मानने के यथेष्ट कारण पाते हैं । मात्र इन दो जिलों की मूर्तियों की संख्या ही यह अनुमान कराने में सहायक होगी कि इस प्रान्त में जैन धर्म का प्रभाव कितना व्यापक था । बाँकुड़ा, बहुलाड़ा, हाड़मासरा, अम्बिका नगर, चित्तिगिरि, चियादा, वरकोना, केन्दुआ, देउलभिड़ा, गौकुल, परेसनाथ और धरापाट एवं पुरूलिया के पाकविड़रा, बुधपुर, सुइसा, पलमा बलरामपूर, छररा, संका, पाड़ा, लनेड़ा और झाल्दा ये सभी जैन केन्द्र थे । इसका प्रमाण वहाँ पायी गयी असंख्य जैन मूर्तियाँ और अगणित चौमुख रेख मन्दिर हैं ।

अवश्य ही ब्राह्मण हिन्दू धर्म की ओर से इन सराकों पर कम अत्याचार नहीं हुए । उन अत्याचारों का वर्णन हमें मिलता है ह्वेनसांग लिखित विवरण में । वह राजा शशांक के विषय में लिखता है कि शशांक ने गया के बोधिवृक्ष को उखड़वा दिया, पाटलीपुत्र में बुद्ध के पद-चिन्ह अंकित एक पत्थर को गंगा में फिकवा दिया, कुशी नगर के विहार से बौद्धों को मारपीट कर निकाल दिया । गया के एक मन्दिर से बुद्ध मूर्ति को हटाकर वहाँ शिवमूर्ति स्थापित करने का आदेश दिया । ह्वेनसांग बौद्ध थे । अतः उन्होंने बौद्धों पर किए गए अत्याचारों का वर्णन किया, जैनों के विषय में नहीं लिखा । फिर भी इससे यह अनुमान तो हो ही जाता है कि बौद्ध विहार और जैन मन्दिर दोनों ही शशांक के उत्पीड़न से नहीं बच सके थे । 'आर्य मंजुश्री मूल कल्प' में कहा गया है कि राजा शशांक ने बौद्ध और जैन दोनों को ही उत्पीड़ित किया था। इस उत्पीड़न का इतिहास शायद नहीं लिखा गया हो, किन्तु वहाँ के विनष्ट मन्दिर और मूर्तियाँ जो साक्ष्य दे रही हैं उसे देखते हुए भी यह कहना कि 'काला पहाड़' ने ही यह सब कार्य किया, उचित नहीं है । धरापाट के मन्दिर का ही दृष्टान्त लीजिए । इस मन्दिर का जो सबसे अधिक लक्षनीय है वे हैं शिखर निबद्ध तीन मूर्तियाँ, उसमें एक है बासुदेव की अन्य दो हैं जैन तीर्थंकर आदिनाथ और पार्श्वनाथ की । इन दोनों मूर्तियों को देखकर लगता है कि सुदूर अतीत में यहाँ या इसके आसपास किसी समय एक जैन धर्म का केन्द्र था । वर्तमान मन्दिर के प्रायः२०० गज दक्षिण-पश्चिम में खूब बड़े टीले के ऊपर माकड़ा पत्थर का एक प्राचीन आमलक आदि का भग्नांश बिखरा हुआ

मिलता है । सम्भवतः यह उस समय जैन मन्दिर था । उस मन्दिर के उत्खात के पश्चात् इस देवालय को केन्द्र कर एक वासुदेव उपासना का केन्द्र खड़ा हो गया । उसका एक मात्र प्रमाण उपरोक्त मन्दिर की वासुदेव मूर्ति ही नहीं· समीप के दालान में 'मनसा' नाम से उपासित पार्श्वनाथ की करीब ४ फुट ऊँची मूर्ति भी है । वस्तुतः इस जैसी कौतुहलोद्दीपक और साथ-साथ वेदनादायक मूर्ति पश्चिम बंगाल की मूर्तियों में अधिक नहीं हैं । नागछत्रधारी (इसीलिए मनसा में रूपान्तरित) पार्श्वनाथ मूर्ति के पीछे वाले प्रस्तर पर गदाचक्रधारी दो हाथ जोड़ दिए गए और लक्ष्मी सरस्वती की प्रथागत दो मूर्तियाँ भी उत्कीर्ण कर दी गयी हैं ।

ब्राह्मण सम्प्रदाय के दबाव में आकर किस प्रकार सराक लोगों ने जैन धर्म का परित्याग कर हिन्दू धर्म ग्रहण किया या स्वधर्म की रक्षा के लिए निकटवर्त्ती प्रदेशों में चले गए इसका सन्-तारिख युक्त सटीक इतिहास हम नहीं पा सके हैं, फिर भी कई शताब्दियों तक जैनों को हिन्दू बनाने का यह कार्य चलता रहा ऐसा लगता है । क्योंकि उन्होंने किस प्रकार पूर्ण हिन्दू की मर्यादा प्राप्त की इसका सामान्य परिचय हम पाते हैं रिसले और कूपलैण्ड की लेखनी से । उस समय सराकगण जैन धर्म परित्याग कर अपनी जाति विलुप्त होकर एक ऐसी स्थिति में जी रहे थे कि न तो वे हिन्दू थे न जैन । कारण हिन्दुओं की भाँति उस समय उनके पुरोहित नहीं थे, गोत्र नहीं थे, पदवियाँ नहीं थीं । अधिकांश ब्राह्मण पण्डित उनके क्रिया काण्डों के समय उपस्थित नहीं होते । सराक लोगों की इस दशा का अवसान भी आकस्मिक रूप से हुआ और यह बात बहुत दिन पूर्व की नहीं है । वर्गियों के आक्रमण से जब बंगला देश पीड़ित हो रहा था यह उसी समय की घटना है ।

वर्गियों के आक्रमण से पंचकोट का राज्य विध्वंस्त हो गया । राज परिवार के सभी लोग निहत हो गए । बचा मात्र एक शिशु जो कि बड़ा हुआ किसी ब्राह्मण के घर नहीं, मनिहार ग्राम के एक सराक के घर । वयस्क होने पर जब यह शिशु राज्य सिंहासन पर आरूढ़ हुआ तो स्वभावतः वह सराक जाति के प्रति सहानुभूतिशील हो गया । अतः उन्होंने सराकों को हिन्दू जाति की पूर्ण मर्यादा देकर उन्हें पुरस्कृत किया । उसी समय से सराकों को भी हिन्दुओं की भाँति ही ब्राह्मण पुरोहित मिलने लगे । माजि (माझी), मण्डल, नायक, सिंह आदि पदवियाँ भी उन्हें प्राप्त हुई । उनकी गोत्र रचना भी हुई

एवं हिन्दुओं के विभिन्न देवी-देवताओं की पूजा का अधिकार मिला ।

पश्चिमी सीमान्त बंगाल के सराकगण पंचकोट के राजाओं का अनुग्रह प्राप्त कर चार भागों में विभक्त हो गए । यथाः (१) पंचकोटिया अर्थात पाँचेत अंचल के अधिवासी, (२) नदीपारिया अर्थात मानभूम जिले के दामोदर नदी के आसपास के निवासी, (३) वीरभूमिया अर्थात जो वीरभूम अंचल में रहते थे, (४) तामरीय अर्थात राँची अंचल के तामर नामक स्थान के निवासी । इन चार श्रेणियों में तृतिय एवं चतुर्थ श्रेणी के सराक आज विलुप्तप्राय हैं ।

पंचकोट राज्य में आकर रहने के पूर्व सराकगण धलभूम अंचल में रहते थे ऐसा रिसले ने कहा है एवं वहाँ से पंचकोट में आने का कारण मानराजा का किसी सराक कन्या के प्रति अपमान जनक व्यवहार बतलाया गया हैं ।

वस्तुतः सराक समाज का जो टुकड़ा-टुकड़ा इतिहास हम पाते हैं वह अंग्रेज लेखकों की लेखनी से ही है । इस विषय में हम में से किसी ने भी आज तक इनके विषय में वैज्ञानिक पद्धति से व्यापक अनुसन्धान कार्य प्रारम्भ नहीं किया । जबकि जाति के अभ्युदय के लिए इतिहास रचना अत्यन्त आवश्यक हैं । मुझे बंकिमचन्द्र की वह उक्ति याद आ रही है कि 'जिस जाति का इतिहास नहीं वह जाति आत्म विस्मृत जाति हैं ।' जो जाति आत्म विस्मृत है उसका भविष्य भी अन्धकारमय है । कारण भविष्य की उन्नति की अनुप्रेरणा भी तो अतीत के गौरवमय इतिहास से ही मिलती है । फिर सराक लोगों का यह इतिहास केवल गौरवोज्ज्वल ही नहीं स्वतन्त्र संस्कृति से पूर्णतः उद्‌भासित भी है । पार्श्वनाथ तथा महावीर के समय या उसके पूर्व समय की बात मैं नहीं कहता, किन्तु ऐतिहासिक मौर्य काल से गुप्तकाल तक बंगला देश में जैन धर्म बहु व्यापक बना रहा और उसके साथ सराक जाति का जो प्राचीन इतिहास आ रहा वह आज सर्वमान्य है । आन्ध्र, पुलिन्द एवं शबर अध्युषित अंचल में आर्य सभ्यता की मशाल हाथ में लिए जो लोग आए वे सराक ही थे । यह मेरा कथन नहीं यह कहा है प्रख्यात ऐतिहासिक देवदत्त रामकृष्ण भण्डारकर ने । बंगाल की भूमि ने हमें कितने ही जैन रत्न दिए यह स्मरण कर आज मुझे उनमें से कितने ही नाम यथा भद्रबाहु, गोदास, गृहनन्दी, नाथ शर्मा, रामी आदि याद आ रहे हैं । उनकी छाया छबि अनायास ही मेरी आँखों में प्रवाहित हो रही है । अब आज के सराकों को अपने प्राचीन इतिहास के प्रति सचेतन होना होगा । उनकी भूमिका कृषक, किरानी एवं

जुलाहों की भूमिका नहीं हैं । उनकी भूमिका है अग्रगामी दुस्साहसियों की भूमिका । दारिद्र, पिछड़ापन, अज्ञान आदि अनेक बाधाएँ आज उन्हें घेरे हैं । किन्तु मैं सबसे अधिक विश्वास करता हूँ मनुष्य के पौरूष और इच्छाशक्ति पर । जैन धर्म की भी तो यही शिक्षा है कि मनुष्य के चाहने पर ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह प्राप्त नहीं कर सके । सराक जाति को अपने अतीत के प्रति सचेत होने के साथ-साथ स्वयं के वर्तमान एवं भविष्य का निर्माण भी उन्हें स्वयं ही करना है ।

❖❖❖

"जैन धर्म बहुत ऊंची पंक्ति का धर्म हैं, इसके मुख्य तत्व विज्ञान के आधार पर रचे हुए हैं—ऐसा मेरा अनुमान ही नहीं, पूर्ण अनुभव हैं । जैसे-जैसे पदार्थ-विज्ञान आगे बढ़ेगा जैन धर्म के सिद्धान्तों को वह अधिक-से-अधिक सिद्ध करेगा ।"

—डा. एल.टैसी.टोरी

जैन धर्मावलम्बी राढ़ क्षेत्र की सराक जाति

श्री हरिप्रसाद तिवारी
श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी

भारतवर्ष तथा पृथ्वी के विभिन्न प्रान्तों में गिने-चुने कुछ अत्यंत प्राचीन जातियों के संमूह अपनी परम्परा और उच्च संस्कृति को धारण किये हुए अभी भी अपने-अपने आस्तित्व के साथ वर्तमान हैं, सराक जाति उनमें से एक है । नव पाषाण युग के उत्तरकाल और धातु युग के शुरू से ही ये प्राचीन राढ़ क्षेत्र के बंजरभूमि और सीमान्त अंचलों में अर्थात् अभी के बिहार और पश्चिम बंगाल के सीमावर्ती इलाके – वीरभूमि, वर्द्धमान, सन्थाल परगना, बाँकुड़ा, पुरूलिया, धनबाद, मेदिनीपुर, सिंहभूमि तथा राँची जिलों में अपने अस्तित्व को अक्षुण्ण रखते हुए जीवनयापन करती आ रही है । इन लोगों की सबसे बडी विशेषता यह है कि ये शाकाहारी हैं, इनमें जीव-हत्या पर रोक है, अपने खान-पान में ये डूमर व छत्रक जातीय आहार ग्रहण नहीं करते । (स्थानीय एक कहावत है – डुहुक डुमुर कुड़क छाति/ये तीन न खाये सराक जाति ।), किसी भी प्रकार के नीच कर्म ये नहीं करते एवं नीच कार्यों को ये मन से घृणा भी करतें हैं । इनकी जीविका के मुख्य साधन – कृषि, व्यापार और शिक्षा हैं । स्थानीय समाज में ये अपनी पूरी विशिष्टता के साथ चिरपरिचित होने के बावजूद भी स्थानीय लोगों ने ईश्वर सम्बन्धी विभिन्न चिन्ताधाराओं के समन्वय में इन्हें कभी भी त्याज्य नहीं किया । सर्वभारतीय स्तर पर इनके परिचय को पाश्चात्य पण्डितों ने ही चिन्हित किया है जिनमें ले॰ कर्नल डाल्टन, भेलेन्टाइन बॅल, गेटे, ओमाली, सर हर्वर्ट रिसले, आर. सी. मनि, मेजर टिकेल, प्रो. विलसन, विलियम हन्टर तथा कॅर्नल हॅटेन प्रधान हैं ।

कर्नल डाल्टन ने 1864-65 ई. के मानभूम जिला के अपनी Tour Diary में इन लोगों के सम्बन्ध में बहुत ही विस्तार से चर्चा की है । उनके लेखों से पता चलता है कि वे जब पुरूलिया से 12 मील दूर जूप्रो में ठहरे थे तब कुछ स्थानीय लोगों ने उनसे मिलकर अपना परिचय सराक जाति के रूप में

दिया था । और साथ ही यह भी बताया कि वे जैनियों के तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के उपासक हैं । उनलोगों ने उन्हें यह भी बताया कि उनकी जाति के लोग चोरी, डकैती, हत्या, परस्त्रीगमन जैसे नीच कर्मों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । आज तक कोई भी ऐसे नीच कर्म के लिए दोषी नही ठहराया गया है । इस जाति के लोगों को छोटा नागपुर अंचल के कई स्थानों पर निवास करते देखा जा सकता है, फिर भी कर्नल डाल्टन ने इनका आदि स्थान पान्चेत अंचल को ही बताया है । उन्होंने इस जाति को बहुत ही परिश्रमी कहा है तथा यह लिखा है कि ये अपनी जीविका कृषि और व्यापार से चलाते हैं । उनका यह भी मानना है कि सराक जाति आर्य जाति की ही एक शाखा है, जिन्होंने मानभूम जिला में सर्वप्रथम आर्य उपनिवेश स्थापित किया था । ये भगवान महावीर के आविर्भाव के बहुत पहले से ही जैन धर्म में दीक्षित थे । सराक जाति के ओजस्वी चेहरे, तेजपूर्ण ललाट, शालीनताबोध तथा अनेक कर्मों की प्रशंसा कर्नल डाल्टन ने बहुत ही उत्साहपूर्ण शब्दों में की है । उन्होंने इन लोगों को इस अंचल की सबसे प्राचीन श्रावक जाति होने का श्रेय दिया है एवं यह भी कहा है कि ये जाति इन अंचलों के विभिन्न स्थानों में सराक, सेराक, सेराब, सेराप, सराकी, सरोगी इत्यादि नामों से जानी जाती हैं ।

सराक जाति की असाधारण विज्ञान और तकनीकी ज्ञान की बातों की जानकारी वैलेन्टाइन बेल की 'On the Ancient Copper Mines' नामक पुस्तक से मिलती है । उन्होंने इसमें लिखा है कि छोटा नागपुर अंचल के ताम्र खनिज सम्पन्न क्षेत्रों का भ्रमण करते समय उन्होंने इन अंचलों में ऐसे खादानों को भी देखा जिनसे ताम्र पत्थर निकाले जाने का प्रमाण मिलता है एवं उन्होंने इसका भी पता लगाया कि ये ताम्र पत्थर किसी दुस्साहसी मानव जाति द्वारा संग्रहित किया गया था । उनके मतानुसार प्राचीन सराक जाति स्मरणातीत काल से ही इन क्षेत्रों में ताम्र पत्थर संग्रहित एवं निष्कासन के कामों में लगे हुए थे ।

मेजर टिकेल के मतानुसार ये ताम्र धातु से समृद्ध सम्पूर्ण क्षेत्र ही एक समय सराक जाति के अधिकार में थे एवं तब वे काफी संख्यक और समृद्धशाली थे । उन्होंने सराक जाति को इस विपदाग्रस्थ अंचल से ताम्र पत्थर की खोज, संग्रह एवं निष्कासन पद्धति के आविष्कार जैसे कामों के लिए उन्हें दुस्साहसी बताया है ।

कर्नल हार्टन ने भी 1854 ई. के जियोलॉजिकल सोसाइटी के कार्य-विवरण में सराक जाति का उल्लेख ताम्र निष्कासन के लिए किया है ।

कूपलैण्ड साहब ने मानभूम जिला गजेटियर में सराक जाति को मुख्यतः जैन धर्मावलम्बी कहा है । गेट साहब ने अपने सेन्सस रिपोर्ट में लिखा है कि 'सराक' शब्द की उत्पत्ति 'श्रावक' से हुई है, जिसका अर्थ श्रवणकारी होता है।

रिसले ने सराकों के सम्बन्ध में लिखा है – ये मानभूम जिला में निवास करने से पूर्व धलभूम अंचल के वासिन्दा थे ।

पाश्चात्य विद्वानों तथा विचारकों द्वारा सराक जाति से सम्बन्धित उपर्युक्त मान्यताओं से जो तथ्य हम पाते हैं, वे हैं—

सराक जाति जैन धर्मावलम्बी हैं ।

इन्होंनें प्रागैतिहासिक काल में ही इन अंचलो में उपनिवेश स्थापित कर ताम्र युग की शुरूआत की ।

ये आर्य जाति के अन्तर्गत आते हैं एवं सराक, सराग, सराकी, सरोगी इत्यादि विभिन्न नामों से विभिन्न स्थानों में परिचित हैं । कृषि और व्यापार इनकी जीविका हैं ।

उपर्युक्त तथ्यों पर दृष्टिपात करने के पश्चात् सर्वप्रथम यह प्रश्न उठता है कि इन्होंने जैन धर्म को कब से स्वीकार किया और किस तीर्थंकर के द्वारा ये दीक्षित थे एवं भारतवर्ष के दूसरे जैनियों से विच्छिन्न कैसे हो गये ?

इन प्रश्नों के उत्तर पाने के लिए सर्वप्रथम हम लोगों को सराक बहुल इन अंचलों की ओर दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ेगी । भले ही इन अंचलों को, भारतवर्ष के दूसरे जैनी महत्व न दे पर इनकी स्थिति काफी महत्वपूर्ण है । भौगोलिक दृष्टि से जैनियों के अत्यन्त ही महत्वपूर्ण केन्द्र को चारों तरफ से घेरे हुए है एवं वह केन्द्र है सम्मेद-शिखर (पार्श्वनाथ पहाड़), जहाँ भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों से श्रमण - श्रावक आये हैं । इसका कारण यह है कि यही सम्मेद-शिखर जैनियों के 24 तीर्थंकरों में से 20 तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि है । अर्थात सराक जाति ऐसे स्थान में वास करती है, जो स्मरणातीत काल से जैनियों की पवित्रतम भूमि है ।

मानभूम, सिंहभूम, सन्थाल परगना, वर्द्धमान, वीरभूम एवं बाँकुड़ा अंचलों

की सराक जाति में प्रधानतः दो गोत्र पाए जाते हैं— आदिदेव एवं ऋषभदेव। हाँ कुछ अल्प संख्यक सराकों में अवश्य किसी और गोत्र का परिचय मिलता है पर वे नगण्य ही हैं। प्रधानता आदिदेव एवं ऋषभदेव की ही है। आदिदेव ऋषभदेव का ही एक अन्य नाम है।

स्मरणातीत काल से ही मनुष्य अपने जाति एवं गोत्र को जानता रहा है। मानवों का एक-एक समूह इतिहास के संधि स्थलों पर जिस युगपुरूष के माध्यम से परिचालित हुआ है, जिनके प्रवर्तित अनुशासन एवं रीति-नीतियों को माना है, जिनके निकट दीक्षित हुए हैं —वही उस समुह के गोत्रपिता कहलाए एवं इस गोत्र परिचय के फलस्वरूप हजारों हजार वर्षों बाद भी मनुष्य अपने-अपने गोत्र के लोगों को अच्छी तरह पहचान लेते हैं।

सराक जाति के गोत्रपिता ऋषभदेव थे, इसीलिए निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि इनके पूर्व पुरूष भगवान ऋषभदेव के अत्यन्त ही निकट के व्यक्ति थे, ऐसा भी हो सकता है कि उनके साथ उन लोगों का खून का रिश्ता भी रहा हो। इसीलिए, ऋषभदेव द्वारा प्रचलित अनुशासन उनके लिए सर्वथा पालन करने योग्य था।

हम आश्चर्य से पुलकित हो उठते हैं जब देखते हैं कि हजारों वर्षों के घात-प्रतिघातों को, उत्थान-पतन को तथा सामाजिक परिवर्तनों को झेलते हुए भी ये सराक जाति अपने अस्तित्व की रक्षा में सदा संघर्षशील रही है एवं ये सराक जाति ही भारतवर्ष के वर्तमान जैन धर्म में दीक्षित जैनियों के उत्तर पुरूष भी हैं। भारत के और भी किसी प्रान्त में इतनी प्राचीन जैन जाति निवास करती भी है या नहीं इसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता।

भगवान ऋषभदेव के पश्चात जैन धर्म में और भी तीर्थंकरों का आविर्भाव हो चुका है। जैन धर्म में बहुत परिवर्तन भी हुआ है। भगवान महावीर का जैन धर्म विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका है। बहुत से संघ बने। प्रत्येक सम्प्रदाय और संघो द्वारा पृथक-पृथक अनुशासन स्वीकृत और आरोपित हुए किन्तु अतिप्राचीन सराक जाति आज भी भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रचलित अनुशासन को बिना परिवर्तित किए ज्यों का त्यों पालन कर रही है।

भगवान ऋषभदेव के अनुशासनों द्वारा परिचालित इस जाति ने शिक्षा, ज्ञान-विज्ञान, तकनीक, धातु विद्या एवं कृषि और व्यापार में अर्थात एक

वाक्य में कहें तो, ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्रों में उत्कृष्टता तथा श्रेष्ठता अर्जित की ।

वैदिक युग में सरस्वती और दृष्द्धती नदियों के बीच के भू-भाग को जैसे वेदाध्ययन का पीठस्थल माना जाता था, परवर्ती काल में मिथिला और नवद्वीप जिस तरह न्याय-शास्त्र के अध्ययन का केन्द्र था, पुरी और वृन्दावन दर्शन-शास्त्र के प्रचार का तीर्थस्थल था बैसे ही सराक बहुल यह सम्मेद शिखर अंचल भगवान ऋषभदेव द्वारा प्रवर्त्तित जैन धर्म का मुख्य तीर्थस्थल था । यही कारण है कि सम्मेद शिखर अंचल में युगों-युगों से तीर्थंकर तथा उनके अनुरागी भक्तगण अनगिनत संख्या में आते रहे हैं, सम्मेद शिखर की पवित्र मिट्टी में साधना और सिद्धिलाभ प्राप्त करते रहे हैं तथा ऋषभदेव द्वारा प्रवर्त्तित जैन धर्म का दर्शन तत्व चारो दिशाओं में प्रसारित करते रहे हैं । याद रखना होगा सम्मेद शिखर की पावन भूमि पर 20 तीर्थंकरों नें निर्वाण प्राप्त किया है ।

भगवान महावीर की जीवनी से भी हम जानते हैं कि उन्होंने ऋषभ-सन्तान इन सराकगणों के बीच अपनी साधनावस्था के अमूल्य छः बरस व्यतीत किये । सराक बहुल इन क्षेत्रों का भ्रमण करने के दौरान जब-जब किसी नीच दस्यु अथवा सामन्तों द्वारा आक्रान्त तथा बन्दी बनाया गया तब-तब सराक जाति के लोगों ने ही उन्हें मुक्ति दिलाई तथा उनकी रक्षा की ।

धातु युग के पूर्ववर्त्ती काल से ही ये सराक-गण धातु-विद्या के क्षेत्र में अत्यन्त ही उन्नत और पारदर्शी थे । सिंहभूम अंचलों के परित्यक्त ताम्र खादान उनके इन प्रमाणों को पुष्ट करते हैं । इसी के फलस्वरूप उस समय ये आर्थिक रूप से काफी सम्पन्न थे । इसी भौतिक समृद्धि के कारण ही उनके पक्ष में कई हितकर कार्य करना सम्भव हुआ जैसे-मंदिरों और तीर्थंकरों की मूर्तियों का निर्माण, कुण्ड अथवा कूप खनन आदि । इन अंचलों में पाये जाने वाले जैन मंदिरों तथा मूर्त्तियों की प्रचुरता, कुप और कुण्ड उसी के प्रमाण देते हैं । दो मुहानी बाजार से जाम ग्राम जाने के रास्ते में नेमिनाथ के नाम से उत्सर्ग किया गया एक कुण्ड भी उनके कई प्रमाणों में से एक है ।

धातु शिल्प के ऊपर एकाधिकार के कारण उस युग की सम्पूर्ण अर्थ-व्यवस्था को सराक जाति ने अपनी मुट्ठी में कर लिया था एवं स्वाभाविक तौर पर यह बात दूसरों के लिए ईर्ष्या का कारण थी । सम्भवत यही कारण

था कि परवर्ती काल में छोटा नागपुर की 'हो' जाति ने ताम्र खदानों पर से इनके अधिकार को छीन लेने की चेष्टा की । सम्राट अशोक का कलिंग पर आक्रमण भी सम्भवतः इसी ताम्र शिल्प को अपने अधिकार में करने के लिए ही हुआ था ।

केवल ताम्र युग के प्रवर्तक ही नहीं बल्कि मगध के पूर्वांचल में लौह-युग के स्रष्टा भी यह सराक जाति ही है । राढ़ अंचल में वैज्ञानिक तरीके से इन्होंने प्रचुर परिमाण में लौह निष्कासन और विनियोग भी किया । जाम ग्राम को केन्द्र बनाकार अजय नदी के दोनों कुलवर्त्ती क्षेत्रों में रूपनारायणपुर से पाण्डेश्वर तक लम्बे तीस मील के अंचल में पर्वताकार उत्सर्जित लौह चूर्ण (लाख-लाख टन) तथा भग्नावस्था में पड़े हुए लौह-अयस्क गलाने की भट्ठियाँ आज भी इनके लौह शिल्प की विशालता का प्रमाण देती हैं ।

सराक जाति इस देश के लौह शिल्प की कर्त्ता-धर्ता थी, इस बात का प्रमाण भगवान महावीर के परवर्त्ती जैन साहित्य में है जहाँ तीन लौहाचार्यों के साक्षात्कार मिलते हैं ।

प्रथम लौहाचार्य भगवान महावीर के शिष्य सुधर्मा थे, जो कोल्लाक के निकट के निवासी थे, जो इसी क्षेत्र में पड़ता है । शायद वे लौह-शिल्पियों के पंडित थे, या फिर लौह-शिल्पियों के आचार्य ।

दूसरे लौहाचार्य कल्पसूत्रकार भद्रबाहु थे । उनका गोत्र बहुत पुराना था । आखिर ऋषभदेव के गोत्र से प्राचीन और कौन सा गोत्र हो सकता है । केवल ऋषभदेव गोत्र को ही घुमा फिरा कर प्राचीन गोत्र कहा गया है। अत! भद्रबाहु भी इसी अंचल के निवासी थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है । भद्रबाहु के जन्मस्थान को लेकर कई मत हैं । कइयों ने उन्हें पुण्ड्रवर्द्धन का बताया है । फिर भी पुण्डवर्द्धन को लेकर इतिहासकारों में काफी मतभेद है । कहीं-कहीं उन्हें कोटि वर्ष का भी कहा गया है । लेकिन इतिहासकार डॉ॰ रमेशचन्द्र मजुमदार (History of Bengal, Vol. PP409.10) एवं देव प्रसाद घोष (Traces of Jainism in Bengal, Jain Journal, Vol-XVIII, No-4, April 1984) ने भद्रबाहु को राढ़ का निवासी बताया है । ऋषभदेव या आदिदेव गोत्र एकमात्र इन सराकों में ही मिलता है ।

तीसरे लौहाचार्य कुमान सेन थे । इनको जैन शास्त्रों में अवश्य ही हेय प्रमाणित किया गया है और उन्हें जैनाभाषी कहा गया है । वे मूल संघ से

बहिष्कृत किए गए थे एवं बहिष्कृत होकर उन्होंने काष्ट संघ की स्थापना की थी । जिस गाँव के नाम पर उन्होंने काष्ट संघ की प्रतिष्ठा की थी, वह गाँव कास्ताजाम गाँव के उत्तर में अजय नदी के किनारे आज भी मौजूद है । अतः हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि लौहाचार्य कुमान सेन इसी सराक बहुल अंचल के निवासी थे ।

कोई-कोई लौहाचार्य लौह की तरह शक्तिशाली और नीतिप्रज्ञ थे । किन्तु जैन संघ से बहिष्कृत कुमान सेन के लिए 'लौहाचार्य' का प्रयोग जैन शास्त्र में नहीं हो सकता । चूंकि ये तीनों लौहाचार्य इसी अंचल के थे, इसीलिए जोर देकर यहं कहा जा सकता है कि ये तीनों सराक जाति के ही थे ।

दूसरी तरफ लौह धातु निष्कासन के मामले में संगठित रूप से एक विशिष्ट भूमिका के साथ सराकगणों ने भारतवर्ष को धातु शिल्प के क्षेत्र में गौरव प्रदान किया ।

मानव जाति की इस उन्नत शाखा ने इस अंचल में उपनिवेश स्थापित कर आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को काफी विकसित किया था । ये कितने वर्षों पूर्व यहाँ आए थे और इनकी जाति क्या थी ? इस बारे में पाश्चात्य विद्धानों का मानना है कि ये आर्य जाति के ही लोग थे । अवश्य ही अब तक सराक जाति से संबंधित किसी पुरातात्विक अनुसंधान का पता हमें नहीं मिला है । किन्तु सराक जाति का आगमन इस अंचल में कब हुआ था इसका उल्लेख उन लोगों ने नहीं किया है ।

सराक जाति ने किस समय यहाँ आकर उपनिवेश स्थापित किया यह जानने के लिए हमें बहुत पीछे सिंहभूम अंचल के ताम्र युग के प्रारम्भिक काल तक जाना होगा । इसका कारण यह है कि सिंहभूम अंचल के ताम्र युग की सृष्टा यह सराक जाति ही है । यह बात प्रायः 1500 ई पूर्व की है । और इस ताम्र युग की उत्पत्ति को जानने के लिए हमें और भी पीछे सिन्धु सभ्यता तक जाना होगा, जब भारत वर्ष में ताम्र युग का प्रथम आविर्भाव हुआ था। सिन्धु सभ्यता के लोगों ने बहुत पहले कभी पूर्व भारत में आकर यहाँ के सिंहभूम अंचल में ताम्र युग का सूत्रपात किया, इसमें कोई सन्देह नहीं । इस बात की काफी संभावना है कि सिन्धु सभ्यता जब नष्ट होनेलगी थी तभी ये जाति सिन्धुघाटी को छोड़कर पूर्व भारत की ओर आई थीं । यह घटना लगभग 1500 ई पूर्व की हो सकती है । लेकिन चूंकि सराक भी आर्यों के

अन्तर्गत की ही एक जाति है एवं वे सिन्धु जाति की वंशधर भी हैं, इसीलिए सिन्धु सभ्यता के निवासियों को भी आर्य जाति के अंतर्गत ही होना चाहिए।

कुछ इतिहासकारों ने जिनके पुरोधा विशॅप कणनवेल्स थे, भ्रम उत्पन्न करने के लिए या किसी और उद्देश्य से, सिन्धु सभ्यता के लोगों को द्रविड़ बताया है । इससे उन लोगों को मुख्यत दो सुविधाएँ होती हैं । प्रथम सिन्धु सभ्यता को ध्वंस करने का दायित्व आसानी से आर्यों पर डाला जा सकता है और द्वितीय- आर्य जाति को बर्बर, यायावर, नगर तथा शिल्प के प्रति विमुख बताकर आर्यों से संबन्धित प्राचीन वस्तुओं की खोज के दायित्व से उन्हें छुटकारा मिल सकता है । यद्यपि ऋग्वेद में आर्यों का नगर-निर्माण, स्थापत्य कला तथा विभिन्न शिल्प जिनमें धातु शिल्प और मूर्ति-निर्माण, जैसा कि स्वर्ण-मुद्रा पर अंकित इन्द्रमूर्ति, जलयानों का व्यवहार इत्यादि के अनेक उदाहरण मिलते हैं । सिन्धु सभ्यता के लोगों को द्रविड़ साबित करने के लिए उन लोगों ने जितने प्रमाण इकट्ठे किए हैं (उनमें बहुत सारे प्रमाण कल्पनिक हैं) उनमें अधिकांश मामलों में वैदिक साहित्य की उपेक्षा की गई है । लेख अधिक बड़ा और अप्रासांगिक न हो जाए, इसीलिए यहाँ एक छोटा सा उदाहरण देकर यह बताने की कोशिश होगी कि पुरातात्विक महत्व की वस्तुओं की किस प्रकार उपेक्षा की गई है । मोहन-जोदड़ो से प्राप्त सील मोहरों पर एक मूर्ति अंकित है, जिसके तीन मुख, दो सींग तथा मूर्ति के चारों ओर पशु विद्यमान हैं और मूर्ति के पूरे शरीर पर उर्ध्व- मुखी रेखाएँ बनी हुई हैं । इतिहासकार तथा पुरातत्ववेत्ता यह मानते हैं कि यह मूर्ति सिन्धु तथा द्रविड़ जातियों के पशुपति शिव की है क्योंकि आर्यों के प्राचीन साहित्य ऋग्वेद में पशुपति शिव का कहीं कोई उल्लेख नहीं है । लेकिन वास्तव में यह मूर्ति पशुपति शिव की नहीं बल्कि ऋग्वेद में वर्णित अग्निदेव की है । अग्नि की इस त्रिमूर्ति का वर्णन ऋग्वेद में इस प्रकार किया गया है (1-142-9)– अग्नि के तीन रूप क्रमशः भारती, ईला और सरस्वती हैं । अग्नि के अंग तीन प्रकार के हैं, स्थान तीन प्रकार के हैं तथा देवताओं के उदरपूर्ति हेतु तीन जीह्वा हैं । (3-26-8, 10-45-2, 10-46-6) अग्नि मूर्ति के सींगों के बारे में ऋग्वेद में कहा गया है—

"अग्नि देव वृषभन्याय सींग को तीक्ष्ण बनाकर मस्तक को कम्पित करते हैं तथा अग्नि, वृषभ के न्यायसींग के साथ युक्त हैं (8-60-3) अग्नि मूर्ति

पशु आकार के होने का कारण ऋग्वेद में बताया गया है—हे अग्नि ! संध्या बेला समस्त पशुगण आपके निकट एकत्रित होते हैं । (3-9-7) अग्नि समस्त देवताओं के कर्त्ता तथा पशु परिवृत है । (8-39-5) मूर्ति के पूरे शरीर में चिन्हित अग्निशिखा के प्रतीकों के संबंध में ऋग्वेद में कहा गया है कि अग्नि त्रिमूर्ति शिखाओं से आवृत्त हैं । (10-46-6)

इन आलोचनाओं के जरिए हम निश्चित तौर पर कह सकते हैं प्राचीन अग्नि उपासक सिन्धु जाति के लोग आर्य जाति के ही थे एवं इस सिन्धु सभ्यता के भग्नावशेष ऋग्वेद में वर्णित आर्यों के अंचलों में पाये गये हैं । इससे यह प्रमाणित होता है कि अग्नि उपासक सिन्धु जाति के लोग आर्य ही थे ।

ऋषभदेव का समय ठहरता है कल्पवृक्षकाल का अन्तिम भाग, जब वनों के वृक्ष इत्यादि से मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो रही थी। इसीलिए, ऋषभदेव ने मनुष्य जाति को छह प्रकार के कर्म करने का निर्देश दिया, जिसने मानव जाति को क्रमशः सुसभ्य जाति में परिणत किया । इस महान गोत्र-पिता ने मानव जाति को कृषि, शिल्प, व्यापार इत्यादि नाना विषयों की शिक्षा दी । उनके समय में ही लिपि का सृजन हुआ, कुम्हारों की चाक उन्हीं दिनों बनी, अग्नि का प्रयोग करना सीखा गया । कुछ शब्दों में कहें तो, उनके प्रयत्नों से ही प्राचीन मानव जाति ने नव पाषाण युग से धातु युग में प्रवेश किया । मानव सभ्यता का यह विकास, इस देश में सिन्धु सभ्यता के प्रथम चरण में ही हुआ । धीरे-धीरे सिन्धु जाति भारतवर्ष के दूसरे अंचलों में फैलती गई एवं कृषि, शिल्प और व्यापार की शुरूआत की। जलयान विशारद इस जाति का आगमन पूर्व भारत में समुद्र के रास्ते से हुआ हो यह भी संभव हो सकता है । आज के जाम ग्राम के पास अजय नदी के उत्तरी तट पर स्थित पहाड़पुर गाँव से सिन्धु सभ्यता कालीन एक मातृमूर्ति का मस्तक (लेखकों के पास सुरक्षित है) प्राप्त हुआ है, जिससे सिन्धु जातियों के इस अंचल में आगमन का प्रमाण मिलता है ।

चूंकि सराक जाति प्राचीन आर्यजाति के अन्तर्गत आती है, इसीलिए, इस जाति में ब्राह्मण तथा वैदिक सभ्यता का संकेत अवश्य ही मिलना चाहिए अथवा ब्राह्मण और वैदिक साहित्य में इनका उल्लेख अवश्य होना चाहिए । वास्तविकता भी यही है...पार्श्ववर्ती आर्य साहित्य श्रीमद्भागवत् के पंचम

स्कन्ध के चतुर्थ, पंचम और षष्ठम अध्यायों में भगवान ऋषभदेव की ईश्वरीय शक्ति, उनके अलौकिक योगेश्वर का वर्णन किया गया है और उन्हें ब्रह्मा से भी श्रेष्ठ बतलाया गया है। (5-5-20-27) अर्थात् सराक जाति के इस महान गोत्रपिता को परवर्ती आर्यों ने ईश्वर के रूप में स्वीकार किया है। अथर्वेद में भी ज्येष्ठ ब्रह्मा के रूप में जिनकी स्तुति की गई है वह ऋषभदेव के सिवा और कौन हो सकता है।

श्रीमद्भागवत में केवल ऋषभदेव के लिए ही तीन अध्याय समर्पित किये गये है, यही नहीं बल्कि ऋषभदेव के पुत्र भरत के लिए सात अध्याय, ऋषभदेव के पिता नाभि के लिए एक अध्याय, नाभि के पिता अग्निध्रेर के लिए एक अध्याय तथा अग्निध्रेर के पिता प्रियव्रत के लिए भी एक अध्याय उत्सर्ग किया गया है। श्रीमद्भागवत् (5-4-13) से हम जान सकते हैं कि भगवान ऋषभदेव के सौ पुत्रों में 81 पुत्र ब्राह्मण हुए थे। ऐसा ही अगर हो, तो ऋषभदेव के बंशजों मे यज्ञोपवित धारण करने की प्रथा विद्यमान रही होगी। सिंहभूम अंचल में अभी भी यज्ञोपवित धारी वर्तमान सराक जाति हैं, जो दूसरे सराकों के श्राद्ध, विवाह आदि कर्मों में पौरोहित्य करते हैं। एवं कृषि–व्यापार आदि कोई कार्य नही करते। इसके सिवा भी कुसुंडिका होमयज्ञ सराकों के विवाहों में आयोजित किए जाते हैं, जो यहाँ के ब्राह्मणों में अभी भी प्रचलित हैं। दूसरे वर्णों के विवाह में इस तरह के अनुष्ठानों का कोई प्रचलन नहीं है। इससे यह प्रमाणित होता है कि सराकगण किसी समय ब्राह्मण रहे होंगे।

इस प्रसंग में एक बात कहना आवश्यक है कि जैन और ब्राह्मण मतावलम्बियों में किसी भी काल में कोई विशेष जातिगत भेद नहीं था एवं अभी भी नहीं है। एक ही परिवार में दोनों धर्मों के लोग मिल जाते हैं। इससे यह कहा जा सकता है कि सराक वैदिक आर्य वंशों से संबंधित हैं।

सराक शब्द का साधारण अर्थ होता है श्रावक अर्थात् श्रमणकारी। पाश्चात्य पण्डितों नें ही सर्वप्रथम इस अर्थ को प्रचलित किया। यद्यपि पूरे विश्व में एवं हमारे देश में भी प्रागैतिहासिक युग से ही अधिकांश जातियों के नाम उस जाति के जातिगत पेशे और उसके आदिभूमि के आधार पर रखे गए हैं। इस दृष्टि से भी हम देख सकते है कि सराक, सराग, सराकी, सरापी तथा सरोगी आदि शब्द सर + आग या सर + आगी से आए हैं। सर

शब्द का अर्थ होता है निसृत होना एवं आगि अथवा आगी का अर्थ होता है अग्नि । अतएव सराग व सरागी शब्दों का अर्थ हे अग्नि से निसृत अथवा जो अग्नि से कुछ निसृत कराते हैं ।

नव पाषाण युग के अन्तिम समय तक मनुष्य यही जानता था कि अग्नि सब कुछ ध्वंस कर देती है । पर अचानक ही आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि ऋषभ पुत्रगणों ने अग्नि से ध्वंस हुए मलवों से कुछ महामूल्यवान पदार्थ निसृत किये । इसीलिए, शायद इन्हें सराग कहा गया हो । सरागी अथवा अग्निपुत्र के रूप में आर्य जाति श्रेष्ठ सम्मान से विभूषित हुई ।

❖❖❖

"The Jains have written great master pieces only for the benifit of the world.

— डा. हर्टल

"यदि आज मानवता को बचाना है तो महावीर के बताए हुए रास्ते के बिना दूसरा कोई रास्ता नहीं ।"

— भूतपूर्व राष्ट्रपति राधाकृष्णन्

सीमान्त बंगाल की सराक संस्कृति

श्री युधिष्ठिर माजी

पश्चिमी बंगाल के पुरूलिया जिले को यदि उत्तर-दक्षिण दो भागों में बाँट दिया जाए तो हम देखेंगे कि दक्षिण के बाघमुण्डि, बलरामपुर एवं झालदा अंचल में जिस प्रकार माहात सम्प्रदाय का प्राधान्य है ठीक उसी प्रकार उत्तरी खंण्ड में काशीपुर, रघुनाथपुर, पाड़ा, हूड़ा, नेतूरिया आदि में सराक सम्प्रदाय का प्राधान्य है । सराक सम्प्रदाय के मनुष्यों के विषय में विशेष अनुसन्धान के अभाव में पश्चिम बंगाल के विद्वानों के मन में कुछ भूल धारणा निर्मित हो गई है । अनेकों का मत है कि सराक जाति के मनुष्य किसी-किसी अंचल में बिखरे हुए है एवं इनकी संख्या अत्यन्त अल्प है । किन्तु इनकी संख्या अल्प नहीं है, कहना होगा, पंचकोट अंचल में तो उन्हीं की संख्या अधिक है । उपयुक्त शिक्षा-दीक्षा एवं सम्प्रदायगत एकता के अभाव में इस समाज के लोग वृहत्तर समाज के लोगों की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर पाए, नहीं तो इनका जो इतिहास है वह पुरूलिया जिले के अन्य किसी मानव गोष्ठी का नहीं है ।

सराक सम्प्रदायी इस अंचल के आदि वासिन्दा हैं । ईसा पूर्व ५०० से ६०० वर्ष पूर्व यही मानभूम अंचल एक विशाल अरण्य भूमि था । कोल, भील, संथाल जाति के अलावा अन्य कोई सभ्य मनुष्य जाति यहाँ नहीं पायी जाती थी । ये आदिवासी थे वज्र की भाँति कठोर एवं विपदजनक । यही कारण था कि इन आदिवासियों को वज्र भूमिज कहा जाता था ।

इसी समय जैन धर्म के प्रचारकों ने इस अंचल में आकर एक नवीन सभ्य समाज संरचना की चेष्टा की थी । जैन धर्मावलम्बी इस सम्प्रदाय के मनुष्यों को सूधी भूमिज कहा जाता था । इस सूधी भूमिज सम्प्रदाय के मनुष्य ही इस अंचल में सराक नाम से परिचित हुए । सराक शब्द आया है श्रावक शब्द से । इसका अर्थ है श्रोता । वैदिक युग के ऋषियों ने जिस प्रकार अनार्यों को हटाकर सरस्वती नदी के तटवर्ती अंचल में एक नवीन सभ्यता

को प्रज्ज्वलित किया, ठीक उसी प्रकार सराकों ने भी यहाँ के वनों को काटकर मन्दिर निर्माण कर इसे साधना भजन का एक पवित्र स्थान बना दिया था। मिस्टर डब्ल्यु० डब्ल्यु० हन्टर की भाषा में :

"The early Jain devotees, like the primitive Rishis of the Vedic period, went out and established hermitage in the jungles, which became the centre of a colony of Jain worshippers."

मेजर टिकेल ने भी कहा है — "Singhbhum passed into the hands of the Surawaks."

इस कथन की सत्यता स्वीकार की है मिस्टर वी० बाँल साहेब ने। प्राचीन काल में सिंहभूम अंचल ताम्रशिल्प में खूब उन्नत था। मिस्टर वी० बाँल एक समय ताम्बे की खान का अनुसन्धान कार्य कर रहे थे। सिंहभूम जिले का अनुसन्धान करते समय उन्होंने देखा कि सिंहभूम जिले में ताम्बे की अनेक खानों का निदर्शन है। पहाड़ों पर, धान्य खेतों में, मैदानों में उन्होंने बहुत ही प्राचीन ताम्बे की खानें पायीं जिसका विवरण उन्होंने अपनी *On the Ancient Copper Mines of Singbhum* नामक ग्रन्थ में लिपिबद्ध किया हैं। किन्तु कौन थे वे जिन्होंने इन खानों से ताम्र निकाल कर देश के ताम्रशिल्प को उन्नत किया ? इसका यथार्थ उत्तर दिया मिस्टर वी० बाँल ने स्वयं ही। वे लिखते हैं — "The more adventurous Saraks having alone penetrated the jungles where they were rewarded with the discovery of copper."

परवर्तीकाल में सराकगण मूर्त्तिशिल्प में दक्ष हो उठे। छड़रा, तेलकूपी, पाकविड़रा, देउलघाटा, दालमा, पवनपुर, वौराम, बलरामपुर प्रभृति अंचलों में मन्दिरों का निर्माण कर सराक संस्कृति की भित्ति को मजबूत बना डाला। इन सब स्थानों में सराकों के प्राचीन ऐतिह्य का निदर्शन आज भी पाया जाता है। ये मन्दिर पुरूलिया के एक गौरवमय दिनों का स्मरण करवा देते हैं। यही सोचकर मिस्टर कूपलैण्ड सराकों को 'archaic community' कहकर सम्बोधित करते हैं। देउलघाटा में सराकों के जो मन्दिर हैं उन्हें बहुत से लोग हिन्दू मन्दिर कहने की अपचेष्टा करते हैं। वे लोग मानभूम से सराक संस्कृति को समाप्त कर देना चाहते हैं। किन्तु इतिहास को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ के तीन मन्दिरों के विषय में मिस्टर डब्ल्यु० डब्ल्यु०

हन्टर कहते हैं – "These three temples are all of the same type and are no doubt correctly ascribed by the people to the Saraks."

इस अंचल की सराक संस्कृति का गतिपथ सहज नहीं था । सर्वप्रथम उन्हें आदिवासियों से युद्ध कर जंगलों को काटकर बस्तियाँ बसानी पड़ीं । परवर्त्ती काल अर्थात् सप्तम शताब्दी में ब्राह्मण्यवाद के धारक एवं वाहक सम्प्रदायों से जूझना पड़ा । ब्राह्मण सम्प्रदाय व कट्टर हिन्दू लोगों ने सराक संस्कृति को इस अंचल से मिटाने के लिए सराक विताड़ना का पवित्र कार्य प्रारम्भ कर दिया । जैन मन्दिरों से सराकों द्वारा प्रतिष्टित मूर्तियों को उठाकर हिन्दू देव-देवियों की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित कर दीं । इस कार्य में उन्होंने हिन्दू राजाओं का समर्थन प्राप्त किया । परिणामतः सराकों के एक बड़े अंश ने उड़ीसा के उदयगिरि-खण्डगिरि अंचलों में भागकर वहाँ बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया । मानभूम में भी अनेकों ने धर्म बदल लिया । यहाँ तक कि ब्राह्मण धर्म के भयंकर कोप से आक्रान्त होकर स्वयं को बचाने के लिए अपने को विभिन्न प्रकार की हीन आजीविका में नियुक्त करना पड़ा । सराकों की इस अवनति का वर्णन करते हुए सर हारबर्ट रिसले ने 'भारत का जनगण' नामक अपनी पुस्तक में लिखा हैं –

"They have split up into endogamous groups based partly on locality and partly on the fact that some of them have taken to the degraded occupation of weaving and they now form a Hindu caste of the ordinary type."

किन्तु, जिस जाति का इतिहास है वह जाति मरती नहीं है । सराकगण शिल्पी हैं । परिपार्श्विकता के दबाव से वस्त्र बुनने में आत्म-नियोग करने को वे बाध्य हुए थे, किन्तु बहुत कम समय में ही वे तांत वस्त्र के दक्ष शिल्पी बन गए । उस समय सराकगण मोटा कपड़ा या सूती बस्त्र नहीं बुनते थे, वे लोग नेत या पाट के वस्त्र बुनते थे । सराकगण मध्य युग के दक्ष वस्त्र शिल्पी थे, इसे स्वीकृत करते हुए कवि कंकण मुकुन्दराम चक्रवर्ती अपने 'चण्डी मंगल' में लिखते हैं –

सराक वसे गुजराटे जीव जन्तु नाहि काटे
सर्वकाल करे निरामिष ।
पाईया इनाम वाड़ी, बूने नेत पाट साड़ी
देखि वड़ वीरेर हरिष ॥

उस समय वस्त्र शिल्प की दक्षता दिखाकर बाड़ी (इनाम) पाने की योग्यता एकमात्र सराकों में ही थी । कट्टर ब्राह्मण लोग सराक वस्त्र शिल्पियों को अच्छी दृष्टि से नहीं देखते थे । वे लोग समय-समय पर सराकों को जुलाहा कहकर उपहास करते थे । इसी का निदर्शन 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' में पाया जाता है । सराकगण वस्त्र बुनने का कार्य करने लगे थे इसीलिए 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' के रचयिता ने उन्हें जुलाहा कहकर अभिहित किया । क्योंकि उस समय जुलाहे ही कपड़ा बुनते थे । लेकिन जुलाहों का कपड़ा मोटा अर्थात् खुंगार वस्त्र होता था । किन्तु सराकगण मोटा वस्त्र नहीं बुनते थे । वे लोग तसर शिल्पी थे । पाट और तसर के वस्त्र देश के बड़े-बड़े लोग पहनते थे । अतः 'ब्रह्म वैवर्त पुराण' का कथन भ्रममूलक है ।

लम्बे समय तक ब्राह्मण और कट्टर हिन्दू समाज के लोगों का अत्याचार सहन करने के फलस्वरूप सराक सम्प्रदाय के मनुष्यों में भूमिज राजाओं के अनुग्रह से निवास करने की एक प्रवणता आ गयी थी । कवि कंकण चण्डी के युग से वर्गी आगमन काल तक सराकगण विभिन्न राजाओं के आश्रय में निवास करते रहे । धलभूम में राजा मानसिंह के आश्रय में बहुत-सी सराक प्रजा निवास करती थी । राजा मानसिंह के साथ सराकों के सम्बन्ध खराब नहीं थे, फिर भी एक समय राजा मानसिंह के सराक परिवार की किसी एक लड़की के साथ अभद्र व्यवहार करने के कारण सराकगण उनसे विरक्त हो गए थे एवं प्रतिवाद स्वरूप दल के दल लोग सिंहभूम का परित्याग कर पांचेत अंचल में आकर बसने लगे । सराकों का एक इतिहास है । उनके रक्त में है सत् और निष्ठा के बीज । वे जिस प्रकार अन्याय करते नहीं हैं उसी प्रकार अन्याय को सहन भी नहीं कर पाते हैं । उपर्युक्त घटना सराकों की इसी मनः स्थिति को प्रकट करती है । इसी ऐतिहासिक घटना की सत्यता स्वीकार कर मिस्टर कुपलैण्ड लिखते हैं— "They (Saraks) first settled near Dhalbhum in the estate of a certain Man Raja. They subsequently moved in a body to Panchet in consequence of an outrage contemplated by Man Raja on a girl belonging to their caste."

धलभूम से भागकर आने के पश्चात् सराकगणों की यह शाखा पंचकोट के राजा के श्रद्धा पात्र रूप में परिणत हो गयी । यहां उनका नया जन्म

हुआ । अर्थात् उन्होंने जैन धर्म परित्याग कर हिन्दू धर्म ग्रहण कर लिया । वे भी अब हिन्दुओं की भाँति पदवी गोत्र एवं ब्राह्मण पुरोहित प्राप्त करने लगे ।

सराकों का जैन धर्म से हिन्दू धर्म में रूपान्तरित हो जाने के पीछे एक चौंका देने वाला इतिहास है । यह समय बंगाल में वर्गी आगमन काल था। उस समय काशीपुर के राजाओं की राजधानी पंचकोट पहाड़ की तलहटी में थी । वर्गी आक्रमण से विपर्यस्त राजपरिवार के किसी एक शिशु पुत्र को छिपाकर सराक समाज के किसी एक व्यक्ति ने उसके प्राण बचाए थे । फिर कुछ बड़ा होने पर राजपरिवार के इस बच्चे को उन्होंने पुनः लौटा दिया था। इसी के प्रतिदान में सराकों को भी हिन्दुओं कि भाँति मर्यादा और सम्मान प्राप्त हुआ । कृषि योग्य भूमि देकर राजपरिवार के लोगों ने सराकों को प्रगतिशील एवं दक्ष कृषकों में रूपान्तरित कर दिया । इस प्रसंग में मिस्टर कुपलैण्ड का कथन है—

"In Manbhum it is said they were not served by Brahmins of any kind until they were provided with a priest by a former Raja of Panchet as a reward for a service rendered to him by a Sarak who concealed him when his country was invaded by the Bargis i.e. the Marhathas."

सराक सम्प्रदायों की पद्वियाँ प्रायः राजाओं द्वारा प्रदत्त है जैसे माजी, मण्डल, नायक, पात्र, वैष्णव, सिंह आदि । उनके गोत्रों में कुछ गोत्र जैन तीर्थंकर के नामानुसार है एवं कुछ हिन्दुओं से आए है । शायद ये राजा द्वारा दिए गए है । सराकों के मध्य उल्लेख योग्य गोत्र हैं आदिदेव, ऋषिदेव, शाण्डिल्य, अनन्तदेव, भारद्वाज, गौतम एवं व्यास । गौतम और व्यास वीरभूम के सराक लोगों में अधिक प्रचलित हैं ।

परवर्त्ती काल में पंचकोट से आगत सराकगण चार भागों में विभक्त होकर स्थान-स्थान पर बिखर गए । जिन लोगों को पंचकोट के राजाओं ने जमीन आदि दी वे तो पंचकोट अंचल में ही रह गए एवं उन्हें पंचकोटिया कहा जाने लगा । जो लोग दामोदर नदी के उस पार वर्धमान जिले में चले गए, उन्हें नदी पारिया और जो वीरभूम चले गए उन्हें वीरभूमिय एवं जो राँची जिले के ताम्बे वाले परगना में चले गए वे कहलाए तामारीय । इसके

अतिरिक्त विष्णुपुर अंचल के जो सराकगण उस समय वस्त्र शिल्प में नियुक्त थे उन्हें कहा जाता था— 'सराकी तांती' । परवर्त्ती काल में सराकगण और भी कई भागों में विभक्त हो गए । इनमें अश्विनी, तांती, पात्र, उत्तरकूपी एवं मान्दारानी उल्लेख योग्य है । संथाल परगना के सराक लोगों को इस समय 'फूल सराकी', 'शिखरिया', 'कान्दाला' एवं 'सराकी तांती' कहा जाता है । सराकगण जाति की दृष्टि से तांती नहीं थे और न ही हिन्दू तांती सम्प्रदाय के साथ उनका कोई योग था । फिर भी जो सराकगण तांत शिल्प में नियुक्त थे उन्हें पेशागत कारण से सराकी तांती कहा जाता था । पांचेत अंचल के सराकगण तो एक लम्बे अर्से से ही कृषि कर्म में नियुक्त हैं ।

सराक संस्कृति कहने से जो कुछ समझा जाता है उसका यथार्थ निदर्शन है पांचेत अंचल में । यहाँ के सराकगणों ने खूब रक्षणशील होने के कारण प्राचीन सराक संस्कृति को अब भी बचा रखा है । इस बीसवीं शताब्दी में भी यहाँ के सराकों की जो विशिष्टताएँ सभी सम्प्रदायों के मनुष्यों को अपनी ओर आकृष्ट करती हैं वह निम्न हैं—

१. यहाँ के सराकगण पूर्णतः निरामिष भोजी हैं । सराक स्त्रियाँ भोजन बनाते समय काटा शब्द तक का भी व्यवहार नहीं करतीं ।

२. सराक समाज का कोई भी मनुष्य भिक्षा वृत्ति को नहीं अपनाता ।

३. स्वयं को नीच या मर्यादा रहित पेशे में नियुक्त नहीं करते ।

४. सराकों का कोई भी मनुष्य किसी भी प्रकार के घृणात्मक अपराध के लिए कभी कोर्ट से दण्डित नहीं हुआ । अर्थात् इन लोगों में अपराधियों की संख्या नितान्त अल्प या नहीं है बोलने से भी अत्युक्ति नहीं होगी ।

५. स्त्रियाँ खूब रक्षणशील होती हैं । किसी भी प्रकार से अन्य किसी जाति के घर खाद्य ग्रहण नहीं करती; न ही वहाँ रात व्यतीत करती हैं । इसके अतिरिक्त वे लोग चमड़े का जूता नहीं पहनतीं ।

एक लम्बे समय से इन्हीं पाँच विशेषताओं के कारण ये आकर्षणीय बने हुए हैं । विभिन्न समयों में बाहर से आनेवाले विभिन्न पण्डितों की रचनाओं में इन विशेषताओं का उल्लेख होने के कारण सराकों की सामाजिक मर्यादा बहुत बढ़ गयी है ।

१८६३ खृष्टाब्द में मिस्टर ई॰ टि॰ डाल्टन ने पुरूलिया का सराक प्रभावित

ग्राम झापड़ा का परिदर्शन किया । वे सराक समाज के मनुष्यों के आचार-आचरण, रीति-नीति एवं उनके व्यवहार पर मुग्ध होकर लिखते हैं — "They called themselves Saraks and they prided themselves on the fact that under our Government not one of their community had ever been convicted of a heinous crime."

उनकी बुद्धि वृत्तियों की प्रशंसा करते हुए वे आगे और लिखते हैं — "....who (saraks) struck me as having a very respectable and intelligent appearence."

सराकों ने अपने उन दिनों के ऐतिह्य को आज भी बना रखा है । वे एक सुश्रंखल जाति हैं । सराक कानून के अनुसार चलना पसन्द करते हैं । किसी भी कारण से किसी दिन भी उन्होंने सरकार के प्रति विद्रोह घोषित नहीं किया । मिस्टर डाल्टन का कथन है — "They are essentially a quiet and law-abiding community, living in peace among themselves and with their neighbours."

राजनीति एक घृण्य खेल है । अन्याय और मिथ्याचार किए बिना राजनीति नहीं की जा सकती । अतः वे राजनीति नहीं करते । मिथ्याचार नहीं, मनुष्य का निर्माण करना ही उनका धर्म है । यही कारण है कि उन्होंने शिक्षण कार्य ग्रहण किया है । पांचेत अंचल के स्कूलों में जो शिक्षक कार्य करते हैं उनमें अधिकांश सराक जाति के हैं ।

सराक स्त्रियों की रीति-नीति बतलाते समय सर हारबर्ट रिसले सराकों की रसोई घर का वर्णन करते हैं । उन्होंने सराकों की अहिंसा धर्म के प्रति निष्ठा और सत्यता के विषय में लिखा है — "There name is a variant of Sravaka (Sanskrit hearer), the designation of the Jain laity; they are strictly vegetarians never eating flesh and on so account taking life and if in preparing their food any mention is made of the word cutting the omen is deemed so disastrous that everything must be thrown away."

जो वस्तु रक्त-सी लाल होती है सराकगण वह वस्तु खाना पसन्द नहीं करते । लाल पुई, गाजर, लाल सीम आदि खाना उनमें निषेध है । इसके

अतिरिक्त कुकुरमुत्ता, डुमुर आदि पदार्थों को तो रसोई घर में ले जाना ही मना है । इस प्रसंग में एक सुन्दर कहावत प्रचलित है । लोकगीत के अंशरूप इस कहावत में कहा गया—

उमुर डुमुर पुडंग छाति,
तिन खायना सराक जाति ।

अर्थात् उमुर, डुमुर, पुडंग छाति यह तीन सराक जाति वाले नहीं खाते।

सराकों के सामाजिक उत्सवों एवं विवाहादि की रीति-नीति भी खूब विचित्र है । उनके विवाह अनुष्ठान में फूल शय्या एवं सुहाग रात्रि जैसी कोई रीति नहीं है । सम्भवतः विवाह के पश्चात भी वे लोग कुछ दिन वर-कन्या को दूर रखना चाहते हैं । यह समय पति-पत्नी के मिलन का प्रस्तुति काल है । इसीलिए इनके समाज में द्विरागमन (गौना) प्रथा खूब जनप्रिय है ।

विवाह के समय वर के मस्तक पर टोपर नहीं होता । उनके मस्तक पर पगड़ी और कागज का मोर (सेहरा) रहता है । विवाह के पहले दिन शरीर पर हल्दी व गन्ध द्रव्यादि लगाए जाते हैं । उस दिन वर के गृह में वर को एवं कन्यागृह में कन्या को, धान, दूब देकर आशीर्वाद देकर वर के हाथ में सरोता एवं कन्या के हाथ में कजलौटा (काजल रखने का पात्र) देते हैं । विवाह के दिन अर्थात् विवाह की रात्रि में केवल मात्र कन्या सम्प्रदान का कार्य ही अनुष्ठित होता है । दूसरे दिन वर और कन्या को विदा नहीं किया जाता । उस दिन वर कन्या के घर पर ही रहता है । उस दिन वर-कन्या का वन्दना का दिन होता है । कन्या पक्ष के सब बन्धु-बान्धव उस दिन वन्दना या बादानी अनुष्ठान में योग देते हैं । बादानी अनुष्ठान में वर-कन्या को सजाकर चँदोवा के नीचे बैठा देते है । कन्या की माँ या नानी माँ जैसी स्थानीय कोई महिला वर-कन्या को धान, दूब से वन्दना करती है । निमन्त्रित अतिथिवृन्द उसी समय अपना-अपना उपहार कन्या की माँ या नानी माँ को दे देते हैं । पहले इस दिन जलोत्सव मनाने की रीति थी । इस उत्सव में रंग खेला जाता था । अब यह अनुष्ठान प्रायः लुप्त हो गया है ।

दूसरे दिन सुबह वर-कन्या को विदा किया जाता है । वर-कन्या के वरगृह पहुंचते ही वहाँ भी उत्सव की धूम मच जाती है । पहले इस दिन भी जलोत्सव की रीति थी । इसके अतिरिक्त वर-कन्या के नृत्य का भी रिवाज

था । अब वर-कन्या का नृत्य भी नहीं होता है ।

इस उत्सव के दूसरे दिन वरगृह में वन्दना अनुष्ठान अनुष्ठित होता है । वरगृह के निमन्त्रित अतिथिवृन्द इस अनुष्ठान में योग देते हैं ।

अभी वर्तमान में सराक जाति के देवता हैं शिव । विवाह के समय आवश्यक रूप से शिव के नाम पर चन्दा देने की रीति है । इसके अतिरिक्त सामाजिक मिलन कार्य भी शिवमन्दिर के प्रांगण में किया जाता है । पुरूलिया जिले के रघुनाथपुर के समीप दापुनिया ग्राम में सराक समाज का शिव मन्दिर है । यह मन्दिर पत्थर का बना हुआ है । सामने एक छोटा पहाड़ और इसरा का तालाब है । इस तालाब के किनारे इसरा देवी का मन्दिर है। यहाँ सराकों के तीन महीने से लेकर छः महीने तक के बच्चे की मानता मानी हुई पूरी की जाती है, मन्दिर में पूजा देनी पड़ती है । यह स्थान प्रकृति का एक सुन्दर लीला क्षेत्र है । वृक्ष-वृक्ष पर अजस्त्र पक्षियों के घोंसले हैं । सराक लड़कियां प्रकृति के इस लीला क्षेत्र में कुछ घण्टे बिताकर जाती हैं ।

सराक स्त्रियों के धार्मिक एवं लोक उत्सवों में जिताष्टमी और भादू उत्सव बहुत धूमधाम से मनाया जाता है । जिताष्टमी भाद्रमास में मनायी जाती है । अ-बंगाली लड़कियाँ इस उत्सव को जिऊतिया या जीवित पुत्रिका कहती हैं । यह उत्सव जीमूतवाहन के व्रत से भी जुड़ा हुआ है । इस उत्सव में केश गूंथते समय सराक स्त्रियाँ आँवला वसाल नामक एक प्रकार का गन्ध द्रव्य व्यवहार करती है । यह आँवला हल्दी, मेथी एवं वसाल नामक एक प्रकार के गन्ध द्रव्य की जड़ मिलाकर बनायी जाती है । इसकी गन्ध खूब पवित्र होती है । पहले विवाह के समय इसी गन्ध द्रव्य से कन्या के केश बाँधे जाते थे । इसके अतिरिक्त गर्म मोंम ढालकर भी केश बाँधने की रीति थी । प्राचीन सराकों के विवाह की फड़दी देखने से पता चलता है कि इस समय मोंम और यही सब गन्ध द्रव्य प्रचुर परिमाण में खरीदा जाता था । वर्तमान में जिताष्ठमी के अतिरिक्त वर्ण हिन्दुओं के समस्त वार, व्रत और देवी-देवताओं के उत्सव सराक स्त्रियाँ मनाती हैं ।

युग-युग से सराक जाति के मनुष्य एक इतिहास की सृष्टि करते आ रहे हैं । वर्तमान में वे आत्म-विस्मृत हो गए हैं । फिर भी उनका इतिहास सृष्टि का कार्य समाप्त नहीं हुआ है । पुरूलिया के लोक साहित्य में सराक स्त्रियों का अवदान कम नहीं है । भादू पूजा के इतिहास के अतीत पृष्ठों को स्त्रियाँ

ही अब तक पोषण करती आ रहीं हैं ।

महाभारत रामायण से कहानियाँ लेकर रचित भादू गीत के जो खण्ड-खण्ड अंश विकृत अवस्था में विभिन्न लोक साहित्य में संकलित है उनके पूर्णाङ्ग और मार्जित रूप पाने के लिए सराक स्त्रियों के पास हमें जाना ही पड़ेगा । भादू उत्सव सराक स्त्रियों का एक धार्मिक व्रत उत्सव है । सराक स्त्रियों के भादू गान की जो बैठकें हैं वे इस अंचल के लोक-साहित्य के अड्डे हैं । इन सब लोक साहित्य की बैठकों में बहुत से कथामूलक भादू गान गाए जाते हैं । परन्तु इन बैठकों में पुरूषों का प्रवेश निषिद्ध रहता है । सराक स्त्रियों के कण्ठ से लिया भादू गान का 'माँ कल्याणीर घाट' गीत का कुछ अंश उद्धृत हैं—

चल चान करिते—
चालना दहे आलोर माला
पड़ेछे जे जलेसे ।
चल चान करिते....(धूया)
मा कल्याणी चान करिछेन गो
चालना दहेर घाटेते,
शंख बामून पार हइछेन
पसरा लये माथा ते ।
चल चान करिते....
कि वटे कि वटे वामून हे....
कि हे तोमार मस्तके ?
जाते आमरा शंख वामून,
शंख आच्छे माथा ते ।
चल चान करिते....
नामाओ शंख नामाओ शंख हे,
नामाओ चालनार घाटेते ।
जोडा शंख वाइछे पराओ
उचित मूल्य करिते ।
चल चान करिते....
दश पाँच नय माता गो,

एकई आमार कथाते,
परिवे तो पर मागो,
पंच टाका हथ दिते ।
चल चान करिते....

भादू वैसे बाऊरी लोगों का लोक उत्सव है । किन्तु, पुरूलिया के पाँचेत अंचल में सामान्य-सा अनुसंधान करने पर ही देखेंगे कि इस अंचल में सबसे ज्यादा धूमधाम से भादू उत्सव सराकों के घर पर ही अनुष्ठित होता है । सराक स्त्रियों ने एक ओर जिस प्रकार भादू के प्राचीन गीतों को आज भी बचा रखा है ठीक उसी प्रकार भादू की प्राचीन मूर्तियों को अक्षुण्ण रखने में भादू मूर्ति के शिल्पियों को प्रेरणा देते हैं । पाँचेत अंचल के रघुनाथपुर थाने के अन्तर्गत सराक प्रभावित ग्राम 'दूरमूट' के मृण्मयी मूर्ति बनाने वाले शिल्पीगण आज भी पुरानी रीति से भादू मूर्त्तियाँ निर्माण करते हैं । उनकी प्राचीन रीति से निर्मित इन मूर्त्तियों की सबसे अधिक खरीददार भी सराक स्त्रियाँ ही होती हैं । सराक स्त्रियों के लिए भादू एक पवित्र व्रत अनुष्ठान है इसलिए वे भादू मूर्ति में एक देवी भाव निहित रखना चाहती हैं । दूरमूट ग्राम के भादू-शिल्पी भी प्राचीन रीति से तैयार भादू-मूर्त्तियों को 'सराक्य भादू' कहते हैं ।

केवल मात्र सराकों के घर पर ही प्राचीन रीति से भादू पूजा होती है ऐसा नहीं है, इस अंचल में अनेक रक्षणशील ब्राह्मण एवं अन्यान्य उच्च सम्प्रदाय वालों के घर पर भी भादू पवित्र व्रत अनुष्ठान के रूप में ही अनुष्ठित होता है ।

बाऊरी या निम्न सम्प्रदायों की भादू पूजा में कोई विशेष वैशिष्ट्य नही देखा जाता, किन्तु सराक सम्प्रदायियों के घर पर भादू की सन्ध्या आरती होती है । जागरण के दिन सुबह-रात्रि में 'तोरूँ' की बलि दी जाती है । और समस्त रात्रि भादू के पांचाली जातीय प्राचीन गीत गाए जाते है । सराक स्त्रियाँ भादू की बैठकें फूलों से सजाती हैं । अजस्र शलूक फूलों से घर भर लेती हैं । भादू के पैरों तले माटी में नाक कटा (दो पाटी जातीय फूल), जवा आदि पुष्पों की पंखुड़ियों से फूल अल्पना बनाती है । फूल अल्पना बनाने में इनकी स्त्रियाँ बड़ी कुशलता प्रदर्शित करती हैं ।

ये लोग भादू की बैठक में टोकरी-टोकरी मिठाइयाँ भादू के पदतल में

रखती हैं । रंग-बिरंगे खाजा-गाजा भी रखती हैं । इन्हें कहते हैं भादू का 'शितल' अर्थात् भोग । इसके अतिरिक्त भादू की बैठक में दर्पण, कंघी, आलता, सिन्दूर, सुगन्धित तेल, इत्र, चन्दन, और आँवला वसाल भी रखती हैं । स्त्रियाँ भोर रात में गीत गाने के समय प्रसाधन के कार्य भी सम्पन्न कर लेती हैं ।

सराक समाज में स्त्रियों को पढ़ाने का रिवाज प्रायः नही है । अभी, हाल में कुछ-कुछ लड़कियाँ स्कूल कालेज में पढ़ने लगी हैं । पहले की स्त्रियाँ तो बिल्कुल ही लिखना-पढ़ना नहीं जानती थीं फिर भी सराक स्त्रियाँ भादू पूजा के बड़े-बड़े आख्यानमूलक गीत किस प्रकार कण्ठस्थ रखती हैं सोचने पर अवाक् ही होना पड़ता है । प्राचीन ऐतिह्य, वंशगत प्रतिभा और रक्षणशीलता ने सराक स्त्रियों को एक उन्नत प्रकार की मर्यादा प्रदान की है। तभी तो समाज, जाति, धर्म सब कुछ पतन की राह पर उतर जाने पर भी इनकी मानसिकता में कोई परिवर्तन नहीं आया । वे समृद्ध नहीं होने पर भी अपने गुणों के बल पर ही शैतानों का भी मन जीत सकती हैं । पर यह इनका दुर्भाग्य है कि देश की जनता ने इनको पहचानने की कोशिश नहीं की।

पहले ही कह चुका हूँ सराकों में कोई भिक्षावृत्ति का आचरण नही करता । फिर इनमें कोई प्रशासनिक दायित्व पर भी नहीं है । इनके समाज में डाक्टर, इंजीनियर, विचारक आदि उच्च पदाधिकारियों का बहुत अभाव है । अतः अर्थनैतिक दृष्टि से ये पिछड़े हुए हैं । पुरूलिया के सराकों में जैसे खेत मजदूर, मील मजदूर कम हैं वैसे ही डाक्टरों एवं विचारकों की संख्या भी नगण्य है । किन्तु, शिक्षक हैं । यहाँ के सराकगण अध्यापन कार्य को जीवन व्रत के रूप में ग्रहण करते हैं । इसके अतिरिक्त जिला के प्रगतिशील कृषक रूप में इनका बहुत नाम है ।

सराक समाज के शिल्प श्रमिक वर्धमान जिले में अधिक पाये जाते हैं यहाँ के सराकों की आर्थिक स्थिति भी अन्य सराकों की अपेक्षा अच्छी है । इस जिले के सराक परिवार के चालीस प्रतिशत से भी ज्यादा सदस्य दुर्गापुर आसनसोल के शिल्प अंचल और कोयले की खान में नौकरी करते हैं । दूसरी ओर बांकुड़ा में मात्र दस प्रतिशत और संथाल परगना में बाईस प्रतिशत लोगों ने नौकरी पेशा ग्रहण किया है । बांकुड़ा जिला और संथाल परगना के सराक लोगों की कृषि आय पूर्वापेक्षा कम हो गयी है । कृषि कार्य में बेकारी बढ़ जाने से पहले जो परिवार पीछे उत्पन्न धान्य का परिमाण

३० क्वीन्टल था वह आज कम होते हुए १८ क्वीन्टल रह गया है । जनसंख्या में वृद्धि हो जाने से प्रति व्यक्ति के हिसाब से जमीन का परिमाण भी कम हो गया है । यही कारण है कि यहां के सराकों में नौकरी करने की प्रवणता वढ़ रही है । में बाकुड़ा, वर्धमान और संथाल परगना के सराकों की जनसंख्या एवं उनकी आर्थिक अवस्था का एक परिसंख्यान नीचे दे रहा हूँ—

जिले का नाम	परिवार की संख्या	जनसंख्या	शिक्षितगण	प्रति व्यक्ति वार्षिक आय
वर्धमान	४११	४२०५	१३०२	५७१ रू.
बाँकुड़ा	६३२	७२१६	१६०४	३२६ रू.
संथाल परगना	२५४	२६८७	१०७४	४५१ रू.

परिसंख्यान को देखते हुए शिक्षितों की संख्या वर्धमान जिले में जैसे अच्छी है उसी प्रकार व्यक्ति पीछे आय भी अन्य जिले के सराकों से अधिक है । बाँकुड़ा के सराकों की आर्थिक अवस्था एकदम अच्छी नहीं है । बाँकुड़ा, वर्धमान और संथाल परगना में सराकों की जनसंख्या के ३५ प्रतिशत मनुष्य रहते हैं । पुरूलिया में पचास प्रतिशत और वीरभूम मेदिनीपुर एवं राँची –सिंहभूम अंचल में मात्र १५ प्रतिशत सराक रहते हैं । इन सब स्थानों के एक साधारण जिले के आधार पर जनसंख्या का परिसंख्यान देने की चेष्टा कर रहा हूँ—

जिले का नाम	पुरूष	नारी	शिशु	कुल
पुरूलिया (धनबाद का सामान्य अंचल सहित)	६९४४	५८२३	४७५५	१७५२२
बाँकुड़ा	२६९०	२१३५	२३९१	७२१६
वर्धमान	१५१४	१५७७	१११४	४२०५
संथाल परगना	९६१	७८५	९४१	२६८३
	१२१०६	१०३२०	९२०१	३१६३०
बीरभूम	—	—	—	१४६
मेदिनीपुर	—	—	—	४१६
राँची और सिंहभूम	—	—	—	३७८३
				कुल ३५९८१

१९६२ में एक सराक समाज के कुछ उत्साही युवकों ने गैर सरकारी रूप से सराक समाज की जनगणना का कार्य किया था । उनकी गणना के आधार पर कहा जा सकता है कि सराकों की कुल संख्या ३५९८१ हुई थी।

और एक लक्ष्यनीय विषय यह है कि वीरभूम और मेदिनीपुर जिले के सराकगण विलुप्त प्रायः हैं । इन सब स्थानों में अनेक सराक लोग अपना स्व-वैशिष्ट्य सुरक्षित नहीं रख सके । अनेक स्थानों में वे अन्य जातियों में मिल गए ।

वर्धमान जिले के सराकगण फिर से अपने अतीत इतिहास को स्मरण कर समाज को नवीन रूप से निर्माण करने की चेष्टा कर रहे हैं । इस जिले का 'पूँचड़ा' अतीत में जैनों का एक तीर्थ क्षेत्र था । इस स्थान का पूँचड़ा पंच चूड़ा नाम भी शायद मन्दिर के पाँच शिखरों के कारण पड़ा है । लगता है पूँचड़ा नाम के साथ जैनों के पंचस्तूपी सम्प्रदाय का भी कुछ योग है । पूँचड़ा में तीर्थंकरों की कुछ प्रतिमाएँ एवं कुछ रहस्यमय स्थापत्य के अंश उनका नीरव एतिह्य लिए आज भी बचे हुए हैं ।

जैनों के तथा सराकों के शिल्प कला युक्त मन्दिरों को बचाने का दायित्व आज सरकार का है । पुरूलिया जिले के बहुत से मन्दिर आज लुप्त प्रायः हैं। एक ऐतिह्य मण्डित जाति की प्राचीन संस्कृति आज ध्वंस हो रही है । इन सबकी रक्षा का भार अब देश की जनप्रिय सरकार को ही लेना होगा ।

जिस जाति का इतिहास है वह जाति कभी नहीं मरती । अतीत के शत-शत अत्याचारों, अविचारों को सहन करते हुए भी सराकगण अपने मन्दिरों की भाँति ही आज भी टिके हुए हैं । आशा करता हूँ सराकों की आत्मविस्मृति का अन्धकार कट जाएगा । वे पुनः अतीत के आलोक से पथ देखकर अपनी सुरक्षा का पथ खोज पाएँगे ।

जिन ग्रन्थों से सहायता ली है :

1. Statistical Account of the District of Manbhum–W.W. Hunter.
2. On the Ancient Copper Miners of Singhbhum (Geological Survey of India)– V. Ball.
3. Statistical Account of the District of Manbhum– W.W. Hunter.
4. The People of India– Sir Herbert Risley (London, 1935 pp. 77-78.

5. Gazetter of Manbhum District– Mr. G. Coupland.
6. Notes on a Tour in Manbhum in 1864-65– Lt. Col. E.T. Dalton.
7. Gazetter of Singhbhum District– L.S.S.O. Malley.
8. चण्डी मंगल– मुकुन्द राम चक्रवर्ती ।
9. ब्रह्म वैवर्त पुराण ।

❖❖❖

"अहिंसा का सबसे अधिक विवरण महावीर ने प्रस्तुत किया है ।"

— राष्ट्रपिता महात्मा गांधी

"मेरी एक ही भावना हैं कि मर कर किसी जैन-वंश मे जन्म लूं ।"

— जार्ज बरनार्ड शा

रूपम्

[सराक संस्कृति मूलक कथानक]

श्री युधिष्ठिर माजी

तो क्या आप रूपम को पहचानते थे ?

भला उसे कौन नहीं पहचानता ? रूपमती, रूपम् ! सीमा नहीं थी उसके रूप की । सुवर्णरेखा के जल में स्नान कर भींगे केशों से जब वह घर लौटती तो उसका रूप जैसे चू पड़ता । वह लड़की नहीं मानो सुवर्णरेखा से निकली सुवर्ण कन्या थी ।

सुवर्णरेखा के दोनों ओर था घना वन । तरू-पत्रों की मर्मर ध्वनि से दिनरात ध्वनित । जितना ही प्राचीन उतना ही गहन । ऊँचे-ऊँचे शाल और महुआ के वृक्षों की देह पर थी उम्र की स्पष्ट छाप । शान्त था वन-तल । समीर में थी महुए की गन्ध । झरेपत्रों से आच्छादित था धरती का तन ।

उस दिन उसी राह से घर लौट रही थी रूपम् । सम्मुख की सुन्दर वन-स्थली रूपम् की देह पर जैसे झुकी जा रही थी । भींगे केश और भींगी साड़ी से झरते हुए जल को पान करने के लिए तृषित धरती का वक्ष फैला जा रहा था । पद्चाप से खड़-खड़ करते पथ पर तृण-पत्र मानो सिहरित हो रहे थे । रूपम् के लावण्यमय अंगों से लिपटी साड़ी जैसे उसके अंगों में ही खोयी जा रही थी ।

इसी पथ पर उसदिन सर्वप्रथम उसे देखा था राजा मानसिंह ने । जो कि धलभूम के ख्यातिप्राप्त राजा थे । मानसिंह सोच भी नहीं सकते थे कि उनके राज्य में रूपम्-सी रूपवती लड़की भी है । वे घोड़े से नीचे उतरे । रूपम् के निकट जाकर मुस्कुराते हुए बोले— "क्या नाम है तुम्हारा ?"

"रूपम्" । जबाब दिया रूपम् ने ।

"वाह ! बड़ा सुन्दर है नाम तो ! लगता है तुम सराक कन्या हो ?"

"हाँ ।"

"तुम्हारे पिता जी का नाम ?"

"भीरम् ।"

"भीरम् !"

बहुत परिचित मनुष्य हैं भीरम् । मानसिंह उन्हें खूब अच्छी तरह जानते हैं । साथ ही सम्माननीय भी हैं वे । मानसिंह ने फिर खूब गौर से देखा रूपम् को । रूपम् हँसी किन्तु बोली कुछ नहीं । हँसती-हँसती ही आगे बढ़ गयी ।

रूपम् के जाते ही राजा की दृष्टि पड़ी सुवर्णरेखा के तट पर । दूर से ही दिखायी पड़ रही थी सुन्दरी सुवर्णरेखा । तट के शाल महुआ के अविन्यस्त वृक्ष जैसे झुके जा रहे थे नदी की लहरों पर । पेड़-पौधों के मध्य से दिखायी पड़ रहा था सरिता सुन्दरी का रूपहला वक्ष स्थल । मन्द-मन्द प्रवाहित था महुए का गन्ध भरा समीर । जिसके वेग में नदी का वह सुन्दर वक्ष कहीं-कहीं अनावृत्त-सा हो जाता था ।

प्रकृति के इस मनोहर वातावरण में मानसिंह उद्दीप्त हो गए । रूपम् को देखने की आकांक्षा प्रबल हो उठी । उन्होंने तुरन्त घोड़े को ऐड़ लगायी । किन्तु रूपम् कहीं दिखाई नहीं पडी । आखिरकार भीरम् के घर की ओर रवाना हुए । जाते ही मिली लास्यमयी किशोरी रूपम् । उसकी खुली केश-राशि रूपान्तरित हो गयी थी जूड़े में । जूड़े के चारों ओर लगे फूल छोटे मुकुट से प्रतीत होते थे । उसके इस रूप को देखकर और अधिक मुग्ध हो गए राजा मानसिंह । कैसे मुग्ध नहीं होते ? अठारह वर्षोया उस सुन्दरी को देखकर भला कौन मुग्ध हुए बिना रह सकता था । राजा मानसिंह ने रूपम् से बातचीत प्रारम्भ की । रूपम् भी निःसंकोच उनसे बातें करने लगी । तभी आ गए रूपम् के पिता भीरम् । बड़े प्रसन्न हुए वे राजा मानसिंह को देखकर । अब तीनों में वार्तालाप होने लगा ।

किन्तु राजा मानसिंह जो कुछ कहना चाहते थे वह कह नहीं सके । घर के सामने ही घोड़ा खड़ा था । उन्होंने उनसे विदा माँगी । भीरम् ने राजा की शुभ यात्रा की कामना की ।

रूपम् घोड़े तक राजा को पहुँचाने गयी । राजा घोड़े पर चढ़कर अदृश्य हो गए । जाते समय रूपम् से कह गए—"फिर मिलना होगा ।"

राजा मानसिंह के जाने के कुछ क्षणों बाद ही अचानक मिला सुवर्णम् । सुवर्णम् सराक था । एक अच्छा मूर्तिकार, एक उत्तम शिल्पी । सुवर्णम् के कोमल हाथों से पाषाणों में भी जीवंत हो रहे थे महान तीर्थंकर महावीर । शायद

सुवर्णम् पाषाण में सोए हुए अहिंसा के महान् साधक को जागृत करना चाहता था ।

रूपम् देखते ही बोली— "जानते हो आज हमारे घर राजा मानसिंह आए थे ।"

"क्या अपराध कर डाला था तुम लोंगों ने ?"

"तो क्या राजा का आगमन अपराध करने पर ही होता है ?"

"और क्या ! दुर्भाग्य के बिना उनका दर्शन नहीं होता ।"

"किन्तु राजा मानसिंह तो कह रहे थे..."

"क्या कह रहे थे ?"

"यही कि मैं उन्हें बहुत अच्छी लगी ।"

"तब तो फिर माला गूँथ कर उनकी प्रतीक्षा करो ।"

"तो क्या ऐसी आवश्यकता पड़ने पर तुम मुझे माला गूँथ दोगे ?"

"गूँथ दूँगा, किन्तु वह माला होगी पाषाण की । क्या तुम नहीं जानती मेरा कार्य्य पाषाण से ही जुड़ा हुआ है ?"

ऐसा कहकर आगे बढ़ गया सुवर्णम् । रूपम् बोली— "सुनो ।"

"देखो रूपम् ! अभी सुनने का समय मेरे पास नहीं है । मुझे कार्य पर जाने दो ।"

विहँस पड़ी रूपम् । सोचने लगी— पाषाणों से क्या करता है यह । लगता है पाषाणों को जीवंत करेगा । खिन्न मन से घर लौट गयी रूपम् ।

जिस दिन से देखा था राजा मानसिंह ने रूपम् को उसी दिन से ही उनके हृदय में एक विशिष्ट सुखानुभूति जाग पड़ी थी । जितनी ही दीर्घ थी वह अनुभूति उतनी ही थी गंभीर ।

उस दिन भी स्नान कर लौट रही थी रूपम् । राह पर झुके हुए तरूपल्लव जैसे उसके अरूण कपोलों को चूम रहे थे । हवा बोझिल हो रही थी महुआ के फूलों की मदिर गन्ध से । अचानक उसे लगा न जाने कौन उसका आँचल खींच रहा है । मुड़ते ही पाया राजा मानसिंह को । उसका हृदय धड़कने लगा । समस्त देह भय से इस भाँति सिहरित हो उठी जैसी न कभी दुःख में हुई न सुख में । उसे सुवर्णम् स्मरण हो आया । उसने तो कभी भी ऐसी हर-कत नहीं की । राजा रूपम् के चिबुक का स्पर्श करते हुए बोले— "रूपम्" ।

रूपम् भींगी साड़ी को ठीक करते हुए बोली— "कुछ कहना है ?"

"हाँ ।"

"तब चलिए मेरे घर । पथ पर थोड़े ही बात हो सकती है ?"

"क्यों नहीं हो सकती ? पथ पर ही तो अधिक सुयोग रहता है ?"

कठोर हो गयी रूपम् । उसने रूक्ष शब्दों में कहा— "जहाँ सुयोग होता है वहाँ दुर्योग का प्रश्न भी तो जुड़ा रहता है । रूपम् ऐसी जगह बात नहीं करती ।"

"रूपम् बात करेगी यही सोचकर मैं खड़ा हूँ ।"

रूपम् का कोमल मुख और कठोर हो गया । उसने सख्त स्वर में कहा— "सुवर्णम् निर्मित्त पाषाण मूर्त्ति के मुख में क्या शब्द प्रस्फुटित कर सकते हैं राजा मानसिंह ? नहीं कर सकते ।" कहती हुई पथ पर अग्रसर हो गयी रूपम् ।

हताश मानसिंह घोड़े पर चढ़े और ऐड़ लगायी । घोड़ा प्राणप्रण से दौड़ पड़ा राजमहल की ओर ।

दूर खडे सुवर्णम ने सब कुछ देख लिया था । देखा—राजा मानसिंह पेड़-पौधों की आड़ में खड़े होकर रूपम् से बातचीत कर रहे हैं । रूपम् ने भी उसी समय सुवर्णम को देख लिया था ।

इसीलिए घर आकर रूपम् ने सोचा सुवर्णम् स्वयं ही इस विषय में कुछ कहेगा । किन्तु सुवर्णम् ने कुछ नहीं कहा । अतः विक्षुण्ण मन से रूपम् ने ही कहा— *"तुम तो खड़े-खड़े मजा ले रहे थे यदि कोई खराब घटना घट जाए तो ?"*

फीकी हँसी हँसते हुए सुवर्णम् बोला— "घटने लायक कुछ हुआ था क्या ?"

"होने में देर कितनी लगती है ?"

"तभी तो मैंने कहा था राजाओं के साथ आत्मीयता अच्छी नहीं होती ।" कहता हुआ सुवर्णम् अपने काम पर चला गया ।

रूपम् ने पीछे से पुकारा— "सुनो ।"

किन्तु वह आवाज सुवर्णम् के कानों में नहीं पहुँची ।

दूसरे दिन भी सुवर्णरेखा के तट पर पुनः मिले राजा मानसिंह । घोड़े से उतर कर उन्होंने पुकारा— "रूपम् !"

रूपम् ने पीछे मुड़कर देखा । बोली— "कहा था न, रूपम् रास्ते में खड़ी होकर पर पुरूष से बात नहीं करती ।"

"पर पुरूष क्यों कह रही हो ? मैं राजा हूँ, हो सकता है तुम एक दिन मेरी रानी बन जाओ ।"

"सराक कन्या भिन्न जाति वाले के घर कभी रानी बनकर नहीं जाती ।"

"राजा मान भिन्न जाति का होने पर भी राजा है ।"

"मैंने कब अस्वीकार किया । फिर भी आशा करती हूँ राजा मान अपने सम्मान को अक्षुण्ण रखेंगे ।"

तभी हठात् न जाने कैसे राजा मानसिंह ने रूपम् को कसकर पकड़ा और जबर्दस्ती घोड़े पर बैठाकर घोड़ा राजमहल की ओर दौड़ा दिया ।

उन दिनों उनकी प्रजा में सराकों का बड़ा नाम था । एक समय उनके पूर्वजो ने मानभूम और सिंहभूम पर शासन किया था ।

अतः राजा मानसिंह के इस दुर्व्यवहार से वे क्षिप्त हो उठे । प्रतिवाद कर अनेक तो राज्य छोड़कर ही जाने लगे । भीरम् सराक आए राजा मानसिंह के पास । उन्होंने लड़की को लौटाने के लिए कहा । राजा मानसिंह भीरम् सराक का स्वागत करते हुए बोले— "मैं आपकी कन्या से विवाह करना चाहता हूँ ।"

"यह नहीं हो सकता राजन् ।"

"क्यों नहीं हो सकता ?"

"भीरम् सराक किसी अन्य जाति को अपनी कन्या नहीं दे सकता ।"

"अन्य जाति का हूँ तो क्या, हूँ तो आखिर राजा ।"

कोई प्रत्युत्तर नहीं मिला अतः उन्होंने पुनः प्रश्न किया— "तो क्या यह आपका आखिरी निर्णय है ?"

"हाँ राजन् !"

"तो फिर समझिए मैं रूपम् को नहीं लौटाऊँगा ।"

खाली हाथों घर लौटे भीरम् । सराक जाति के सभी लोगों ने इसका कड़ा विरोध किया । वे दल के दल राजा मानसिंह के राज्य घलभूम को छोड़कर पंचकोट राज्य में जाने लगे । ग्राम खाली होने लगा । जनपद शून्य हो गया । अन्ततः सराक प्रजा के राज्य-त्याग को रोकने के लिए राजा मानसिंह रूपम् को लौटाने के लिए वाध्य हुए ।

मुक्त होते ही रूपम् सुवर्णम् के पास पहुँची। सुवर्णम् सुवर्णरेखा के तट पर तल्लीन बना एक पाषाण खण्ड पर छेनी चला रहा था। रूपम् ने पीछे से पुकारा— "सुवर्णम् !"

उदास दृष्टि से देखा सुवर्णम् ने। बोला— "अभी बहुत देर है। एक न एक दिन मेरे हाथों से अहिंसा धर्म के साधक पुरूष की प्राण प्रतिष्ठा होकर रहेगी।"

दाँतों से होंठ काटकर रूपम् बोली— "होता रहे वह। जानते हो राजा मुझे पकड़ कर अपने राजमहल में ले गए थे ? वहाँ मुझपर क्या बीती क्या तुम यह सब जानना नहीं चाहते सुवर्णम् ?"

"क्या होगा जानकर।"

"एक तुम्ही ऐसे हो जो निश्चिन्तमना बने कार्य कर रहे हो। अन्य तो सभी इसका विरोधकर भाग रहे हैं यहाँ से।"

"उनको कोई काम नहीं है इसीलिए भाग रहे हैं।"

"सुवर्णम् !"

"मुझे अभी बहुत काम करना है, तुम अब जाओ रूपम्।"

"तब ठीक है सुवर्णम् ! मैं जा रही हूँ।"

रूपम् नदी के किनारे-किनारे चलने लगी। उसे पिताजी की बात स्मरण हो आयी। किन्तु अब वे वहाँ नहीं थे। विरोधी-बनकर चले गए थे अन्य राज्य में। रूपम् थी एकाकी।

दूसरे दिन ही रूपम् को लोगों ने देखा सुवर्णरेखा के जल पर। सुवर्णरेखा के रूपहले वक्ष पर रूपम् की मृत देह तैर रही थी। यह बात फैल गयी पूरे धलभूम राज्य में।

एकाग्रचित्त से कार्य कर रहा था सुवर्णम्। विश्व अहिंसा के साधक की मूर्त्ति को पाषाण पर उतार रहा था वह। हठात् उसने भी सुना कि रूपम् नहीं रही। छेनी हाथ से गिर पडी। कल्पना का सुनहला आलोक अचानक बुझ गया। तीर्थंकर मुद्रा उसे लगी जैसे अन्धकार से आच्छादित हो गयी है। समस्त शक्ति बटोरकर भी धरती से छेनी नहीं उठा सका सुवर्णम्। रूपम् के अभाव में मानों सत्वदीन हो गया वह शिल्पी। सुवर्णरेखा के तट पर ही रह गयी वह अधूरी तीर्थंकर मूर्त्ति।

इसके पूर्व सुवर्णम् कहाँ समझ पाया था रूपम् को और कहाँ समझ पाया

था स्वयं के हृदय को । विक्षिप्त हो गया था सुवर्णम् । तभी तो जब तक वह जीवित रहा लोगों से पूछता रहा— "तो आप रूपम् को पहचानते थे ?"

आज भी पूर्णिमा की चाँदनी रात में सुवर्णरेखा के दोनों ओर शाल-महुआ का वन जब मर्मरित हो उठता है तब सुवर्णम् की अविनश्वर आत्मा जैसे अस्फुट निःश्वास छोड़ने लगती है और मानों वह तीर्थंकर मूर्त्ति से ही प्रश्न करने लगती है—

"तो क्या आप रूपम् को पहचानते थे ?"

Mr. G. Coupland , I. C. S. इनके Gazetter of Manbhum District ग्रन्थ में लिखा है..."But in Manbhum District they (Saraks) say that they first settled near Dhalbhum in the estate of a certain Man Raja. They subsequently moved in a body to Panchet in consequency of an outrage contemplated by Man Raja on a girl belonging to their caste." इसी को आधार बनाकर यह कहानी रची गयी है ।

❖❖❖

"महावीर का उपदेश किसी एक सम्प्रदाय के लिए नहीं, प्राणिमात्र के लिये हैं ।"

— चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य

"आज की साइंस के संस्थापक महावीर थे ।"

— रिसर्च स्कॉलर माधो आचार्य

जैन धर्म के पृष्ठ-पोषक राजा पुण्ड्र और उनकी राजधानी

श्री हरिप्रसाद तिवारी
श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी

बसुदेव हिण्डी या बसुदेव चरित्र नामक जैन कथा-साहित्य हमारे प्राचीन साहित्य में प्रमुख है और इसके अन्तर्गत ऐतिहासिक उपादान अत्यन्त गुरूत्वपूर्ण भी है। रचयिता संघदासगणि ने इसमें बहुत से ऐतिहासिक तथ्य निबद्ध किए हैं जो हमारे अनेक लुप्त और विस्मृत स्थान-काल-पात्रों का सन्धान देते हैं विशेषकर मगध से ताम्रलिप्त तक का अंचल तो ऐसा लगता है जैसे लेखक ने स्वयं प्रत्यक्ष किया है।

इस बसुदेव हिण्डी में वर्णित चित्ताकर्षक उपाख्यान में राजा पुण्ड्र का उपाख्यान विशेष रूप से प्राचीन इतिहास के अनुसंधित्सुयों को आकृष्ट करता है।

बसुदेव हिण्डी के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि कृष्ण के पिता बसुदेव किशोरावस्था में अपूर्व सुन्दर थे एवं उनके रूप लावण्य पर नगर-नारियाँ मुग्ध हो जाती थीं। जब बात बढ़ने लगी तो बसुदेव के बड़े भाई ने उन्हें स्वास्थ्यलाभ के बहाने गृहबन्दी बना दिया। बसुदेव इस बन्दीदशा से मुक्ति के लिए बड़ी कुशलता से भाग निकले और विभिन्न देशों में पर्यटन करते हुए वहाँ की राजकन्याओं या श्रेष्ठ सुन्दरियों का पाणिग्रहण किए। बसुदेव हिण्डी में सौन्दर्य-पिपासु बसुदेव के प्रणय-कथानकों को विभिन्न उपाख्यानों में अपूर्व दक्षता के साथ रचा है संघदास गणि ने। जो भी हो इस प्रकार नाना देशों में परिभ्रमण करते समय एकबार बसुदेव के श्वसुर राजा कपिल के पुत्र अंशुमन्त ने उन्हें मनोरम तड़ाग, उपवन और वाटिका शोभित माल या माल्य (मलय?) देश ले जाना चाहा। (भाष्यकार ने इस अंचल को गया के निकटवर्त्ती अथवा इसके दक्षिण-पश्चिम में बताया है।) किन्तु राह भूल जाने के कारण वे विपरीत दिशा में चले गए एवं बहुत परिश्रम के पश्चात् पुण्ड्र राजा की राजधानी में आ पहुँचे।

राजा पुण्ड्र के विषय में बसुदेव हिण्डी से जाना जाता है कि राजा के पिता का नाम सुसेन था जिन्होंने पुण्ड्र को सिंहासन पर अभिषिक्त कर सत्यरक्षित नामक एक मुनि से जैन या निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षा ले ली। राजमाता बसुमती भी प्रवज्या लेकर राजधानी की प्रब्राजिकाओं के आर्या संघ की नेत्री बन गयीं।

यह धर्म-प्राण राज परिवार जैन धर्म का पृष्ठ-पोषक था। किसी एक धर्मोत्सव की पुण्य तिथि पर राजमाता के नेतृत्व में श्वेतवस्त्र परिहिता आर्या प्रब्राजिकाओं की शोभा-यात्रा को लेखक संघदास गणि ने श्वेत-शुभ्र राजहंसिनियों के समुह के साथ तुलना की है। राजमाता अपने आर्या संघ के लिए सन्निकटस्थ सम्मेत शैल शिखर तीर्थ की यात्रा पर जाती और सायंकाल में भी वहीं ठहर जातीं।

राजमाता बसुमती को लेखक ने कपिल की बहन बताया है जिसका पुत्र अंशुमन्त बसुदेव को इस नगर में ले आया था।

राजा पुण्ड्र के पहले कोई संतान नहीं थी। बाद में एक कन्या जन्मी जिसे राजमाता बसुमती के परामर्श से पुत्र बताकर प्रचार किया गया और विशेष औषधि के प्रयोग से उसके स्त्री लक्षणों को अवदमित कर उसका पुत्रवत् लालन-पालन किया गया। नागरिकगण यहाँ तक कि राजा के अन्तरंग मित्र भी उसे राजकुमार ही समझते थे। जो कुछ भी हो किसी एक नगर-उत्सव में इसके गाने के साथ वीणा संगत करते हुए बसुदेव का उससे परिचय तथा घनिष्ठता हुई जो आगे जाकर प्रेम और अन्त में विवाह-बन्धन में परिणत हो गया। इनकी सन्तान महापुण्ड्र के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पुण्ड्र राजा की नगरी के नागरिकों के विषय में लेखक ने कहा है कि वहाँ के अधिकांश नागरिक वित्तशाली श्रेष्ठी थे और वे ही राज्यमंत्री एवं अमात्य पदों को अलंकृत करते थे। तारक नाम के श्रेष्ठी राज्यमंत्री थे जिनकी कन्या सुतारा के साथ अंशुमन्त का विवाह हुआ। यहाँ के श्रेष्ठीगण वाणिज्य के लिए सुदूर विदेशों में जाते। समुद्री यात्रा के भी वे अभ्यस्त थे जबकि राजा पुण्ड्र की नगरी किसी नदी या समुद्र का बन्दरगाह नहीं थी। वे लोग समुद्री यात्रा के लिए स्थलपथ से ताम्रलिप्त जाते और वहाँ से विदेशों कि यात्रा करते। यहाँ से मगध, चम्पा और अन्यान्य स्थानों पर स्थल पथ से वे प्रधानतः बैलगाडी पर पण्य-सामग्री लेकर जाते।

लेखक के वर्णन से प्राणवंत यह शहर आधुनिक परिकल्पित कर्मव्यस्त वाणिज्य-केन्द्र-सा लगता है। इस शहर के प्रशस्त और सज्जित पथ पर श्रेणीबद्ध विपणि

और हर्म्यराजि विदेशी पथिकों को विस्मित कर देते । शहर के श्रेष्ठीगण इन प्रशस्त पथों से अपने सुन्दर रथों को चलाते हुए मौज के लिए भ्रमण करने जाते । रास्ते भी विभिन्न नामों से अभिहित थे । अंशुमन्त और बसुदेव ने जिस पथ पर निवास किया था उसका नाम था विजय पथ । यहाँ के व्यवसायिक इलाकों में क्रय-विक्रय की बड़ी सरगर्मी रहती थी । श्रेष्ठियों की अक्षक्रीड़ा की जय-पराजय का उल्लास नवागतों को चकित कर देता था ।

इस शहर के बहिर्भाग तालाब, उपवन और वाटिकाओं से सुसज्जित थे । यहाँ नगर उत्सवों के समय राजा, अमात्य और श्रेष्ठीगण सभी समवेत होकर नृत्य, संगीत और नाट्य परिवेशना में सक्रिय भाग लेते थे ।

संघदास गणि की वर्णना से इस शहर के अवस्थान के विषय में जो जानकारी होती है वह निम्नरूप है :

(१) इस शहर का अवस्थान मगध के दक्षिण (गया के विपरीत) में था एवं यह अंचल मलय या मल्ल देश के नाम से जाना जाता था । ताम्रलिप्त और मगध दोनों स्थानों से स्थल पथ द्वारा यह युक्त था ।

(२) श्रेष्ठी एवं वणिकों का निवास स्थान होने से तथा गुरूत्वपूर्ण विशाल वाणिज्य केन्द्र के रूप में लेखक ने जो वर्णन किया है उससे लगता है यह शहर राजगृह और ताम्रलिप्त को मिलाने वाले वाणिज्य पथ पर अवस्थित एक महत्वपूर्ण वाणिज्य-केन्द्र था ।

(३) समग्र राजपरिवार को जिस प्रकार जैन धर्म के पृष्ठ-पोषक रूप में दिखाया गया है उससे लगता है कि यह प्राचीन जैन अध्युषित अंचल में था । विशेषतः राजा पुण्ड्र के पिता सुसेन और माँ बसुमती का किसी सत्यरक्षित मुनि से निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षा लेना यह विश्वास दिलाता है कि यह अंचल प्राचीन जैन धर्मावलम्बी सराक जाति अध्यूषित था ।

(४) राजमाता अपनी आर्या प्रव्राजिकाओं को लेकर सम्मेत शैल-शिखर अंचल में जाती थीं यहाँतक कि सन्ध्या के पश्चात् भी वहाँ रहती थी इससे प्रतीत होता है कि सम्मेत शैल-शिखर यहाँ से अधिक दूर नहीं था । सम्भवतः पुण्ड्र राज्य में ही यह अवस्थित था ।

(५) राजा पुण्ड्र के पुत्र ना होने के कारण उनका दोहित्र महापुण्ड्र यहाँ का राजा बना । वासुदेव के पुत्र होने के कारण उनका वासुदेव के नाम से प्रसिद्ध

होना तथा वासुदेव का स्मारक यहाँ पर रहना उचित लगता है ।

(६) राजा पुण्ड्र और वासुदेव के साले कपिलपुत्र अंशुमन्त यहाँ के मन्त्री तारक की कन्या सुतारा से विवाह कर यहाँ स्थायी रूप से रहे थे अतः अंशुमन्त अथवा उसके परिवार का स्मारक भी यहाँ रहना चाहिए ।

(७) शहर एवं इसके गौरवमय प्राणवन्त इतिहास का जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे लगता है इस शहर का प्रत्नतत्वावशेष एक प्रत्नतात्विक संग्रहशाला रूप में परिगणित होगा ।

उपर्युक्त विषयों की पर्यालोचना करने पर हम देखते हैं कि मगध के दक्षिण पूर्वी इलाके का मानभूमि अंचल वर्त्तमान में भी मल्लभूमि नाम से प्रसिद्ध है । इस अंचल के प्राचीन राजा और सामन्तवंशीयगण स्वयं को मल्लराज वंशीय कहने में गर्व का अनुभव करते हैं । मानभूम (पुरूलिया और धनबाद), बांकुड़ा, सिंहभूम, हजारीबाग, संथाल परगना और मेदिनीपुर के कुछ इलाके प्राचीन मल्लभूमि के अन्तर्गत थे ऐसा कहा जाता है । यह अंचल मगध और ताम्रलिप्त के मध्यवर्त्ती भू-भाग में होने से उस समय इसका बहुत महत्व था । प्रथमतः यह अंचल धातु-समृद्ध था विशेष रूप से ताम्र और लौह-खानों का इतना प्राचुर्य भारतवर्ष में अन्य कहीं नहीं था । इस धातु-सम्पदा के लिए ही मगध साम्राज्य प्राचीनकाल से इतना शक्तिशाली था । द्वितीयतः मगध से ताम्रलिप्त को मिलाने वाला जो वाणिज्य-पथ था वह पथ इसी अंचल में से होते हुए होना चाहिए । अतः पुण्ड्रराजा की स्मृतिसे जुड़ा प्राचीन सम्पदशाली शहर की खोज के लिए हमने उस प्राचीन वाणिज्य-पथों की खोज की । इसके सम्बन्ध में 'आर्कियोलॉजिकल सर्वे' के अष्टम् खण्ड में विस्तृत आलोचना की गयी है :

"Roads would naturally lead up from Tamluk to Patna, to Mongeir and elsewhere. There would be a chain of several routs to Patna. Most direct route be through Vishnupur, Bahulara, Sonatapan, Ekteshwar (where Darakeswar river would be crossed), Chatra, Raghunathpur, Telkupi, Jharia, Rajuli and Rajgir. It would cross Salay river at Ghatal, Damuda at Telkupi, Barakar close to Phulganj, ranges of hill near Rajuli. *Here near every obstacle large cities sprang up.*"

"Chatra is the point where a road yet in existance and use branched off going close past Pachet, through *Pandra,* Kharakdiha

between river Sakri and Khuri (ancient remains still on Sakri near Mahawar hill) through Nalanda to Rajgir.''

'आर्कियोलॉजिकल सर्वे की आलोचना से हम ताम्रलिप्त पाटलीपुत्र को मिलाने वाले पथ पर (जो कि अब भी आंशिक रूप में टिका है) देख पाते हैं एक प्राचीन वाणिज्य-केन्द्र जिसका नाम पाण्ड्रा (जिला धनवाद) है। हमारी धारणा है प्राचीन पुण्ड्र राजा और उनके दौहित्र महापुण्ड्र की स्मृति से जुड़े प्राचीन नगर का ही अवशेष है यह पाण्ड्रा। पाण्ड्रा बराकर शहर से प्रायः ७ मील पश्चिम में.स्वनाम से आज भी विख्यात् है। पाण्ड्रा केवल एक बड़ा (धनवाद जिले का सबसे बड़ा) ग्राम ही नहीं यह एक परगने का सदर भी है। वर्त्तमान काल की दलीलों में भी परगना के रूप में पाण्ड्रा का उल्लेख किया जाता है। बराकर से धनबाद तक बराकर और दामोदर नदी का मध्यवर्त्ती भू-भाग पाण्ड्रा परगना के अन्तर्गत है। अंग्रेज शासनकाल के प्रारम्भ में यहाँ के प्राचीन मल्लराज वंश को खदेड़कर घाटवाल राजवंशियों ने यहाँ अंग्रेजों के करद राजवंशों की स्थापना की। इन घाटवाल राजवंशियों को आज भी राजा कहा जाता है एवं इनके बहुत से परिवार इस अंचल में निवास करते है। घाटवाल का अर्थ है—घाट अर्थात् पार्वत्य पथ रक्षाकारी। इस सम्प्रदाय पर बहुत प्राचीनकाल से ही इस ताम्रलिप्त मगध की संयोगकारी वाणिज्य-पथ की सुरक्षा का दायित्व था। इस अंचल के बंगाली वणिकों की एक पदवी घाँटी या घाटी है जो इस पार्वत्य वाणिज्य पथ के वाणिज्य केन्द्र से उद्भूत है। पाण्ड्रा गाँव लोक संख्या एवं आयतन दोनों ही दृष्टि से इस अंचल का सबसे बड़ा गाँव है। और अकेला ही एक पंचायत है। (दो गाँव की पंचायत करने का प्रस्ताव है)। गाँव का रास्ता आधूनिक नगरों की तरह परिकल्पित है जो कि किसी भी नगर स्थपति को आज भी विस्मित करता है।

बसुदेव हिण्डी में राजा पुण्ड्र और समग्र राज परिवार को जैन धर्म के पृष्ठ-पोषक रूप में वर्णन करने से स्वभावतः ही लगता है कि पुण्ड्र राजा की यह राजधानी प्राचीन जैन अध्युषित अंचल में थी। वास्तविकता भी वही है। पाण्ड्रा का अवस्थान प्राचीन जैन धर्मावलम्बी सराक सम्प्रदाय के निवास स्थानों के केन्द्र-स्थल में है।

राजमाता बसुमती का आर्यिकाओं को लेकर सम्मेत शैल शिखर अंचल में जाना विशेषकर सायंकाल में, इससे जाना जाता है कि सम्मेत शैल शिखर इसी पाण्ड्रा के निकटवर्त्ती था। अन्ततः साध्वियाँ निर्भय रूप से पैदल चलकर वहाँ

ऋषभनाथ पाकबिरा 7वीं शताब्दी

शान्तिनाथ पाकबिरा 10वीं शताब्दी

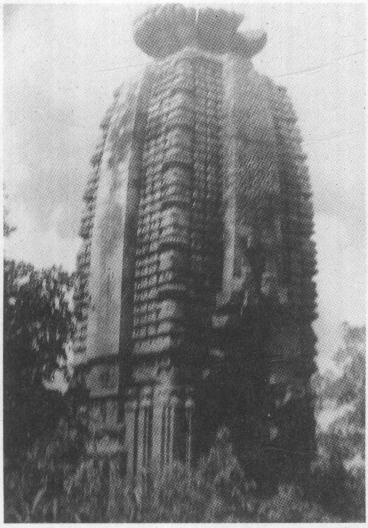

चेलियामा जैन मन्दिर

ऋषभनाथ भैरवसिंहपुर
उड़ीसा

ऋषभनाथ भैरवसिंहपुर
उड़ीसा

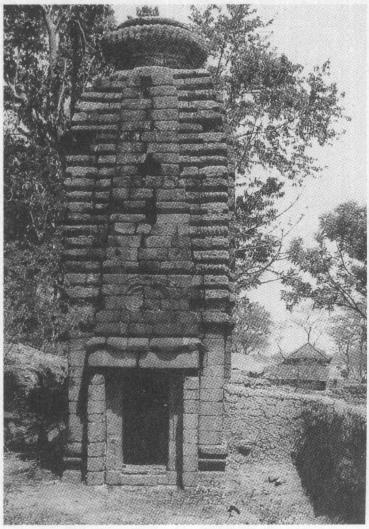

सराक जैन मन्दिर

जा सकती थी। वास्तविकता भी यही है। सम्मेत शैल शिखर का अवस्थान इस पाण्ड्रा के मात्र सात मील के अन्दर है। [हजारी बाग जिला के पारसनाथ पहाड़ को सम्मेत शैल शिखर कहा जाता है जो कि पाण्ड्रा के ५० मील पश्चिम में है। किन्तु इस अंचल का प्रकृत अवस्थान पाण्ड्रा से प्रायः सात मील पूर्व बर्द्धमान जिले के प्राचीन जम्मीय ग्राम में (वर्त्तमान) होना चाहिए जहाँ भगवान महावीर सिद्ध हुए थे। देखे— श्रमण, कलकत्ता, कार्त्तिक १३६२]।

राजा पुण्ड्र के पश्चात उनका दौहित्र महापुण्ड्र यहाँ के विख्यात् राजा हुए। वासुदेव का पुत्र होने के कारण वे भी वासुदेव नाम से प्रसिद्ध हुए। पाण्ड्रा ग्राम में इस वासुदेव का स्मारक चिंह आज भी मौजूद है। यहाँ का एक ध्वंसावशेष आज भी वासुदेव का स्थान नाम से जाना जाता है। यहाँ के कुओं को देखकर तो चकित हो जाना पड़ता है। हमारी धारणा है यह विख्यात् वासुदेव पुत्र महापुण्ड्र ही था महाभारत में उल्लिखित पौण्ड्रा वासुदेव जिसका मित्र था प्रतिवेशी मगधराज जरासंध। कृष्ण और महापुण्ड्र दोनों ही वासुदेव के पुत्र थे अतः दोनों ही वासुदेव नाम से प्रसिद्ध हुए। किन्तु कृष्ण ने इस वैमात्रेय भाई को छल, बल कौशल से नष्ट कर दिया। वैदिक मतावलम्बी महाभारत रचयिता इस अवैदिक मतवाद के पृष्ठ-पोषक पौण्ड्र को छोटा करने पर भी उसकी प्रिय नगरी पाण्ड्रा ने उसे दीर्घकाल तक स्मरण रखा था। संघदास गणि के समय भी यह पाण्ड्रा नगरी स्व-गौरव से प्रसिद्ध थी।

वासुदेव का साला कपिल-पुत्र अंशुमन्त था राजा पुण्ड्र का भी साला। वह राजा पुण्ड्र के मंत्री तारक की कन्या सूतारा से विवाह कर वहीं बस गया था। अंशुमन्त एवं उसके परिवार ने जैन धर्म की दीक्षा ली या नहीं, नहीं कहा जा सकता किन्तु राजा कपिल के नाम से बनाया गया कपिलेश्वर का मन्दिर (मन्दिर समूह) आज भी दर्शकों को विस्मित करता है। (प्रसंगतः कहता हूँ कि सांख्यकार कपिल देवमूर्त्ति के उपासक नहीं थे।)

उपर्युक्त युक्तियों से हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि प्राचीन जैन धर्म का एक पीठ-स्थान और प्रसिद्ध वाणिज्यकेन्द्र था राजा पुण्ड्र की राजधानी पुण्ड्रा। आज भी वह एक परगना का केन्द्र है।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि पुण्ड्रा का अवस्थान ताम्रलिप्त से १०० मील उत्तर-पश्चिम में (४५°) है, ह्वेनसांग ताम्रलिप्त से ६०० ली अर्थात् १०० मील उत्तर-पश्चिम में किलिना-सुफलाना या कर्ण-सुवर्ण गए थे। 'आर्या

मंजुश्री मूलकल्प' के मत से पुण्ड्रवर्धन में शशांक की राजधानी थी । हमारी धारणा है यही पाण्ड्रा मंजुश्री मूलकल्प वर्णित पुण्ड्रा नगरी है । कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में जो राढ़ देश की अपरूपा रढ़ापुरी की बात आती है वह भी सम्भवतया यही पाण्ड्रा या पॉरड़ा (पाँड़रा) को ही निर्देश करती है । इसी पाण्ड्रा परगना से वर्द्धमान पर्यन्त अंचल को शायद पुण्ड्र वर्द्धमान अंचल कहा जाता था ।

हम पहले ही कह आए हैं कि पाण्ड्रा ग्राम और समग्र परगना एक पुरावस्तु की संग्रहशाला है । यहाँ चारों ओर प्राचीन स्तूप, मूर्त्ति, मन्दिर के भग्नावशेष और ध्वंस स्तूपों का समाहार है । वासुदेव स्थान और कपिलेश्वर मन्दिर का विशालत्व दर्शनीय है । मन्दिर का प्रांगण समतल से प्रायः २० फुट ऊँचा है । चारों पार्श्व प्राचीरों से घिरे हुए है । विशाल प्रांगण में छः विशाल प्रस्तर निर्मित मन्दिर वर्त्तमान है । यहाँ के दो जलाशय रानी का बाँध और टेंडी का बाँध (टेंडी=कर्णाभूषण) इस जिले के सबसे बड़े जलाशय हैं । अन्य दूसरे जलाशय, दीघि, सायर इत्यादि व्यंजनामय नाम से प्रसिद्ध है । इस पाण्ड्रा परगना की पूर्वी सीमा में है पश्चिम बंग की श्रेष्ठ पूराकीर्ति बराकर के सिद्धेश्वरी के मन्दिर आदि । पूर्वोत्तर कोण में है कल्याणेश्वरी का प्रसिद्ध (मां का स्थान) माइथन, दक्षिण में है तेलकम्प का प्रसिद्ध मन्दिर । इसी तेलकम्प के राजा ने पाल-राजाओं के राज्य-विस्तार में सहायता दी थी । पाण्ड्रा के पार्श्ववर्त्ती ग्राम कुन्तल, केशरी, ऊर्द्धचूड़ा (उधचूड़ा), सन्मन्धपुर, वीरसिंहपुर, मदनपुर आदि सभी स्थानों पर प्रत्न निदर्शनों का प्राचुर्य है । ये प्रत्न-सम्पदाएँ अवहेलना व अयत्न के कारण नष्ट तो हो ही रही हैं सबसे अधिक दुःख की बात यह है इन्हें गृह-निर्माण के उपादान के रूप में व्यवहार करने की भी प्रतियोगिता चल रही है । मात्र कई वर्ष पूर्व ही जिन मन्दिरों को देखा था वे आज नहीं हैं । मकान बनाने के लिए उनके पत्थर खण्डों को व्यवहार किया गया है ।

भारत तथा बिहार सरकार और स्थानीय वासिन्दों से इस प्राचीन पाण्ड्रा नगर की प्रत्न-वस्तुओं का उद्धार, संरक्षण और गवेषणा के लिए हम सन्निवद्ध अनुरोध करते है ।

❖❖❖

उड़ीसा की सराक संस्कृति

श्री युधिष्ठिर माजी

सराक अर्थात श्रावक संस्कृति के विकास क्रम की धारा में उड़ीसा का भी विशेष योगदान है । एक समय भगवान पार्श्वनाथ ने अंग-बंग और कलिंग में जैन धर्म का प्रचार किया था । ताम्रलिपि बन्दरगाह से कलिंगाभिमुखी होकर जैन धर्म के प्रचार के लिए केपकटक में उन्होंने आश्रय लिया था । यही केपकटक वर्तमान काल से बालेश्वर जिले का केपारिग्राम है । अतः एक समय केपकटक को धन्यकटक कहा जाता था ।

पार्श्वनाथ के नाम के साथ कलिंग की प्राचीन संस्कृति का घनिष्ठ योग था । इसीलिए उदयगिरि खण्डगिरि-अंचल में भी अन्यान्य तीर्थंकरों की अपेक्षा पार्श्वेनाथ का प्रचार और गुरूत्व अधिक देखा जाता है । उन दिनों मयूरभंज अंचल में कुसुम्ब नामक एक आंचलिक उपजाति रहती थी । वह पार्श्वनाथ के धर्म का प्रचार करने के लिए विशेष भाव से सचेष्ट बनी थी ।

महावीर स्वामी ने भी कलिंग में आकार धर्म प्रचार किया था । कलिंग अंचल के राजा उनके पिता सिद्धार्थ के मित्र थे । इस प्रसंग में मूल्यवान ऐतिहासिक तथ्य भी पाए जाते हैं । प्राचीन इतिहास ग्रन्थों में कहा गया है—

"Mahavir Vardhaman went to Kalinga as the King of that country was a friend of his father."

पितृ बन्धु कलिंग देश के राजा ने शायद महावीर स्वामी को धर्म प्रचार के लिए आमंत्रित किया था । सम्राट खारवेल की हाथी गुफा के शिला लिपि की १४ वीं पंक्ति में महावीर वर्द्धमान के कलिंग भ्रमण का उल्लेख है । सर्वप्रथम महावीर ने कुमारी पर्वत पर आकर धर्म प्रचार प्रारम्भ किया था। महावीर के समय कलिंग को जैन-भूमि कहा जाता था ।

एक समय कलिंग में एक बड़ा बन्दरगाह था । इसका नाम था पिहुण्डि । जैन धर्म के प्रचारक इसी बन्दरगाह से धर्म प्रचार के लिए दूर देशों में जाते

थे । बाद में पिहुण्डि श्रावक संस्कृति के विशेष तीर्थों में परिणत हो गया ।

एक समय चम्पा राज्य से एक वणिक पिहुण्डि आकर बस गया था । यहाँ उसने एक सुन्दर स्त्री से विवाह किया एवं बहुत दिनों तक संसार धर्म का पालन करने के पश्चात् श्रावकाचार के प्रति आकृष्ट हो गया था ।

सम्राट खारवेल की हाथी गुफा के शिलालेख में भी पिहुण्ड शब्द पाया जाता है । सम्भवतः जैन धर्म कलिंग राज्य का राष्ट्र धर्म हो गया था । चेदी वंशीय राजाओं के राज्य में तो जैन धर्म समस्त उड़ीसा अंचल में प्रतिष्ठित था ही, यहाँ तक कि ह्वेनसांग जब भारत आया था तब भी कलिंग देश में जैनधर्म ही राजधर्म के रूप में विवेचित होता था ।

इस समय जैन धर्म केवल उड़ीसा में ही नहीं गुजरात मारवाड़ प्रवृति अंचल में भी राजधर्म के रूप में ही परिगणित था । इस प्रसंग में Imperial Gazetteer में कहा गया है — "During the mediaeval period of India Jainism secured much political influence. It became the state religion of the Calukya prince of Gujarat and Marwar and the King of the Coromandal Coast."

उड़ीसा के सम्राट खारवेल लगता है जैन धर्म को हजारों वर्षों तक सुरक्षित रखने के लिए ही खण्डगिरि के पाषाण फलकों पर उसकी अमर कीर्ति अंकित कर गये हैं । खारवेल की लिपि से जाना जाता है कि नंद वंश के राजा महापद्म ने कलिंग देश पर आक्रमण किया था । यहाँ आकर वह श्रावकाचार की ओर आकृष्ट हो गया था । कलिंग विजय के अन्त में महापद्म नन्द यहाँ से एक जिनमूर्त्ति पाटलीपुत्र ले गया था । यही जिन या तीर्थंकर मूर्त्ति तीन सौ वर्षों तक पाटलिपुत्र में थी । खारवेल उसे पुनः कलिंग लौटा लाए थे ।

सम्राट खारवेल के समय राज पुरूष एवं राज परिवार के नर-नारी सभी श्रावकाचार के प्रति आकृष्ट थे । तीर्थंकरों के व्यक्तित्व, त्याग, आदर्श ने प्रत्येक राज्य कर्मचारी को मुग्ध कर दिया था ।

सम्राट खारवेल की खण्डगिरि गुफा की शिलालिपि में जैन धर्म से जुड़े कितने ही सांकेतिक चिंह पाए गए हैं ।

ये सब चिंह हैं नमीपद, वृक्ष चैत्य, वर्द्धमंगल एवं स्वस्तिक ।

वर्द्धमंगल चिंह खारवेल की लिपि के अतिरिक्त जूनागढ़ की एक जैन गुफा में मंगल चिंह रूप में खुदा हुआ है । सांची स्तूप में भी इसी भाँति के मंगल चिंह पाए जाते है । बहुत से इन्हें श्रावक संस्कृति के साथ युक्त त्रिरत्न चिंह के समतुल्य मानते है ।

सम्राट खारवेल की प्रचेष्टा से उदयगिरि खण्डगिरि अंचल में प्रायः ११७ गुफाओं का निर्माण हुआ या जीर्णोद्धार किया गया । सत्य तो यह है कि सम्राट खारवेल श्रावक संस्कृति के एक उज्ज्वल आलोक स्तम्भ थे । शिलालिपियों में उन्हें चक्रधर कहकर सम्बोधित किया गया है । उड़ीसा के इतिहास में वे चक्रवर्ती ही थे । श्रावक संस्कृति में चक्र अर्थ से श्रावक धर्म भी समझा जाता है ।

पूर्व ही कह आया हूँ खारवेल के परवर्त्ती काल तक अर्थात् भारतीय इतिहास के मध्ययुग पर्यन्त श्रावक धर्म के आलोक से सारा उड़ीसा उद्भासित था । सम्राट अशोक के समय जैन धर्म की कुछ अवनति अवश्य हुई किन्तु कितना ही प्रयत्न क्यों न किया हो, उड़ीसा में बौद्ध संस्कृति स्थायी रूप में विकसित नहीं हो सकी । अशोक के पश्चात् भी उड़ीसा के विभिन्न स्थानों में राजा-महाराजा श्रावक धर्म की प्रतिष्ठा व पृष्ठ-पोषिकता कर गए हैं । बिहार व उड़ीसा का सीमावर्ती अंचल (वर्तमान बिहार) सिंहभूम जिला बहुत दिनों तक श्रावकों द्वारा ही शासित था । इस प्रसंग में मेजर टिकेल की उक्ति स्मरणीय है :

"Singhbhum passed into the hands of the Sarawakas."

सिंहभूम में श्रावक या सराकों ने एक सुवर्ण युग की सृष्टि की थी । उन्होंने ताम्रशिल्प की खूब उन्नति की थी । सिंहभूम में बहुत प्राचीन ताम्बे की खानें पायी जाती हैं । ये सभी सराकों द्वारा निर्मित थीं । इस प्रसंग में मिस्टर वी॰ बॉल की तथ्यपूर्ण उक्ति भी स्मरणीय है :

"The more adventurous Saraks or lay Jainas having alone penetrated the jungles where they were rewarded with the discovery of copper upon the working of which they must have spent all their times and energy, as with the excavation of the tanks above mentioned, the mines furnish the sole evidence of their occupation of that part of the country." सिंहभूम अंचल पहले उड़ीसा के मध्य था ।

उड़ीसा के कुछ-कुछ अंचलों के नाथ सम्प्रदायों पर जैनों का अत्यधिक प्रभाव था । आगे जाकर ये अरक्षित दास पन्थी और महिमापन्थी इन दो-भागों में विभाजित हो गए । अभी भी इन पर श्रावक संस्कृति का बहुत प्रभाव है ।

खण्डगिरि अंचल में प्राचीन काल से ही श्रावक संस्कृति का प्रभाव है । अब भी यह स्थान सराक सम्प्रदाय की तीर्थभूमि के रूप में परिगणित होता है । माघ शुक्ला सप्तमी को यहाँ विराट् मेला लगता है । उस दिन हजारों जैन साधु आकर इस मेले में सम्मिलित होते हैं ।

मयुरभंज के भंज-वंशीय राजागण धार्मिक दृष्टि से श्रावक थे । इस वंश के प्रतिष्ठाता राजा वीरभद्र एक करोड़ श्रावक और साधुओं के संरक्षक थे । इन वंश के अन्यान्य राजाओं ने भी सराक सम्प्रदाय के लोगों को बहुत गाँव दान किए थे ।

राजा वीरभद्र को गणदण्ड कहा जाता था । गणदण्ड शब्द जैन पुराणों के मत से गण या गणेन्द्र शब्द से आया है । तदुपरान्त भंजवंश की सृष्टि के मूल में भी श्रावक संस्कृति का अवदान है । उनकी वंश धारा में श्रावक संस्कृति घुली हुई है । कहा जाता है यह वंश मयूर के अण्डे से आया था अतः इस वंश का नाम मयूर भंज वंश पड़ा । फिर यह मयूर कोई साधारण मयूर नहीं है । यह है श्रावक संस्कृति मूलक पूराणों में वर्णित श्रुतदेवी का वाहन । श्रुतदेवी है— मयूरवाहिनी सरस्वती ।

बालेश्वर जिले में जितने भी तन्तुवाय श्रेणी के लोग रहते थे उन्हें अश्विनी तांती कहा जाता है । ये सब तातशिल्प धर्म से सराक है । अतः इन्हें सराक तांती भी कहा जाता है । बालेश्वर जिले में प्रायः ५३ हजार सराक निवास करते थे । यह संख्या पश्चिम बंगाल के सराक सम्प्रदाय की संख्या से भी अधिक है । अनेकों की धारणा है बालेश्वर जिले के सराक किसी समय छोटानागपुर के वासिन्दा थे । मानभूम अंचल के इतिहास की पर्यालोचना करने पर भी जाना गया है कि विभिन्न काल में यहाँ के सराकों के साथ बाह्मण सम्प्रदाय का विरोध हो जाने के कारण बहुत से उड़ीसा अंचल प्रताड़ित कर दिए गए ।

बालेश्वर जिले की अघोरी नामक एक जाति का सन्धान मिला है । वे भी शायद आगे सराक थे । अघोरी सम्प्रदाय अग्रवाल सम्प्रदाय से आया

है । धलभूमि के महुल्या ग्राम से दो मील दूर एक अंचल में प्रचुर मात्रा में सराक सम्प्रदाय के मनुष्य निवास करते थे । इसके अतिरिक्त सिंहभूमि के कोड़ हाट में प्रायः सौ वर्ष पूर्व श्रावकों की एक शाखा रहती थी । इन्हें भी सराक कहा जाता था । इन सब अंचलों में जितने तालाब गुफाएँ आदि मिलते हैं उससे प्रमाणित होता है यहाँ के सराक अत्यन्त समृद्धिशाली थे । फिर हासि, गुण्डु, ज्योति, हुरूण्डि, दोलडिहा, नोयाडिहा, मोड़ नोडह आदि गाँवो में कुछ दिन पूर्व भी वहुत से सराक सम्प्रदाय के लोग रहते थे । वर्तमान में तो उनमें से बहुत से विभिन्न सम्प्रदायों में मिल गए हैं ।

उड़ीसा के सराकों की विभिन्न प्रकार की पद्वियाँ हैं । इन सभी पदवियों में महापात्र, पात्र, दत्त, सांतरा, वर्द्धन, माहात्र, देवता, प्रामाणिक, आचार्य, वेहारा, दास, साओ, मण्डल, नायक, सेनापति आदि उल्लेखनीय है । सराकों को ये पद्वियाँ कैसे मिली इसका कोई इतिहास जाना नहीं जाता । फिर भी पात्र, मण्डल, नायक आदि पद्वियाँ पश्चिम बंगाल के सराक सम्प्रदाय में भी मिलती हैं किन्तु हाँ, पश्चिम बंगाल के सराक सम्प्रदाय की पद्वी प्राप्ति का एक इतिहास है ।

पश्चिम बंगाल के सराक सम्प्रदाय की भाँति उड़ीसा के सराकों के कोई ब्राह्मण पुरोहित नहीं है । रंगिनी सराकी तांती स्वयं को ब्राह्मण जाति से भी ऊँची जाति मानते हैं । एतदर्थ वे ब्राह्मणों का छुआ जल नहीं पीते ।

पश्चिम बंगाल के सराको के भी पहले ब्राह्मण पुरोहित नहीं थे । उनमें भी अपने विषय में बड़ी ऊँची धारणा है । लगता है अतीत में ब्राह्मणों के साथ हुए वाद-विवाद के कारण ही उनमें इस धारणा ने जन्म लिया है ।

उड़ीसा के सराक डुमुर (एक बहुबीजा फल) नहीं खाते । कारण डुमुर में कीड़ा बहुत होता है । प्रसंगवश कहता हूँ पश्चिम बंगाल के सराक भी डुमुर नहीं खाते ।

उड़ीसा के सराकों के ब्राह्मण पुरोहित नहीं है इसीलिए वे समय-समय पर स्वयं ही जनेऊ धारण कर पूजा व विवाह आदि सामाजिक अनुष्ठान का संचालन करते हैं । बहुत से विवाह अनुष्ठान पूर्ण करने के लिए खण्डगिरि अंचल में जाते हैं । यहाँ के सराकों के विवाह और अन्यान्य आचार आचरण के लिए दो ग्रन्थ हैं । एक का नाम है विवाह काण्ड और दूसरे का नाम है शुद्धि क्रिया ।

सराकी तांती उड़ीसा के विभिन्न अंचलों में बिखरे हुए हैं । कटक जिले के आसिया पहाड़, छातिया पहाड़, चान्दोड़, जाजपुर, रत्नगिरि, उद्‌यगिरि आदि अंचलों में प्रचुर मात्रा में सराक सम्प्रदाय के लोग रहते हैं । इसके अतिरिक्त तिगिरिया, वड़स्वा, बांकी और पुरी जिले के पिपली आदि अंचलों में सराकों का प्रभाव है ।

करापुट जिले के भैरव सिंहपुर, जयपुर, तालुका आदि अंचल की सन् १९४१ में जनसंख्या थी ११४१ । इनमें अधिकांश ही सराक जाति के थे । यहाँ के एक शिव मन्दिर में ऋषभनाथ की एक मूर्त्ति है । इस मूर्त्ति से कृषक लोग अपनी कुल्हाड़ियों में धार करते है । यही कारण है कि मूर्त्ति अब बहुत घिस गयी है ।

पूर्व ही बता चुका हूँ सराकों का मूल पेशा है तांत शिल्प अतः उन्हें तांती कहा जाता है । फिर भी ये लोग प्राचीन काल से ही तांत बुनने का कार्य करते आ रहे हैं ऐसा नहीं कहा जा सकता । सराकों ने अपने बचाव के लिए ही तांत शिल्प को वरण कर लिया था । इस प्रसंग में मिस्टर रिसले का कथन उल्लेखनीय है : "In Orissa they (Saraks) call themselves Buddhists and assemble once a year at the famous cave temple of Khandagiri near Cuttuk to make offerings to the Buddhist images there and to confer on religious matters."

"But the survival of their ancient faith have not saved them from the all pervading influence of caste. They have split out into endogamous groups based partly on locality and partly on the fact that some of them have taken to the degraded occupation of weaving and now form a Hindu caste of the ordinary type."

एतदर्थ उड़ीसा के सराकों ने जीविकोपार्जन के लिए वस्त्र बुनना जैसा निम्नस्तर का पेशा ग्रहण किया इसमें कोई सन्देह नहीं है । पश्चिम बंगाल में भी सराक सम्प्रदाय के कुछ लोगों ने वस्त्र शिल्प में आत्म नियोग किया था । हो सकता है वाद में सराक सम्प्रदाय में तांत शिल्प सम्प्रदायगत पेशे में रूपान्तरित हो गया था ।

यह तो कह ही चुका हूँ कि प्राचीनकाल में उड़ीसा की गणना जैन भूमियों में होती थी । इस अंचल में विभिन्न समयों में निर्मित जैन शिल्पकलाएँ

प्रचुर परिमाण में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं । इनमें लगता है खण्डगिरि के गुफाचित्र सबसे प्राचीन है । हाथी गुफा, रानी गुफा, जय-विजय गुफा आदि भास्कर्य शिल्प के लिए विख्यात् है । गुफा के द्वार पर कहीं प्रागैतिहासिक युग के हाथी हैं, कहीं निरावरण सुन्दर नारी मूर्त्ति है, तो कहीं कहानी चित्र है । इन भास्कर्य शिल्प कलाओं ने खण्डगिरि की प्राचीन गुफाओं की शिल्प उत्कर्षता और गुरूत्व की अभिवृद्धि कर दी है । रानी गुफा का प्राचीन कहानी चित्र हमारे मन को उस समय के एक अलिखित इतिहास के पृष्ठों पर खींच ले जाता है ।

बालेश्वर जिले के चम्पा ग्राम में शान्तिनाथ भगवान की एक सुन्दर मूर्ति है और आउषपुर में है भगवान ऋषभनाथ की मूर्ति । उड़ीसा के कटक में एक सुन्दर जैन मन्दिर है । यहाँ बहुत-सी तीर्थंकर मूर्त्तियों में पार्श्वनाथ, ऋषभनाथ, महावीर, अजितनाथ आदि की मूर्त्तियाँ उल्लेख योग्य है । यहाँ ऋषभनाथ को शिवरूप में सजाकर पूजा करने की भी रीति है । क्यूंझर जिले के आनन्दपुर सब डिविजन से नौ मील दूर कोडसिडी ग्राम में सौ से भी अधिक तीर्थंकर मूर्त्ति, यक्ष-यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ विक्षिप्त भाव में पड़ी हुई हैं । यह स्थान पहले तोषल राज्य के अन्तर्गत था । हो सकता है यहीं अतीत का विख्यात् शैलपुर ग्राम था । श्रावक संस्कृति से जुड़ी ये सब शिल्प-कलाएँ मानों हमारे कानो में अतीत की कथा कह जाती हैं । मानो ये पाषाण फलक पर रचित अतीत युग के इतिहास का एक-एक पृष्ठ है । बल्लभ भाई के शब्दों में कहा जा सकता है—

"The Jain architecture is nothing but a kind of history, that it is a standing and living record and it supplies us a more vivid and lasting picture of a nation than history does."

उड़ीसा के प्राचीन साहित्य और संस्कृति पर भी सराक संस्कृति का खूब प्रभाव है । सत्य तो यह है कि उड़ीसा के प्राचीन साहित्य की मूल भित्ति की रचना ही की है श्रावक संस्कृति से जुड़े शिल्पी और साहित्यकारों ने ।

उड़ीसा के किसी-किसी पहाड़ी अंचल के आदिवासियों के मध्य कड़ा पद्मतोला गीत सुना जाता है । इन गीतों में भी श्रावक संस्कृति का प्रभाव है ।

उड़ीसा के प्राचीन धर्म ग्रन्थों में यहाँ तक कि वैदिक आर्य संस्कृति के

ग्रन्थ भी श्रावक संस्कृति से प्रचुर मात्रा में प्रभावित है । सरला महाभारत पर श्रावक संस्कृति का बहुत कुछ प्रभाव लगता है । इस ग्रन्थ के एक स्थान पर कहा गया है —

राधा चक्रे बूलू आछे सात ताल ऊचे ।
ताले ऊपरे पटाल आछे जे सुसज्चे ॥

यहाँ राधा चक्र शब्द श्रावक संस्कृति से युक्त हरिवंश पुराण से लिया गया लगता है । संस्कृत महाभारत में राधा चक्र का सन्धान कहीं नहीं मिलता। बहुत से सोचते हैं राधा चक्र शब्द जैन ग्रन्थ पद्म-पुराण से लिया गया है । जो भी हो सारला महाभारत पर श्रावक संस्कृति का बहुत कुछ प्रभाव है इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

मध्य युग में श्रीश्री चैतन्यदेव के जीवन और वाणी के प्रभाव से बंगला और उड़ीसा के बहुत से ग्रन्थ रचित हुए हैं । उन ग्रन्थों में भागवत का स्थान सर्वोपरि है । भागवत ग्रन्थ पर भी श्रावक संस्कृति का प्रचण्ड प्रभाव पड़ा है । उड़ीसा के जगन्नाथ दास की भागवत में ऋषभनाथ की कथा है । इसके पंचम अध्याय में ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को जो उपदेश दिया है उस पर केवल श्रावक संस्कृति का प्रभाव ही नहीं बल्कि उसमें श्रावक संस्कृति को ही उजागर किया है । जैसे :

श्री श्री ऋषभदेव उवाच :
भो पुत्र माने सावधान,
सुन है आमार वचन ।
जे प्राणी जे कार्यमान
निरत करे आचरण
से प्राणी व्यर्थ एई संसारे
पड़े नरक महाघोरे ।

केवल जगन्नाथ दास की भागवत ही नहीं चैतन्यदास विरचित विष्णु गर्भ पुराण ग्रन्थ में भी ऋषभदेव और भरत का चरित्र है । इसमें भरतादि दस भाई ऋषभदेव से धर्म शिक्षा ग्रहण करते हैं । इस भाँति श्रावक व सराक संस्कृति ने उड़ीसा साहित्य पर अपना विशेष प्रभाव डाला है ।

उड़ीसा की सराक संस्कृति को लेकर बहुत-सी कहानियाँ किम्वदन्तिमूलक

लोक कथाएँ या रूप कथा-सी कहानियाँ प्रचलित हैं । ये कहानियाँ कथा शिल्प के दृष्टिकोण से बड़ी उन्नत और मन को आकृष्ट करने वाली हैं । इन कहानियों में एक कहानी की मैं संक्षिप्त आलोचना करूँगा । कहानी का नाम है चित्रसेन पद्मावती ।

किसी समय कलिंग देश में बसन्तपुर नामक एक राज्य था । यहाँ के राजा थे वीरसेन । उनकी पत्नी का नाम था वनमाला और पुत्र का नाम था चित्रसेन । वीरसेन का मन्त्रीपुत्र रत्नसार चित्रसेन का परम मित्र था । इन दोनों का रूप कामदेव को भी लजाने वाला था । इन्हें देखकर बसन्तपुर की लड़कियाँ अपलक हो जाती थी । दोनों ही सुन्दरियों की कामनाओं के अनुरूप थे । समय-समय पर नगर की लड़कियाँ इन दोनों को देखने के लिए राजपथ पर खड़ी हो जाती । चित्रसेन और रत्नसार के इस अनिन्द्य रूप ने जन-साधारण को ईर्ष्यालु बना दिया, अतः प्रजागण हिंसा की दूषित दृष्टि से इन दोनों कुमारों के चरित्र को कलुषित करने लगे । अन्ततः उन लोगों ने संघवद्ध रूप से बसन्तपुर के राजा को इन्हें निर्वासित करने के लिए बाध्य कर दिया।

झूठे कलंक को सिर पर लिए दोनों मित्र निर्वासित हो गए और एक गहन जंगल में जाकर आश्रय लिया । इसी जंगल में एक रात्रि जबकि चित्रसेन सो रहा था रत्नसार ने दूर से आता हुआ कोलाहल सुना । उसने चित्रसेन को जगाया । फिर दोनों मित्र जिस ओर से कोलाहल सुनायी पड़ रहा था उसी ओर चले ।

कुछ देर पश्चात् दोनों एक मन्दिर में पहुँचे । मंदिर में भगवान शान्तिनाथ की एक मूर्त्ति विराजमान थी । वहाँ स्वर्गवासी किन्नर-किन्नरियाँ उत्सव कर रहीं थीं । किन्नरियों का नृत्य देखकर दोनों मित्र मुग्ध हो गये थे तभी मन्दिर की दीवाल पर एक असाधारण सुन्दर स्त्री की पाषाण मूर्त्ति देखी । नारी देह में इतना रूप उन्होंने कहीं नहीं देखा था । अतः राजपुत्र चित्रसेन ने तय किया कि किसी भी प्रकार से वह इस असामान्य सुन्दरी से विवाह करेगा ।

इस सुन्दर नारी का नाम था पद्मावती । विश्व के तिल-तिल सौन्दर्य को संग्रह कर विधाता ने इस नारी देह का सृजन किया था । पद्मावती पुरूषों से घृणा करती थी । एक शिल्पी ने उससे विवाह करना चाहा था किन्तु पद्मावती तो किसी भी पुरूष से विवाह करने को तैयार नहीं थी । उस शिल्पी के हृदय

में पद्मावती की जो रूप राशि प्रविष्ट हो गयी थी उसी से उस प्रेमी शिल्पी ने इस मूर्त्ति की सृष्टि की थी ।

यहाँ चित्रसेन ने अपनी और पद्मावती की पूर्व जन्म की कहानी सुनी । पूर्व जन्म में उसने हंस रूप में जन्म ग्रहण किया था और यह पद्मावती थी उसकी प्रेमिका हंसिनी । ये दोनों एक सरोवर में रहते थे ।

एक दिन यहाँ एक सौदागर विश्राम करने आया । वह जिन भक्त था । वह जिनपूजा करने के पश्चात् सबको अन्न दानकर तब स्वयं अन्न ग्रहण करता । हंस और हंसिनी रूपी चित्रसेन और पद्मावती ने इस पुण्य कार्य की खूब प्रशंसा की । इसी पुण्य के फलस्वरूप हंस ने चित्रसेन के रूप में एवं हंसिनी ने पद्मावती के रूप में जन्म ग्रहण किया ।

राजपुत्र चित्रसेन तत्काल स्वदेश को लौट गए और पद्मावती को खोजने लगे । कुछ ही दिनों में उनकी मुलाकात पद्मावती से हो गयी । अब चित्रसेन ने पद्मावती से अपने मन की बात कही ।

पद्मावती बोली — नहीं, मुझे पुरूषों से घृणा है ।

तुम पूर्व जन्म में जिस पुरूष से प्रेम करती थी उससे भी तुम घृणा करती हो ?— चित्रसेन ने जानना चाहा ।

वह पुरूष कहाँ है ? प्रश्न किया पद्मावती ने ।

तुम्हारे सन्मुख । आँखे खोलकर देखो, देख पाओगी — जबाब दिया चित्रसेन ने ।

तदुपरान्त उसने पद्मावती को पूर्व भव सुनाया । तब पद्मावती ने उसे गौर से देखा । पुरूषों में इतना रूप उसने कभी नहीं देखा था ।

चित्रसेन के रूप को देखकर पद्मावती मुग्ध हो गयी । उसका पुरूष-द्वेष दूर हो गया । चित्रसेन ओर पद्मावती विवाह बन्धन में बँध गए ।

उसी समय बसन्तपुर में भगवान महावीर का आगमन हुआ कलिंग वासियों को उनकी अमरवाणी सुनाने के लिए । राजा वीरसेन उनके उपदेश से मुग्ध होकर पुत्र चित्रसेन को लौटा लाए एवं उसे बसन्तपुर का राजा बनाकर स्वयं दीक्षित हो गए । इसके पश्चात् पद्मावती के एक पुत्र हुआ ।

यह कहानी बहुत लम्बी है एवं कुछ रूपान्तर भी है । मैंने बहुत संक्षिप्त आकार में यह कहानी लिपिबद्ध की है । यह कहानी अंग्रेजी में भी अनुवादित हुई है ।

साहित्य के अतिरिक्त उड़ीसा के सांस्कृतिक जीवन पर भी श्रावक संस्कृति का प्रगाढ़ प्रभाव पड़ा है । डा॰ लक्ष्मीनारायण साहु के मतानुसार उड़ीसा की जगन्नाथ संस्कृति पर भी श्रावक प्रभाव है । उड़ीसा के जगन्नाथ मन्दिर में कोइलि बैकुण्ठ है । यह कोइली बैकुण्ठ शब्द श्रावक प्रभावजनित लगता है । श्रावक संस्कृति से जुड़े कैवल्य शब्द से ही आया है कोइलि, ऐसा डा॰ साहु का विचार है ।

अनेक लोग जगन्नाथ देव को ऋषभदेव का प्रतीक मानते है । ऋषभ संस्कृति ने ही जगन्नाथ की भाव कल्पना को जन्म दिया है । शायद इसीलिए उड़ीसा के भागवत और अन्यान्य पुराण ग्रन्थों में ऋषभदेव की कहानी आलोचित हुई है और उनके चरित्र को भी स्थान प्राप्त हुआ है ।

जगन्नाथ ऋषभदेव के ही प्रतीक है इसके बहुत से प्रमाण है । पुरी और भुवनेश्वर में आषाढ़ शुक्ला द्वितीया को एवं चैत्र शुक्ला अष्टमी को रथ यात्रा निकलती है । श्रावक संस्कृति में भी आषाढ शुक्ला द्वितीया तीर्थंकर ऋषभ के गर्भ कल्याणक का शुभ लग्न है । उनके जन्म दिन पर ही रथ यात्रा का उत्सव होता है । तीर्थंकरों का गर्भ संचार, जन्म, दीक्षा, ज्ञान प्राप्ति एवं मोक्ष प्राप्ति जिस तिथि को होती है उस तिथि को देवता भी स्वर्ग में उत्सव मनाते है । इन तिथियों में श्रावकगण चैत्ययात्रा कराते हैं । चैत्ययात्रा के साथ रथयात्रा का मेल है । इसमें चैत्य निर्माण कर उसमें जिनमूर्त्ति बैठाते हैं । फिर उसको लेकर नगर परिक्रमा देते हैं । यह रीति रथ यात्रा से प्रायः मिलती है । एतदर्थ रथ यात्रा की भाव कल्पना में श्रावक संस्कृति के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता ।

इसके अतिरिक्त उड़ीसा की शैव संस्कृति के क्रम विकास में भी श्रावक संस्कृति की कुछ देन है । भुवनेश्वर अंचल के बहुत से शिव मन्दिर श्रावक शिल्पियों द्वारा निर्मित हुए है । इन सब मन्दिरों के शीर्ष स्थान पर त्रिशूल है । त्रिशूल मात्र शैव संस्कृति से ही युक्त नहीं यह ऋषभनाथ की धर्म संस्कृति से भी युक्त है ।

उड़ीसा के लोक समाज में कल्पवृक्ष पूजा खूब जनप्रिय है । कहना नहीं होगा यह कल्पवृक्ष पूजा श्रावक संस्कृति से जुड़ी हुई है । उस समय की श्रावक संस्कृति बहुत से क्षेत्रों में भारतीय आर्य शिल्प संस्कृति के विकास का साधन बनी है । यहाँ तक कि अनार्य साहित्य और संस्कृति को भी श्रावक

संस्कृति की देन कुछ कम नहीं है । अतः केवल उडीसा ही नहीं समस्त भारत की आर्य और अनार्य संस्कृति को श्रावक संस्कृति का अनुदान मिला है ऐसा कहते हुए कह सकते हैं :

"The characteristic feature of Jainism is it's claim to universality. It also declares its objects to be to lead all men to salvation and to open it's arms not only to the noble Aryans but also to the low born Sudra and even to the alien deeply despised in India as the Mlechha." (G. Buhler).

१. हरिभद्रीय वृत्ति
२. पृ° ४१४-१७
३. Proceedings of Asiatic Society of Bengal, June 1969, pp. 170-74.
४. Sir Herbert Risley, The People of India, London, 1983, pp. 77-78.
५. Ballabhbhai, Jain Architecture.
६. बुद्धि विजय, Citrasen Padmavati Caritram, edited by Mulraj Jain.

❖❖❖

"महावीर स्वामी ने भारत में ऐसा सन्देश फैलाया कि धर्म केवल सामाजिक रूढ़ियों के पालन करने में नहीं किन्तु सत्य धर्म का आश्रय लेने से मिलता हैं । धर्म में मनुष्य के प्रति कोई स्थायी भेदभाव नहीं रह सकता ।"

— विश्वकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर

निर्ग्रंथ दर्शन और उसका पीठस्थान गिरिव्रज राजगृह के अस्तित्व के संदर्भ में ऋग्वेद

श्री हरिप्रसाद तिवारी
श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की पृष्ठभूमि पर जो दृश्य तथ्यों के आधार पर सर्वप्रथम सुस्पष्ट हो उठता है वह मगध है, जिसके सम्राट विम्बिसार के तीक्ष्ण राजनीतिक बोध व उदार धार्मिक चेतना की प्रभा के सामने दूसरे प्रान्तों के शासकगण थोड़े प्रभावहीन लगते हैं । मगध इस युग में अहिंसा प्रधान एवं यज्ञ संबंधित क्रिया कलापों के विरोधी दर्शन व धर्म-प्रचारकों का निर्बाध विचरण स्थल बना हुआ था जहाँ निर्ग्रन्थ, (जैन) बौद्ध, आजीवक आदि दर्शन के प्रचारकों ने अपने-अपने मतों का प्रचार किया एवं मगध की राजशक्ति की सक्रिय पृष्ठपोषकता पाते रहे हैं,— परन्तु यह जिज्ञासा उठती है कि क्यों मगध की राजशक्ति एवं उसके साथ मगध के आस-पास के कुछ गणराज्यों के शासक यज्ञ विरोधी दर्शन व धर्ममतों की अप्रत्यक्ष रूप से मदद करते थे? क्यों उन लोगों ने सनातन वैदिक विधि का उलंघन करने का साहस किया, जब ऋग्वेद संहिता में जो लोग यज्ञहीन निरव्रता[1], जो देवनिंदक[2], देवहीन[3], जिनकी क्रिया स्वतंत्र, जो अन्यव्रत[4], हैं, उनके प्रति प्रचण्ड घृणा और विद्वेष को पाला गया है? इनका इस वेद और यज्ञ विरोधी मतवाद के प्रचार के लिए ही संभवतः शास्त्रकार मनु ने मगध व अन्य श्रमण धर्म प्रभावित अंचलों के साथ संबंध विच्छेद करने अथवा प्रायश्चित करने का निर्देश दिया ।

जैन एवं बौद्ध शास्त्रों से इन अंचलों की तत्कालीन राजशक्ति, श्रेष्ठी व अपार जनसाधारण की इस धर्म में गम्भीर अनुराग एवं आग्रह देखकर समझा जा सकता है कि इसका उदय तत्काल ही नहीं हुआ बल्कि ये अहिंसा पर आधारित पथ से कर्मक्षय करके जन्म मृत्यु के बंधन से मुक्त होने का मतवाद विम्बिसार के बहुत पहले से ही इस अंचल में प्रचलित था । जैन धर्म के तेइसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जन्म मगध के पश्चिमी सीमा काशी[6]

(विम्बिसार के समय मगध के आधीन हुआ) में हुआ, जिसे इतिहासकारों ने वास्तव में इन्हें एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया हे ।[7] भगवान महावीर के माता-पिता पार्श्व के उपासक एवं श्रमण मतावलम्बी थे ।[8] महावीर के परिव्राजक जीवन के आरम्भ में ही पार्श्वनाथ पंथी श्रमणों के साथ उनका साक्षात्कार हुआ था । इस घटना का उल्लेख जैन साहित्य में मिलता है ।[9] पार्श्वनाथ के पूर्व बीसवें तीर्थंकर सुव्रत मुनि का जन्म स्थान राजगृह, बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य का जन्म स्थान इसी अंचल के चम्पानगरी में थां, जिसे बिंबिसार ने मगध के अधीन कर लिया था । इसके अलावा जैन तथा बौद्ध शास्त्रों में इन अंचलों में पाये जाने वाले अनेक समय पूर्व के चैत्यों एवं स्तूपों का उल्लेख रहने के कारण[10] निश्चित तौर पर यह कहा जा सकता है कि श्रमण धर्म का उद्‌भव एवं विकास बिम्बिसार के शासन काल से बहुत पहले हो चुका था ।

जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव की जीवनी से जाना जाता है कि भगवान ऋषभ ने ही उनके सम्प्रदाय को मिट्टी के पात्र निर्माण, वस्त्र निर्माण, कृषि व भिन्न-भिन्न तरह के शिल्प कार्य सिखाया ।[11] दूसरे शब्दों में कहा जा सकता कि सम्भवतः वे ही मानव सम्प्रदाय को आदिम युग से धातु युग में ले आए तथा इसी युगनिर्माता के द्वारा प्रदर्शित पथ पर एक विकासशील सभ्यता की नींव पड़ी । ऋषभ पुत्र चक्रवर्ती भरत ने छह दुकड़ों में बंटे भारत के साथ मगध को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया । परिणामतः श्रमण धर्म के विकास केन्द्र के रूप में मगध को एक उन्नतशील सभ्यता एवं सांस्कृतिक पीठ-स्थान कहने में कोई अतिश्योक्ति न होगी ।

रामायण, महाभारत महाकाव्यों में मगध व राजगृह के विभिन्न नामों का उल्लेख इनकी प्राचीनता को दर्शाता है । जैन शास्त्रों में इसका प्राचीन नाम ऋषभपुर या उषभपुर है । रामायण में 'वसुमति' और महाभारत में वृहद्रथपुर तथा मगधपुर नामों का उल्लेख मिलता है । श्रीमद्‌भागवत एवं महाभारत से मगधराज जरासन्ध की राजधानी, पाँच पर्वतों से घिरे गिरिव्रज की सुरक्षा व्यवस्था को जाना जा सकता है । संभवतः इन्हीं कारणों से कृष्ण एवं पाण्डव, जरासन्ध की, हत्या करने की गुप्त योजना बनाते हैं । भागवत पुराण के अनुसार 'कुरू' के पंचम अधःस्तन पुरूष 'वसु', वसु के पुत्र वृहद्रथ, एवं वृहद्रथ के पुत्र कुशाग्र और जरासन्ध । राजगृह की प्राचीनता के सम्बन्ध

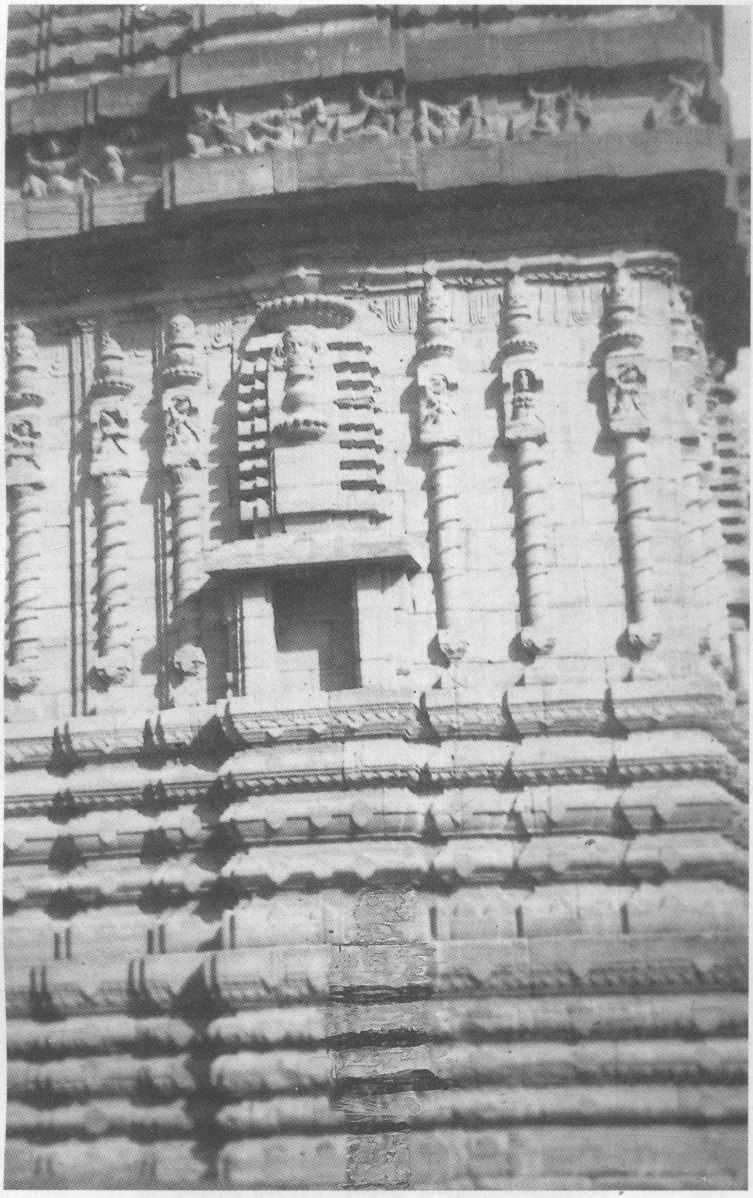

बराकर का सराक जैन मन्दिर

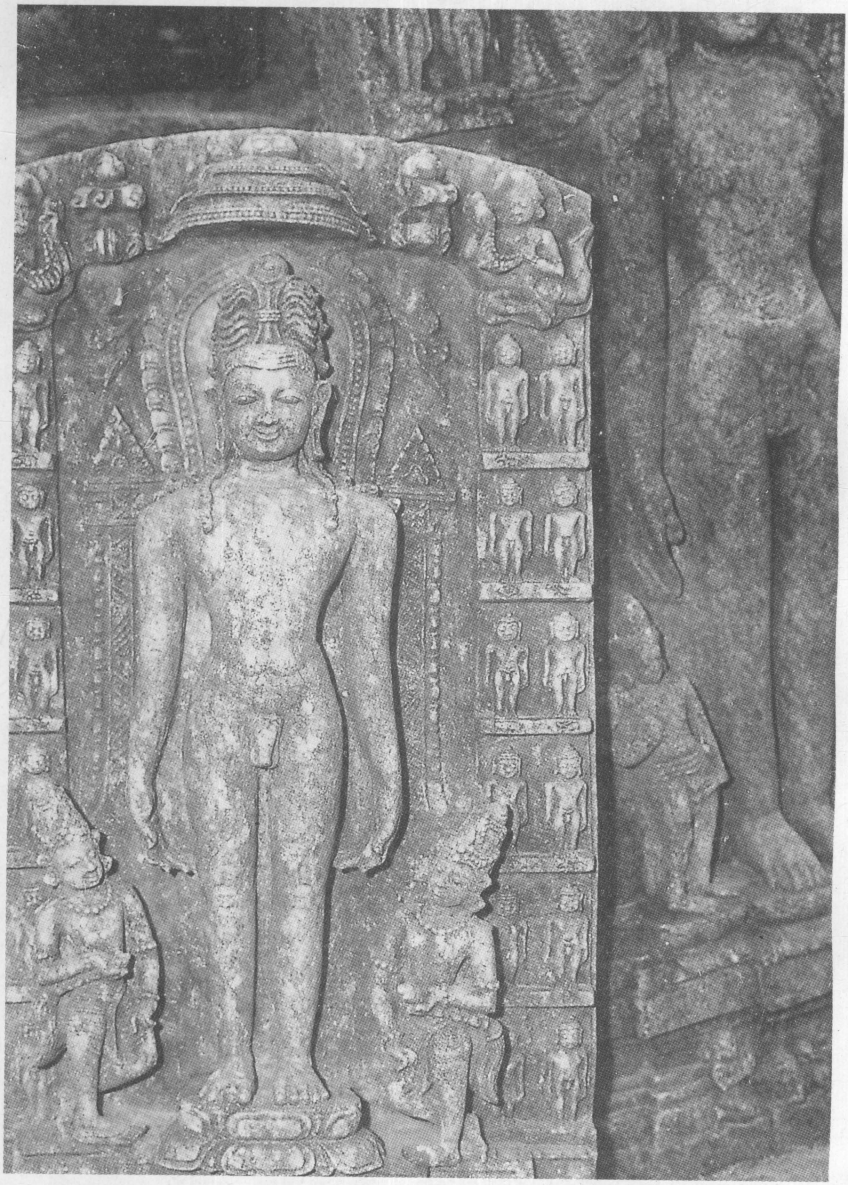

ऋषभनाथ पाकबिरा 10वीं शताब्दी

में श्रद्धेय ऐतिहासिक कनिंघम साहव का कहना है[12] ..... "Kusugrapur was the original capital of Magadha which was called Rajagrha of 'Royal Residence'. It was also named Girivraja on hill surrounded which agrees with the Hiuen Tsang's description of it as a town surrounded by mountains...Fa...Hien.... ..... states that the five hills from a girdle like the walls of a town, which is an exact description of old Rajagrha or Purani Rajagir as is now called by the people." पर्वतों से घिरे इस प्राचीन नगरी के चारों तरफ की दीवारों का उल्लेख कर उन्होंने कहा है— "The old walls forming the extertor line of the rampart are still to be seen in many places. I had traced them from Vipulagiri over Ratnagiri to the Nekpai embankment and thence onward over Udayaigiri across the southern outlet of the vally to Sonagiri. Across this outlet, the walls that are still in good order are...[13] feet thick"....इसके साथ ही देखा जा सकता है कि प्राचीन राजगृह की सुरक्षा प्राचीर, जिसने एक समय शत्रुओं के आक्रमण को रोका है वह आज भी महाकाल के साथ लड़ाई करते हुए अपनी विशालता का प्रमाण दे रहा है । प्रसंगतः कहा जा सकता है कि इतना प्राचीन व सुदृढ़ विशाल पुरी या दूर्ग का अस्तित्व भारतवर्ष की पुरातात्विक वस्तु का एक दुर्लभ एवं आश्चर्यजनक उदाहरण है । लेकिन इस विशाल सुरक्षित पुरी या दुर्ग के निर्माण की सामग्री, पटना या गया जि.लान्तर्गत मगध से एकत्रित करना बहुत ही कठिन कार्य था । ऐसा उस समय के किसी शक्तिशाली राजा के लिए ही सम्भव हुआ होगा ।

किन्तु यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि किस सम्पदा के बल पर मगध ने इतिहास के अन्जान काल से ही भारतवर्ष में साम्राज्य स्थापित करने की भूमिका निभाई थी । इसके उत्तर में प्रसिद्ध इतिहासकार डी॰ डी॰ कोसाम्वी की उक्ति उद्धृत की जा सकता है ।[13] – Magadha had something for more important : the metals, and proximity to the river.....Rajgir had the first immediate source of iron at its disposal. Secondly, it stradded (with Gaya to which the passage was through denser

forest) The main route to India's heaviest deposits of iron and copper, to the south cast in the Dhalbhum and Singhbhum districts.....thus Magadha had a near monopoly over the main source of state craft, canakya was fully aware of the importance of mining : The treasury depends upon mining, the army upon treasure Artha 2.12) : The mine is the womb of war materials (Artha 7.....) अर्थात् मगध की समृद्धि एवं निरन्तर विकास का स्रोत उसकी धातु-सम्पदा थी । प्राचीन इतिहास के धातु युग की स्थापना तथा प्रगति ताँबे के साथ हुई, जो परवर्ती काल में अपनी विशिष्ट भौतिक गुणवता के कारण मुद्रा धातु के रूप में परिवर्तित होकर मुद्रा निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया । मगध की दूसरी धातु-सम्पदा लौह थी, जिसका सन्धान परवर्ती काल में हुआ था तथा जिसका खनन और निष्कासन बहुत बाद में हुआ । फिर भी सभ्यता के विकास के क्षेत्र में विशेष कर भारतवर्ष के आस-पास की समतल भूमि, जो सघन वनों से आच्छादित थी, उसे काटकर उस भूमि को कृषि के अनुकूल बनाने में आवश्यक हथियार के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

मगध में इस धातु की प्रचुरता होने के कारण स्वभाविक रूप से यह आशा की जा सकती है कि धातु-युग के सूत्रपात के समय से ही यहाँ एक समृद्ध धातु-सभ्यता की स्थापना हुई थी जो परवर्ती काल में उन्नत एवं विकसित होकर मगध को अर्थ एवं बल के क्षेत्र में समृद्ध किया । चूंकि प्रत्येक सभ्यता की निजी संस्कृति, दर्शन अथवा धार्मिकचिन्तन होता है, इसीलिए इस क्षेत्र में मगध सभ्यता का भी एक विशेष दर्शन अथवा धर्मचिन्तन का अस्तित्व था ऐसी आशा की जा सकती है एवं इनका प्रभाव हमारे अतिप्राचीन साहित्य ऋग्वेद संहिता में अवश्य होना चाहिए ।

ऋग्वेद संहिता भारतवर्ष तथा संसार की एक प्राचीनतम साहित्यिक कृति है, जो हमें प्रायः चार हजार वर्ष पूर्व के भारत वर्ष की स्थिति से परिचित कराती हैं । यह संहिता किसी विशेष व्यक्ति या पुरूष की एकांगी साहित्यिक कृति नहीं बल्कि कई शताब्दियो से विभिन्न ऋषियों की मनीषा व चिन्तनों का सामूहिक परिणाम है । प्राथमिक रूप से इसकी सूक्तियाँ स्त्रोतो में रचित होने के बावजूद भी इसमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, भौगोलिक

एवं धार्मिक चिन्तनों के इतिहास के भिन्न-भिन्न उपादान पाए जाते हैं । दूसरे शब्दों में इसे तत्कालीन ऐतिहासिक उपादानों का पुरातात्विक भण्डार कहें तो अतिश्योक्ति न होगी ।

किन्तु मगध के इस महत्वपूर्ण बात पर विचार करके वैदिक संहिता में मगध की प्राचीन सभ्यता का अनुसंधानपूर्ण तथ्य आदि हम नहीं पाते हैं । केवल ऋग्वेद में उल्लेखित कीकटों[14] के नाम बहुत बाद के साहित्य, भागवत् पुराण[15] में मगध के साथ रहनेवाले इतिहासकारों ने, इनको मगध के निवासी के रूप में स्वीकार किया है ।

निम्नलिखित तर्कों को मानकर इस लेख में ऋग्वेद संहिता से प्राचीन गिरिव्रज केन्द्रिक मगध के तथा वहाँ के प्राचीन सभ्यता के निर्माण में अग्रणी जाति समुदाय के सन्धान में तथ्य आदि संग्रह करने का प्रयास किया गया है।

(क) चूँकि भारतवर्ष के ताम्र एवं लौह अयस्कों का अधिकांश भाग मगध के दक्षिणी सीमा में स्थित है एवं प्राचीन काल से ही इसका खनन एवं निष्कासन होता रहा है, इसीलिए, भारतवर्ष में धातु युग के प्रारम्भ से ही यहाँ धातु-सम्पन्न एक उन्नत सभ्यता का उद्‌भव तथा विकास हुआ था एवं इस सभ्यता के समुदायों अथवा मानव समुदाय का उल्लेख हमारे प्राचीनतम साहित्य ऋग्वेद संहिता में अवश्य होना चाहिए ।

(ख) चूँकि मगध की धातु-सम्पदा से इन अंचलो की समृद्धि एवं प्रचुरता का स्वभाविक तौर पर अनुमान लगाया जा सकता है, इसीलिए यहाँ के निवासी उस समय के भारतवर्ष के अन्य अंचलों के निवासियों की तुलना में आर्थिक रूप से कहीं अधिक सम्पन्न थे ।

(ग) बिम्बिसार के पूर्ववर्ती काल से ही इस प्रान्त में यज्ञ तथा अन्य वैदिक क्रिया-कलाप विहीन अहिंसात्मक श्रमण दर्शन या धर्म का विकास या उसके प्रसार के लिए उर्वर क्षेत्रों का होना और सभ्यता के आदि युग से जैन तीर्थंकरों का अवाध विचरण का क्षेत्र होना, जिससे इसे श्रमण अथवा निर्ग्रन्थ (जैन) दर्शन या धर्ममत को प्राचीन मगध सभ्यता का आदि धर्ममत कहा जाता है एवं इसका उल्लेख ऋग्वेद संहिता में होने की आशा की जा सकती है ।

(घ) इनकी सम्पदा एवं समृद्धि के लिए सप्तसिन्धु के वैदिक आर्यों की

ईर्ष्या व द्वेष तथा साथ ही इनका दर्शन एवं धर्ममत के ऊपर इनकी कटुक्ति का उल्लेख ऋग्वेद में होना चाहिए ।

(ङ) इनकी धन-सम्पति हथियाने के लिए मगध की प्राचीन राजधानी पर सप्तसिन्धु के निवासियों का आक्रमण करना अस्वाभाविक नहीं था एवं यदि कुछ ऐसा घटित हुआ होता तो इसका उल्लेख अवश्य ही ऋग्वेद में होता ।

उपर्युक्त बातों को आधार बनाकर ऋग्वेद संहिता पर दृष्टिपात करने पर एक जाति विशेष हमारा ध्यान आकर्षित करती है जो हिरण्य और मणि द्वारा शोभायमान थी[16] व्यवसाय में दक्ष[17] जो रूप और सन्तान पर गर्व करती है,[18] जो धनी,[19] जो खाने-पीने में रूचिसम्पन्न,[20] जो धन की खोज में सामुद्रिक यात्रा करते,[21] लेकिन वे इन्द्र को नहीं मानते,[22] जो देवहीन थे,[23] यज्ञोविहीन,[24] जो देव निन्दक,[25] जो ऋषियों को दान नहीं देते,[26] जिनका दर्शन भी देवविहीन है ।[27]

सप्तसिन्धु के वैदिक गणों का रूख इनके प्रति शत्रुतापूर्ण था । फिर भी वे लोग अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा उनकी कोई क्षति करने में भी समर्थ नहीं थे और निरूपाय होकर ईश्वर प्रार्थना करते– जो लोग धन-धान करते हैं उनका संहार करो, जो हमारे विरूद्ध आचरण कर हमारे ऊपर अस्त्रो का प्रहार करते हैं वे हमारे मालिक (प्रभु) न हों,[28] ऋषियों के प्रति द्वेष रखने वालों को अपना कोप-भाजन बनाओ ।[29] जो व्रत रहित हैं और जो सोमाभिषेक नहीं करते उनका बधकरो[30] यज्ञ-परायण को यज्ञ हीनो का धन प्राप्त हो,[31] जो होम नहीं करते वे वलहीन ही, जो वेद से भिन्न व्रत पालन करें वे तुम्हारे द्वारा दण्डित हों,[32] देवहीनों और विरोधियों का बध करों[33] पणियों का नाश करों[34] इत्यादि विविध तरह की व्याकुलता पूर्वक की गयी प्रार्थना ।

ऋग्वेद में इन समृद्ध मनुष्यों को साधारणतया 'पणि' नाम से अलंकृत किया गया है । इन समृद्धशाली पणियों से ही सम्भवतः हमारी प्राचीन मुद्रा का नाम पण एवं वाणिज्य संसार का नाम पण्य हुआ ।[35] इसी से समझा जा सकता है कि भारतवर्ष के प्राचीन युग में मुद्रा धातु के निर्माण के लिए आवश्यक ताम्र धातु सम्पदा अधिकार में थी एवं भारतवर्ष की तत्कालीन अर्थ व्यवस्था में इनकी मुद्राओ का अत्यधिक महत्व था । चूँकि साधारणतः

धातु-सम्पन्न लोग हमेशा ही कृषि पर आश्रित लोगों की अपेक्षा कही अधिक समृद्ध एवं सम्पन्न होते है । इसीलिए पण या मुद्रा समृद्ध पणिगण सप्तसिन्धु के (कृषि-निर्भर) लोगों की तुलना में समृद्ध होते थे और यही ईर्ष्या व द्वेष का कारण होता ।

पणियों के मूल निवास के स्थान के संबंध में ऋग्वेद से तथ्य इत्यादि मिलता है कि ये सप्तसिन्धु के अंचलो के सादृश्य नवनवटी के उस पार प्राच्य देश के निवासी थे । इन्द्र से नवनवटी नदी के पार के प्रास्य (प्राच्य) देश के यज्ञहीन लोगों से उनके कर्त्तव्य पालन करवाने की प्रार्थना की गई है । (बहु आलोचित मेगस्थनीज द्वारा वणित प्रास)[36] प्राच्य देश के इन धनिकों को अन्यत्र प्रासहारचि[37] कहा गया है । एवं धन के लिए प्राच्य देश को सही मार्ग दिखाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है ।[38] धन के लालच में फरसाधारी योद्धाओ के प्राच्य देश में गमन करने का[39] व प्राच्य देश के धन की प्राप्ति के लिये स्तुति करने वालों के सम्पन्न होने का उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है । इसी प्राच्य भूमि की मिट्टी को अरूण वर्ण (लाल मिट्टी) कहा गया है ।[40]

ऋग्वेद में प्रायः प्रत्येक सप्तसिद्ध ऋषि-मुनियों की सूक्तियों में पणियों का उल्लेख अवश्य है एवं इनको वश में करने के उद्देश्य से ऋग्वेद में समग्र एक सूक्ति की रचना की गई है ।[41] सप्तसिन्धु के वैदिक आर्यो के साथ पणियों का संघर्ष दीर्घस्थाई होने पर भी वैदिक गण इन लोगों को सिर्फ एक बार पराजित करने में सफल हुए थे एवं बहु प्रतीक्षित इस विजय को चिरस्मरणीय करने के उद्देश्य से वे ऋग्वेद में प्रायः एक ही तरह के शब्दों से विजय गाथा की रचना की है ।[42]

पणिगणों के विरूद्ध इस आक्रमण का नेतृत्व वृहस्पति, अगस्य, नवगबू, दशगबू, व अंगीरा इत्यादि प्रसिद्ध सप्तऋषिगणों ने किया था । अवश्य ही इस आक्रमण के पूर्व उन लोगों ने पराधीनता स्वीकार करने या पूर्ण समर्पण करने का प्रस्ताव देकर सरमा नामक दूती को प्राच्य के पणिको के पास भेजा । पणिको के निवास स्थान पर सरमा के साथ पणिकों के वार्तालाप का अति रोचक ढंग से ऋग्वेद में वर्णन है ।[43] इस वर्णन से ही ज्ञात होता है कि पणियों की पुरी (संभवता राजधानी) पणिगणों द्वारा सम्मिलित रूप से परिचालित होती थी । ऋग्वेद में अन्यत्र सोमाभिषवहीन संसद को ध्वंस करने की प्रार्थना भी मिलती है ।[44] उपयुक्त बातों से जाना जाता है कि पणियों

ने सरमा की सादर अभ्यर्थना की, साथ ही उनकें आश्रय में रहने के लिए अनुरोध किया एवं तरह-तरह के उपहारों का प्रलोभन देकर उनसे मित्रता करनी चाही । लेकिन सरमा ने वृहस्पति, अगस्य इत्यादि जैसे अत्यंत शक्तिशालियों के संभावित आक्रमण से रक्षा पाने के लिए बिना युद्ध के उनकी अधीनता स्वीकार करने अथवा कहीं दूर पलायन करने की सलाह दी । इसके उत्तर में पणिगणों ने स्पष्ट वीरोचित भाषा में कहा कि वे लोग भी पर्याप्त शक्तिशाली हैं, उनके पास भारी संख्या में कुशल योद्धा तेज अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित सुरक्षा के लिए नियुक्त है एवं युद्ध के लिए पर्याप्त धन-सम्पदा भी उनके पास है ।

पणियों की पुरी (दुर्ग) के संबंध में ऋग्वेद में पता चलता है कि ये दुर्भेद्य पर्वतों से घिरा हुआ है और तीन सुदृढ़ कृत्रिम द्वारों द्वारा सुरक्षित है एवं दुर्ग की किसी गुप्त गुहा में पणियों की धन-सम्पति सुरक्षित थी ।[46] बल नामक पणि को इसकी सुरक्षा का दायित्व दिया गया था ।[47]

प्राच्य देश का यह भू-भाग सप्तसिन्धु के तत्कालीन निवासियों द्वारा परिचित न होने के कारण इनको गुप्त संकेत पर आश्रित होकर पहुँचना पड़ा था और युद्ध में धन-सम्पति जीतने के बाद उन्ही संकेतों पर निर्भर रह कर वे लौटे थे ।[48] पणिकों की पुरी को सहज रूप में वे अपने अधिकार में नही कर पाए । प्रायः एक वर्ष के बाद उन लोगों को सरमा की सहायता (दूती के कार्य में संलग्न रहने के कारण सरमा पणियों की पुरी से भलीभांति परिचित थी ।)[49] से पुरी के पश्चिमी भाग के किसी दुर्बल हिस्से का अथव। किसी द्वार का पता चला ।[50] रात के अंधकार में वृहस्पति के नेतृत्व में उन लोगों ने पुरी के पश्चिमी भाग को ध्वंस (तोड़) कर दुर्ग में प्रवेश कर विध्वंस का निर्मम ताण्डव शुरू किया एवं पणियों के सामने ही गुहा में संचित समग्र धन राशि (सोना-चाँदी) लूट ली ।[51] वृहस्पति द्वारा परिचालित पणियों के इस धन भण्डार को लूटने की तुलना इस युद्ध के अन्यतम नायक अगस्य ऋषि ने खलिहान से अन्न निकालने से की है ।[52] अंत में इन लोगों ने इस पुरी में आग लगा दी । इस बहु प्रतीक्षित विजय को यादगार बनाने के लिए उन लोगों ने इससे थोड़ी दूरी पर इन्द्र के लिए दीप्तिमय स्थान ढूँढकर उस स्थान पर इन्द्र-स्तम्भ स्थापित किया ।[54] इस युद्ध में मदद के लिए उन्होंने सरमा को एवं उसके पुत्रो को प्रचुर मात्रा में धन-सम्पत्ति प्रदान की ।[55] पणियों के

पर्वतों से घिरे इस सुदृढ द्वारयुक्त दुर्भेदय पुरी को ऋग्वेद संहिता में गोव्रज,[56] अश्वव्रज[57] इत्यादि नामों से चिन्हित किया गया है परन्तु इस युद्ध के सशक्त नायक ऋषि अगस्य ने अपने द्वारा रचित सूक्ति[58] में इसे गिरिव्रज नाम से चिन्हित किया है । पणियों के निवास स्थान तथा उनके पुरी के संबंध में ऋग्वेद संहिता से प्राप्त इस प्रबन्ध में तथ्यों के आधार पर पणियों के इस पर्वत से घिरे दुर्ग को हम गिरिव्रज के नाम से ही चिन्हित कर रहे हैं ।

ऋग्वेद में वर्णित सरमा तथा पणियों के बीज इस वार्तालाप को (ऋग्वेद (10/108/समग्र) इतिहासकारों ने विशेष महत्व नहीं दिया बल्कि सरमा को देवकुक्करी के रूप में परिणत कर इसे एक प्रहसन के रूप में चित्रित किया है । इस तरह की महत्वपूर्ण आलोचना केवल तीक्ष्ण बुद्धि सम्पन्न कुटनीतिज्ञों या दूतों अथवा एक राजशक्ति द्वारा ही संभव हो सकती है ।

यद्यपि ऋग्वेद में कुत्ता के लिए 'सारमेष' शब्द का व्यवहार हुआ है[59] लेकिन सप्तऋषियों के दूत के कार्यों के लिए नियुक्त सरमा के सन्तानों के संबंध में सरमेष न कहकर 'सरमातनय' कहा गया है ।[60] ऋग्वेद में जीवजन्तुओं को मनुष्य की तरह बोलते चित्रित किया गया है । ऐसा दृष्टान्त अन्यत्र नहीं मिलता ।

सरमा का अर्थ अगर कुत्तिया (कुक्कुरी) ही होता तब परवर्ती साहित्यों में सम्भ्रान्त नारियों के नामकरण में 'सरमा' शब्द का उपयोग नहीं होता ।

महाभारत कालीन जरासन्ध के शासनकाल में उसके राजमहल को, जो पर्वत-विशेष कवच की तरह उसकी रक्षा करता था, शत्रुओं के आक्रमण से सतर्क करता, जिस गिरि का बिगुल गूँज उठता और अपने वैभव के कारण जो पर्वत-विशेष बहुत दूर से ही सुशोभित होता उसी पर्वत से घिरे मगध के राजमहल गिरिव्रज को ऋग्वेद में उल्लेखित यज्ञहीन तथा देवहीन दर्शन में विश्वासी, सुसभ्य, धन-समृद्ध पणियों की राजधानी के रूप में हम जानते हैं।

ऋग्वेद में वर्णित इस विराट युद्ध के विशेष ज्ञान तथा पुरातात्विक संधानों पर ध्यान देने से देखा जा सकता है कि युद्ध के नायक सप्तर्षियों की स्मृति को लेकर यहाँ का एक सूखा झरना, जिनका नाम सप्तर्षि कुण्ड है । प्राचीन राजगृह के पूर्वी पार्श्व में अभी भी वह स्थान है जहाँ इस युद्ध के विजय की घटना को अमर करने के लिए इन्द्र स्तम्भ स्थापित किया गया था, जिसका नाम आज भी इन्द्र शिलागृह एवं गृध्रकूट पर्वत है । (ऋग्वेद में गृध्र को इन्द्र

का प्रतीक कहा गया है ।)[61] गिरिब्रज के किसी एक अन्धकार गुफा से पणियों की गुप्त सम्पदा के भण्डार को लूटने की बात, जो ऋग्वेद में कई बार कही गयी है, उसे हमलोग आज सोन भण्डार (स्वर्ण-भण्डार) या कैनिंगहम की भाषा में Treasury of Gold के साथ संबंधित मानते हैं । यहाँ के सप्तपणि गुफा जिसे सप्तपर्णी गुफा कहा जाता है, वह सम्भवतः तत्कालीन पणियों की स्मृति को वहन करती है ।

इस युद्ध के आघात से पणिगण बहुत थोड़े समय में ही उबर गए और तत्कालीन भारतवर्ष की राजनैतिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि में बहुत ही जल्द अपने खोए हुए गौरव को प्राप्त कर लब्ध प्रतिष्ठित हुए थे । इसके फलस्वरूप परवर्ती वैदिक ऋषियों ने निरूपाय होकर वैदिक सूक्तियों में पणियों के लिए मंगल कामना की है तथा पणियों के दान करने की प्रवृति की प्रशंसा करते हुए 'दानस्तुति' की रचना की ।[62] लेकिन इससे भी अंततः रक्षा नही हुई । राजशक्ति के पृष्ठपोषक के अभाव में ही सम्भवतः ऋषियों की सूक्ति रचना का अवसान हो गया ।

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि ऋग्वेद की रचना के पहले से ही मगध प्रदेश में एक उन्नतशील सभ्यता एवं संस्कृति तथा यज्ञ-विरोधी दर्शन व धर्ममत का उद्भव और विकास हुआ थो जिसे अति प्राचीन निर्ग्रन्थ धर्म के (जो वस्तुतः यज्ञ एवं हिंसा विरोधी है तथा जिसमें देवताओं की विशेष भूमिका नहीं है) साथ अभिन्न माना जाता है ।

पार्श्वनाथ के पूर्ववर्ती जैन धर्म एवं उसके तीर्थंकरो को इतिहासकार श्रमणाभाव जनित तर्कों के आधार पर स्वीकार करना नहीं चाहते, फिर भी वस्तुतः निर्ग्रन्थ व जैन धर्म का सबसे बड़ा प्रमाण ऋग्वेद संहिता है ।

श्रद्धेय इतिहासकार पुरातत्ववेता, अनुसन्धान कर्त्ता एवं जैन धर्म के प्रति आग्रही सुधीजनोंसे इस विषय को महत्वपूर्ण ढंग से देखने का अनुरोध करते हैं । क्योंकि पुरातन निर्ग्रन्थ धर्म और दर्शन की केन्द्रभूमि व पीठस्थान गिरिब्रज, हमलोगों को सिन्धु सभ्यता एवं बाद की आर्य सभ्यता के विस्तृत तथा विलुप्त सूत्रों का पता देता है ।

1. ऋग्वेद, 1-33-5, 1-174-8, 7/6/3
2. '' 2-23-8
3. '' 2-23-12

4. '' 10-23-8
5. अंग बंग कलिंगेषु सौराष्ट्र मगधेषुच तीर्थयात्रा
विना गच्छन् पुनः संस्कारमहति — मनु स्मृति
6. डॉ विमलाचरण लाहा, प्रबन्ध माला, प्रकाशक भारत विद्या बिहार
7. ऋग्वेद पृ - 94
8. डॉ विमलाचरण लाहा, लिच्छवि जाति पृ° 75
9. हेमचन्द्र, त्रिशष्टि शलाका पुरूप चरित्र खण्ड 4, पृ- 48
10. डॉ. वि. सी. लाहा, लिच्छवि जाति पृ- 73-75
11. डॉ. वि. सी. लाहा, प्रबन्धमाला पृ- 91-92
13. Cunningham, an Ancient Geography of India P.- 390
14. Kosambi, D.D., An Introduction to the study of Indian History, P-155
15. ऋग्वेद, (3-53-13)
16. श्रीमद्भागवत, (1-3-24)
16. ऋग्वेद, (1-33-8)
17. '' (1-33-3, 5-34-7)
18. '' (5-34-3)
19. '' (4-25-7)
20. '' (6-51-14)
21. '' (1-48-3)
22. '' (5-2-3)
23. '' (2-23-12)
24. ऋग्वेद, (7-6-3, 1-33-5, 1-174-8)
25. '' (2-23-8)
26. '' (1-36-15=16, 10-60-6)
27. '' (5-2-9)
28. ऋग्वेद, 6/61/1, 1/36/16
29. '' 1/39/10

30. '' 1/176/4, 1/175/3, 1/33/5
31. '' 2/26/1
32. '' 5/20/2
33. '' 2/23/8
34. '' 6/61/1, 1/182/3, 1/184/2
35. '' Kosambi, D.D. An Introduction to the study of Indian History. P- 72.
36. ऋग्वेद, 1/80/8, 1/129/13 .
37. '' 5/23/1
38. '' 2/26/4
39. ऋग्वेद, 7/83/1
40. '' 6/47/19
41. '' 6/53/3-8
42. ऋग्वेद, 1/6/5, 1/11/5, 1/62/2-3, 1/79/2, 2/15/8, 2/24/2, 6/14 3/30/10, 3/31/15, 6/17/5, 6/73/3, 8/14/8 इत्यादि
43. '' 10/108/समग्र सूत्र
44. '' 8/14/15
45. '' 2/15/8, 2/24/3, 3/31/6, 4/1/15, 10/67/5
46. '' 1/112/18, 2/24/6
47. '' 2/14/3, 10/67/6, 2/62/2
48. ऋग्वेद, (2/24/6)
49. '' 10/62/2
50. '' 3/31/6, 5/45/8
51. '' 10/67/5-7
52. '' 10/68/3
53. '' 2/24/7
54. '' 3/31/12
55. ऋग्वेद, 3/31/6

56. ऋग्वेद, 3/30/10, 4/1/15, 6/73/3
57. '' 4/1/13
58. '' 10/68/1
59. '' 7/55/1, 10/14/10
60. '' 1/62/3
61. ऋग्वेद, 2/42, 2/43
62. ऋग्वेद, 5/61/6-10, 6/45/31, 32, 33.

"बोद्धिक चिन्तन में जैन दर्शन सर्वोपरि हैं ।"

— दिनकर

"महावीर स्वामी ने जन्म-मरण की परम्परा पर विजय प्राप्त की थी, उनकी शिक्षा विश्व मानव के कल्याण के लिये थी ।"

— आचार्य नरेन्द्रदेव

बंगाल सीमान्त पर बसा सराक सम्प्रदाय

श्री श्यामचन्द मुखोपाध्याय

आधुनिक पश्चिम बंगाल के विस्तृत इलाकों अर्थात् पश्चिमी जिला समूहों और बिहार के पूर्वी जिलों में जैनी सराक आज भी निवास करते हैं। अनेकों का मानना है कि बंगाल की सीमावर्ती अंचलों अर्थात् मानभूम (आधुनिक पुरूलिया और धनबाद जिले) राँची, सिंहभूम इत्यादि में जितने भी प्राचीन मन्दिरों और मूर्तियों (जैनी मूर्त्तियों) की खोज हुई है, उनके निर्माता ये सराक ही थे। इसके अलावा भी बंगाल के कुछ जिलों में जितने भी ताम्र खदान नजर आते हैं उन सारे खदानों में इस सम्प्रदाय के लोग ही ताम्र निष्कासन किया करते थे। 'सराक' शब्द के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसकी उत्पत्ति संस्कृति के 'श्रावक' और प्राकृत के 'सावग' शब्द से हुई है।

भारतवर्ष के प्राचीन धर्मों में जैन धर्म या निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म का, अपना एक विशेष स्थान है। दूसरे धर्मों की तरह इस धर्म में भी सन्तों की चली आ रही एक लम्बी परम्परा आज भी मौजूद है। जैनगण अपनी उपासनाओं में जिन पाँच परमेष्ठियों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हैं, वे हैं– अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। जैनी संघ साधारणतः दो भागों में विभक्त है– यति या मुनि और श्रावक या उपासक। यतिगण जितेन्द्रिय एवं उपवास, मौनधारण तथा कठिन साधनाओं के अभ्यस्त होते हैं। अनिच्छा से भी (श्वाँसो के माध्यम से कीट-पतंग का विनाश हो जाता है) किसी प्राणी के प्रति हिंसा न हो जाए, इसीलिए वे लोग अपने मुंह और नाक को एक सूक्ष्म वस्त्र से ढके रहते हैं[1] तथा बैठने के पहले भी यत्नपूर्वक उस स्थान को कपडे के टुकडे[2] से साफ कर लेते हैं। जैन मन्दिरों में पूजा अर्चना ये ही करवाते हैं।[3] आमतौर पर इन्हें गृहस्थ धर्म से विमुख सन्यासी कहा जाता है। पर केवल इन सन्यासियों से ही किसी धर्म को पूर्णता नहीं मिलती या उसका प्रचार-प्रसार नहीं होता, इन्हीं कारणों से, जो सन्यासी नहीं थे अर्थात् गृहस्थ थे, उन्हें भी जैन धर्म के प्रति रूचि पैदा हो, इसीलिए महावीर ने जैन संघ में उनके लिए एक विशिष्ट स्थान निर्धारित कर दिया।[4] यद्यपि

अभी भी इस पर मतभेद है कि गृहस्थों के लिए सर्वप्रथम जैन संघ में किसने स्थान निर्धारित किया ? अनेक पण्डितों का कहना है कि इसका श्रेय २३वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को मिलना चाहिए । २३वें तीर्थंकर ही इस श्रेय के अधिकारी हैं, इसमें सच्चाई होने के बावजूद भी महावीर ने जितने व्यापक रूप से गृहस्थों को जैन धर्म में स्थान दिया, इसमें शंका की कोई गुंजाइश नहीं है । महावीर ने नारियों के लिए भी जैन संघ का द्वार मुक्त किया, यह उनका दुसरा और विशेष योगदान कहा जा सकता है । जैन ग्रन्थों में तथा कुछ जैन धर्मों के शिलालेखों में श्रमण और श्रावकों का उल्लेख मिलता है । जैन धर्म का प्राचीन नाम निर्ग्रन्थ धर्म या निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म है । श्रमण शब्द जैन सन्यासी के लिए तथा श्रावक साधारण जैन उपासकों या गृहस्थों के लिए प्रयुक्त हुए हैं ।

जैनियों के विचार में चारों तीर्थों में श्रमण और श्रावक का विशेष स्थान है । (विशेष कर दो तीर्थ)[5] अनेक जगहों पर श्रमण और श्रावक दोनों शब्दों का व्यवहार एक साथ ही मिलता है । इसी तरह श्रमण और श्राविका शब्दों का भी व्यवहार एक साथ देखा जाता है । मथुरा के निकट कंकाली टीला नामक स्थान पर एक तोरण लेख की खोज हुई है जिसमें श्रमण महारखित(महारक्षित ?) का शिष्य श्रावक उतर दासक (उत्तरदासक) द्वारा प्रसाद तोरण के निर्माण कां उल्लेख है । मथुरा के ही एक और प्रस्तर स्तम्भ में भी किसी वल हस्तिनी (विमल हस्तिनी) नामक श्रमण श्राविका का उल्लेख खुदी हुई लिपि में किया गया है, जो काफी तात्पर्यपूर्ण लगता है । इस लिपि के अक्षरों को देखकर अनुमान किया जाता है कि यह ई॰ पू॰ पहली शताब्दी का है । मथुरा का ही एक और शिलालेख जो पहली शताब्दी का है, उसमें किसी गृहवधु अमोहिनी नाम श्रमण श्राविका द्वारा एक 'आर्यवती' या 'आयागपट' उत्सर्ग करने की बात लिखी हुई है । वस्तुतः मथुरा से प्राप्त अनेक शिलालेखों में जैन गृहवधुओं द्वारा धार्मिक दान या उत्सर्ग करने की बात लिपिबद्ध की गई है । श्रमण श्राविका का वास्तविक अर्थ क्या हो सकता है— श्रमण या सन्यासी की शिष्या श्राविका या पहले जो श्राविका थी बाद में वही श्रमणी के पट पर आसीन होकर विभूषित हुई ? इसके सम्बन्ध में हम निश्चिन्त तौर पर कुछ नहीं कह सकते हैं ।

श्रावक, श्राविकाएँ साधारण उपासक या उपासिका के रूपों में अनेक

तरह से जैन धर्म के आचार अनुष्ठान का पालन करते हैं । इनके दिनचर्या में शामिल आवश्यंक कर्त्तव्यों में मुनिपूजा, यति-भक्ति, चातुर्मास अभ्यास, जिहा-मन-कर्मों [6] पर नियन्त्रण, विशेष ऋतुओं में पुष्प, अधपका फल-मूल, मधु, लवण इत्यादि का वर्जन, शुद्ध जल पान, प्रतिदिन किसी जैन मन्दिर में जाना, तीर्थंकरो की मूर्ति का दर्शन, परिक्रमा, देवता प्रणाम, फल आदि से निवेदन और अन्त में अर्हत्, साधु, सिद्ध, उपाध्याय तथा भक्तों के प्रति श्रद्धा प्रकट करना उल्लेखनीय है । 'श्रावक' शब्द का व्युत्पति पाक अर्थ है श्रवणकारी अर्थात् जो धर्ममतों की व्याख्या श्रवण करते हैं । जैन धर्म की तरह बौद्ध धर्म में भी श्रावकों का स्थान निर्धारित है अर्थात् इस धर्म में भी 'श्रावक' शब्द का बहुत ही प्रचलन है । प्रसिद्ध जर्मन वार्जेस साहब, जो भारत-तत्ववेता हैं, के अनुसार अगर जैन धर्म को श्रावक सम्प्रदाय कहा जाए तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी । वस्तुतः जैन धर्म की नींव ये श्रावकगण ही हैं ।

जैन ग्रन्थों तथा प्राचीन कुछ शिलालेखों में श्रावकों का उल्लेख किया गया है । मथुरा के पहली शताब्दी के एक शिलालेख में भी किसी श्रमण-श्राविका का उल्लेख मिलता है । इसी प्रसंग में एक और शिलालेख का उल्लेख किया जा सकता है पर यह बहुत ही बाद का है । पश्चिम बंगाल के पुरूलिया जिला में पाकविरा नामक स्थान पर एक मूर्ति मिली है, जो अनुमानतः दसवीं शताब्दी की है, उसके पैर में उत्कीर्ण लिपि में किसी पुष्य सिंह नामक जैन का उल्लेख किया गया है । मूर्ति जैन तीर्थंकर शान्तिनाथ की है । इस शिलालेख से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दसवीं शताब्दी में भी पुरूलिया जिला में श्रावकों का अस्तित्व था । मध्ययुग में पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा में सराक या साराक नामक सम्प्रदाय की विशेष परम्परा रही है । आज इनकी संख्या नगण्य है ।

पश्चिम बंगाल में पुरूलिया बाँकुड़ा, वीरभूम और बर्दमान जिलों में, बिहार के धनबाद, सिंहभूम और राँची जिलों में और उड़ीसा के मयूरभंज तथा पुरी जिलों में सराक या साराक सम्प्रदाय का निवास रहा था एवं अभी भी इनकी कुछ संख्या है । फिलहाल स्वतंत्र रूप से इनकी कोई निजी पहचान नहीं है । ये अभी हिन्दू समाज के आवर्त में फँस गए हैं यह कहना कोई अतिश्योक्ति न होगी । बची खुची जो कुछ भी इनकी अपनी पहचान है वे

हैं— अहिंसा नीति में विश्वास, निरामिष भोजन, एवं अपने सम्प्रदाय के आचार-अनुष्ठानों का पालन इत्यादि ।

अब यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ये सराक क्या पश्चिम बंगाल, बिहार और उड़ीसा के आदिवासी हैं या फिर सुदूर पश्चिम या उत्तर भारत के किसी क्षेत्र से इनका आगमन पूर्व उल्लेखित राज्यों में हुआ था । इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए अनेक पण्डितों ने विस्तृत ढंग से खोज की है, एवं इनके नेताओं (मुखिया) से भी बातचीत की पर कोई सही उत्तर नहीं मिल पाया । पर जनश्रुति यह है कि ये पहले शिखरभूम और पंचकोट अंचलों में निवास करते थे, आगे चलकर नाना कारणों से इन्हें इन अंचलों से दक्षिण-पश्चिम की तरफ (पुरूलिया के पश्चिमी क्षेत्र,राँची और सिंहभूम) चले जाने के लिए बाध्य होना पडा । यद्यपि पूरूलिया, राँची और सिंहभूम जिलों के बड़े-बुजुर्गों का कहना है कि उनके पूर्वज कभी उत्तर प्रदेश के सरयुनदी के तटवर्ती क्षेत्र जो आज गाजीपुर के नाम से जाना जाता है, के वासी थे, वहीं से धलभूम पंचकोट और शिखरभूम आये । मेजर टिकेल का कहना है कि सराकगण शिखरभूम और पंचकोट अंचल होते हुए सिंहभूम गये । ऐसा सुना जाता है कि सिंहभूम के सराक आर्थिक रूप से काफी सम्पन्न थे एवं उनमें से कुछ ताम्र-खदानों के मालिक भी थे । धलभूम में ये सराक अपना स्थायी निवास नहीं बना पाये थे, क्योंकि तब धलभूम के राजा 'मान' थे जो बहुत ही दुश्चरित्र थे एवं सराकों की गृहवधुओं का शील-हनन भी किया । यही कारण था कि उन्हें बाध्य होकर पंचकोट अंचल में चले जाना पड़ा ।

राँची अंचल में यह जनश्रुति है कि सराकों का पहला निवास उड़ीसा के पुरी जिलांतर्गत उग्रा नामक स्थान में था बाद में ये जंगल के रास्ते सिंहभूम, राँची इत्यादि अंचलों में चले आए । अभी भी उड़ीसा के पुरी और मयूरभंज जिलों में कुछ सराकों की संख्या है पर उनमें से अधिकांश ही बौद्धधर्म को मानने लगे हैं । कुछ सराकों का निवास राँची के करीब ही लोहरदग्गा अंचल में है । ये कुछ दिनों पहले तक भी 'वृत्तभण्डार' के नाम पर कुछ मात्रा में लगान दिया करते थे । बर्धमान और वीरभूम जिलों के सराकों के मुखिया और बड़े-बुजुर्ग वृद्धों का कहना है कि उनके पूर्वज व्यवसाय इत्यादि की सुविधा को ध्यान में रखकर बहुत पहले ही गुजरात छोड़कर बर्धमान और वीरभूम अंचलो में चले आए थे । इनके सम्बन्ध में एक बात

पश्चिमी बर्धवान में काफी प्रचलित है कि ये किसी राजा द्वारा मन्दिर निर्माण के उपलक्ष में बंगाल आमन्त्रित किए गये थे और फिर विभिन्न कारणों से यहीं बस गये । पन्द्रहवीं शताब्दी में संकलित 'भविष्य पुराण' के ब्रह्माण्ड खण्ड के अंतर्गत वराहभूम, शिखरभूम और तुंगभूम ताम्रखदानों की स्थिति, राजपूत अधिवासी, दस्युओं का प्रभाव और वनदेवी-देवताओं की पूजा की बात कही गई है ।

छोटा नागपुर में मालभूम के अन्तर्गत सिंहभूम, राँची और मानभूम (आज के धनबाद और पुरूलिया जिला के रूप में उदय) जिलों में प्रकृति अपने अनुपम सौन्दर्य के साथ उपस्थित है । इन अंचलों में जिस तरह सघन वन पाए जाते है उसी तरह छोटे-बड़े पहाड़ और नदियों का विस्तार भी है । इन अंचलों के निवासियों में भूमिज, कोल, हो, मुण्डा इत्यादि आदिवासी खण्ड जातियाँ हैं । इन अंचलों में कभी सराकों का निवास था और अभी भी है पर उनकी संख्या नगण्य है ।

आर्यों के सिन्धु तटीय प्रदेशों और आगे चलकर गंगा के तटीय प्रदेशों में पुनः आगमन के फलस्वरूप, असुर, दास, दस्यु, निषाद, शबर, पुलिन्द इत्यादि आर्येतर जातियों के जो बचे खुचे लोग थे वे वहाँ से पलायन कर हरे-भरे विन्ध्य पर्वत मालाओं से घिरे (मध्यभारत और छोटा नागपुर की मालभूमि) मालभूमि में आकर अपने आपको सुरक्षित महसूस करते रहे । प्राचीन भारतीय इतिहास को गौर से देखें तो हमें पता चलता है कि आर्य संस्कृति का पूर्वी भारत में प्रचार-प्रसार सबसे अन्त में अनुमानतः आठवीं या सातवीं शताब्दी में हुआ था । वैदिक युग की शुरूआत में पूर्वी भारत में अनार्यो या अछूतों की अधिकता होने के कारण ये वैदिक ऋषियों की दृष्टि में बहुत ही हेय या नीच समझे जाते थे एवं इन्होंने इन अंचलों में आर्यों की तीर्थयात्रा या दूसरे किसी उद्देश्य से यहाँ आगमन पर रोक लगाकर शास्त्रीय अनुशासनों को लागू किया । यद्यपि बंगप्रदेश में ई० पूं० ६वीं ५वीं शताब्दी में आर्यों की संस्कृति का प्रचार-प्रसार हुआ । बहुतों का मानना है कि बंगाल में आर्य संस्कृति के फलते-फुलने में बौद्ध और जैन प्रचारकों का बहुत बड़ा योगदान है । इस सम्बन्ध में ई० पूं० ६वीं ५वीं शताब्दी में रचित या संकलित किसी वैदिक ग्रन्थों में बंगाल के इस अंचल (पुण्ड्रवर्धन राढ़) का उल्लेख मिलता है ।

महावीर अपने धर्म प्रचार के उद्देश्य से विभिन्न स्थलों में पर्यटन करते हुए पश्चिम बंगाल की सीमा के आस-पास (बज्जभूमि राढ़-सुवर्णभूमि पुरिमतल) भी उन्होंने अपना प्रचार किया, ऐसा विवरण हमें जैन धर्म के प्राचीन ग्रन्थों से मिल जाता है। इसी दौरान कुछ राढ़ वासियों ने उन्हें और उनके अनुचरों का अपमान भी किया। इन्ही में से कुछ व्यक्तियों को महावीर अपने मत से प्रभावित करने में सफल भी रहे थे। जैन सुत्र ग्रन्थों ('आचारांग सुत्र' भगवती सुत्र इत्यादि) से ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि महावीर से पहले भी कुछ जैन मूनि या सन्यासीगण धर्मप्रचार के उद्देश्य को लेकर या फिर किसी और कारण से इन अंचलों में आये थे। ऐसा लगता है कि ये सभी मुनि और सन्यासीगण महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुगामी रहे हों। अगर यह अनुमान सत्य हो, तो फिर यह स्वीकार किया जा सकता है कि पार्श्वनाथ ने बर्द्धमान महावीर से पहले ही पश्चिम बंगाल और बिहार में धर्मप्रचार किया था। गोदासों की चारों शाखाएँ भी पश्चिम-बंगाल में सीमाबद्ध थी।[7] कॅर्नल डाल्टन इत्यादि जैसे कुछ प्रमुख नृविज्ञानिकों का मानना है कि मानभूम (अभी के पुरूलिया और धनबाद) एवं उसके आस-पास के क्षेत्रों में जो प्राचीन मूर्ति और मन्दिर देखने को मिले है वे सब के सब महावीर के इन अंचलों में भ्रमण करने और धर्मप्रचार का ही परिणाम है। वस्तुतः इन पण्डितों ने ऐसे कुछ मन्दिरों, मूर्तियो, शिलालेखों आदि का अवलोकन किया जो सभी उन्हीं स्थानों पर मिले हैं जिन स्थानों से होकर महावीर अपना धर्म प्रचार करते हुए गुजरे थे। इन कारणों की जो व्याख्या डाल्टन साहब ने दी है, काफी तर्कसंगत लगती है। डाल्टन साहब का यह भी मानना है कि महावीर के चरण स्पर्श से धन्य हुए स्थानों पर मंदिरों का निर्माण कर देना महावीर के परवर्ती कालों के प्राणवान जैनियों की कृति है। उनलोगों ने अपने अन्तिम तीर्थंकर के प्रति सम्मान दिखलाने के लिए ही मन्दिर आदि का निर्माण किया। कॅर्नल डाल्टन इसे और तर्कसंगत प्रमाणित करने के लिए अखण्ड मानभूमि के निम्नलिखित स्थानों में पाए जाने वाले प्राचीन मन्दिर तथा पुरातात्विक गरिमा से पूर्ण स्थलों का उल्लेख करते हैं—तेल कुपि, पाण्ड्रा, पाड़ा, सिन्दुरपुर, छरड़ा, गडपंचकोट, सेनड़ा, साँका, बान्दा, नन्दयारा, झापड़ा, झालदा, पाटकुम, हरक तोड़, चेलियामा, चड़ा, लालपुर, मंगलदै, रक्षतपुर, लाठीन डुंगरी, बड़ाम, आर्शाकरण्डी, पाकविरा, तुसियाना,

पारूलडिहा, वरमसिया, बुधपुर, ततारी, बलरामपुर, डेलांग, पालमा, लधुड़का, जामबाद, निन्डिहा, बराग्राम, बराबाजार, सुईसा, देउली, डालमा, दुलमी इत्यादि । उपरोक्त स्थानों पर जितनी भी मूर्तियाँ मिली है उनमें से अधिकांश ही जैन मूर्तियाँ हैं एवं शिल्पकला के विचार से भी ये सम्भवतः ई० पूं० नवीं दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी की लगती हैं । ये सारी मूर्तियाँ उस युग के मन्दिरों में स्थापित की गई थीं । यही कहना समीचीन होगा । ये सारे मन्दिर ही जैन मन्दिर थे एवं इसके प्रतिष्ठाता भी जैन ही थे । हाँ अभी के अविभाजित मानभूम और उसके आस-पास कहीं भी कोई ७वी शताब्दी या उससे भी पहले की कोई जैनमूर्ति या मन्दिर नही दिखता, फिर भी प्रसिद्ध चीनी मनीषी एवं परिव्राजक ह्वेनसांग के विवरणों से ऐसा प्रमाण मिलता है कि उनके भ्रमण के समय (७वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध) इन अंचलों में बहुत से जैन-बिहार आदि थे ।

बंगाल की सीमा के आसपास के अंचलों में सम्भवतः ईसा से पाँच या छह सौ वर्षों पूर्व से ही जो जैनी निवास करते आ रहे हैं, उनका उल्लेख हम पहले ही कर चुके हैं । ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के पूरे बंगप्रदेश में निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय की चारों शाखाएँ ही फैली हुई थी । ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से लेकर ई० सन् की सातवीं शताब्दी तक बंगाल के पश्चिम अंचल राढ़ क्षेत्र और उत्तरी अंचल पुण्ड्रवर्धन तथा कोटि वर्ष क्षेत्रो में हो सकता है जैन धर्म का विशेष प्रादुर्भाव हुआ हो । सम्राट अशोक के शासनकाल में (ई० पूं० तीसरी शताब्दी) पुण्ड्रवर्धन अंचल के जैनियों (निर्ग्रन्थों) के अस्तित्व की जानकारी बौद्धों के 'दिव्यावदान' और 'विनयसुत्र' से मिलती है । इसके अलावा भी ई० पूं० दूसरी शताब्दी के भरहूत द्वारा रचित एक वैदिकलिपि में पुण्ड्रवर्धन का उल्लेख किया गया है । मथुरा का एक शिलालेख, जो दूसरी शताब्दी का है, उसमें किसी राढ़वासी द्वारा तीर्थंकर की मूर्ति उत्सर्ग करने की बात लिखी हुई है । पाँचवीं शताब्दी में आचार्य गुहनन्दी (काशी के पंचस्तुपणिकाय शाखा) ने एक जैन विहार की प्रतिष्ठा की थी तथा उस विहार की देख-रेख संबंधी खर्चे के लिए भूमिदान किया था । इसका उल्लेख पहाड़पुर ताम्रपट में मिलता है, जो बटगोहाली (अभी के ग्वालभिटा) नामक स्थान में है । अविभाजित बंगाल के पूर्वांचल में स्थित कुमिल्ला के निकट मयनामती नामक स्थान में एक जैन विहार की खोज हुई है, जिसकी स्थापना सम्भवतः गुप्त युग में हुई

हो । सातवीं शताब्दी में आए ह्वेनसांग के यात्रा वृतान्त द्वारा भी पुण्ड्रवर्धन क्षेत्र के निर्ग्रन्थ या जैनियों की स्थिति के बारे में जाना जा सकता है ।

बंगाल में अतिप्राचीन काल से ही जैनों की परम्परा और निवास होने के बाबजूद भी हम निश्चित तौर पर यह नहीं कह सकते कि जैनी सराकगण प्राचीन काल से ही यहाँ निवास करते आ रहे हैं । जैसा कि ज्ञात होता है, जितने भी साधारण गृहस्थ जैन उपासक या श्रावक कई कारणों से बाधित होकर बंगाल और उसके सीमावर्ती इलाकों में रहने की मजबूर हुए थे, वे ही कालक्रमानुसार भारतवर्ष के दूसरे जैन बहुल अंचलो से विच्छिन्न होकर सराक नामक स्वतंत्र एक जैन सम्प्रदाय में परिणित हो गए । ये साधारण गृहस्थ जैनी सराकगण ही जैन धर्म के प्रचार का उद्देश्य लेकर घने जंगलों से घिरे अंचलों में प्रवेश करने में सफल हुए थे वहीं जैन मुनियों को इसमें असफलता हाथ लगी थी । इन्होंने वहीं ताम्र-खदानों की खोज भी की । इन खदानों से ताम्र निष्कासन कर जीविका निर्वाह करते हुए वे दिन-प्रतिदिन धनवान होते गए । वे लोग जिन अंचलों में रहने लगे उन अंचलों में बहुत पहले से ही हो, भूमिज इत्यादि आदिवासी जातियाँ निवास करती आ रहीं थीं । इन आदिवासियों ने आगे चलकर नाना कारणों से सराकों पर अत्याचार शुरू किया । इसके फलस्वरूप सराकों को इन अंचलों (कोलहान) को छोड़कर उत्तर-पूर्व में स्थित मानभूम चले जाने के लिए बाध्य होना पडा । इन अंचलों में अभी भी बहुत बड़े-बड़े जलाशय नजर आते हैं, जिनके बारे में हो लोगों का कहना है कि इनका निर्माण सराक सम्प्रदाय के लोगों ने करवाया था । हो, इन्हें सराकी तालाब के नाम से पुकारते है । डाल्टेन महोदय का मानना है कि करीब २००० वर्ष पहले सराकगण हो सम्प्रदाय द्वारा 'कोलहान' या सिंहभूम अंचल से भगाये गये थे ।

आदिवासियों द्वारा किए गये अत्याचारों के सिवा और भी कई प्रकार की असुविधाओं का सामना सराकों को करना पड़ा था, जिनमें से एक ब्राह्मण धर्मावलम्बी हिन्दुओं का अत्याचार भी था तथा जीविका निर्वाह के क्षेत्र में भी किसी तरह के प्रतिबन्धों का उल्लेख विशेष रूप से किया जा सकता है । मानभूम अंचल में अपने द्वारा आविष्कृत ताम्र-खदानों के पास ही सराकों ने अपनी बस्ती बसाई एवं क्रमशः मन्दिर निर्माण आदि क्षेत्रों में अपनी कुशलता का परिचय भी दिया । इनमें से सभी, ताम्र-खदानों के मालिक ही थे ऐसा

नहीं बल्कि बहुत से लोग इन खदानों में मजदूरी भी करते थे । किसी-किसी विद्वान का मानना है कि कई शताब्दियों से ये सराकगण सिंहभूम, धलभूम तथा मालभूम ताम्रखदानों में काम करते आ रहे हैं । करीब २००० वर्ष पूर्व सिंहभूम अंचल से भगाए जाने के बावजूद सराकगणों ने फिर १४वीं शताब्दी से सिंहभूम अंचल में रहना शुरू किया । छोटानागपुर अंचल में अभी भी इनके कई उपनिवेश हैं । इस क्षेत्र के बड़े बुजुर्ग सराकों का यह विश्वास है कि उनके पूर्वजों ने लगभग ७०० वर्ष पहले यहाँ आकर रहना शुरू किया था । इसके पहले वे पंचकोट अंचल के निवासी थे । छोटानागपुर अंचल में कई छोटे-छोटे पहाड़ हैं । इन पहाड़ों की चोटियों पर कई गहरे गड्ढे हैं, जिनके निकट अभी भी जहाँ-तहाँ उत्सर्जित धातु मल या slap बिखरे हुए मिल जाते हैं । इसे देखकर लगता है यह ताम्र उत्सर्जित धातु मल हैं । इन दिनों के पुरूलिया (पूर्वी आविभाजित-मानभूम) जिला के तामखुन नामक स्थान के पहाड़ो और टीलाओं की चोटियों तथा ढलानो पर कई ऐसे गहरे गड्ढे है जहाँ ताम्र धातु मलों के ढेर लगे हुए हैं । ऐसा लगता है इन गड्ढो और गहरों के निर्माता सराक ही थे । क्योंकि सराकों के बारे में कहा जाता है कि वे इन ताम्र खदानों में मजदूरी किया करते थे । तब छोटानागपुर, सिंहभूम, धलभूम, राँची और मानभूम के ताम्रखदानों के पास ही मुख्यतः सराकों का उपनिवेश हुआ करता था एवं ऐसे खदानों के निकट आज भी उनका उपनिवेश देखा जाता है । यद्यपि अभी सराकों की संख्या काफी नगण्य है । कई शताब्दियों से ताम्र खदानों में निष्कासन नहीं होता । यही कारण है कि अभी सराकों को अपना जीवन निर्वाह कृषि, व्यापार तथा सूद-ब्याज के कारोबार द्वारा करना पड़ता है । ऐसा भी कहा जाता है कि गन्ने की खेती की शुरूआत सर्वप्रथम इन्होंने ही की थी ।

हिन्दुओं के प्रसिद्ध पुराण 'ब्रह्मवैवर्त' में सराक सम्प्रदाय की उत्पति के सम्बन्ध में एक विवरण लिपिबद्ध है । इस विवरण में सराकों को बुनकर जाति का बतलाया गया है । वैसे इस पुराण के रचनाकाल के संबंध में काफी मतभेद है । इस पुराण के कई खण्ड अथवा अंश काफी प्राचीन हैं मगर साथ ही इसके कई खण्ड और अंश अपेक्षाकृत अर्वाचीन युग के हैं । जो भी हो, इस पुराण से यह पता चलता है कि सराकगण कपड़े बुनने यानी तांती का काम करते थे । इनमें किसी प्रकार का वर्णभेद अथवा वर्गभेद नहीं होने के

बावजूद भी अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ थी । इन शाखाओं के जैन सन्यासियों के नामानुसार ही ये सराकगण अपना नामकरण करते थे, इससे इनके जैन धर्म में दीक्षित होने का प्रमाण मिलता है । सराक सम्प्रदाय के लोग मूलतः सात गोत्रों में विभक्त थे एवं आश्चर्य की बात यह है कि इनके नामकरण (अधिकांश मामलों में ही) ब्राह्मण धर्म के गोत्रपिताओं के नामानुसार ही होते थे—जैसे, आदि या आद्यदेव, धर्मदेव, ऋषिदेव, शाण्डिल्य, कश्यप, अनन्त तथा भारद्वाज । उपर्युक्त सात गोत्रों के अतिरिक्त वीरभूम और राँची में निवास करने वालों सराकों में इनसे अलग और दो एक गोत्र पाए जाते हैं —जैसे, गौतम और व्यास एवं वात्स या वात्स्य । अविभाजित बंगाल और बिहार के सराकगण अपने-अपने क्षेत्रों के अनुसार चार शाखाओं में विभक्त थे । इनके नाम क्रमानुसार पंचकोटियो (या पंचकोट क्षेत्र में रहनेवाले), नदीपारिया (या दामोदर के दक्षिणी तट पर स्थित मानभूम के निवासी), वीरभूमिया (या वीरभूम के रहने वाले), तमारिया (या राँची के तमार परगना के वासी) । अन्तिम नाम कुछ विशिष्ट अर्थ रखता है । हमें तो ऐसा लगता है कि तमार अथवा तामारो (लोहार और कमार की तहह) के नामानुसार ही तमार परगना का नामकरण हुआ है । ये सराक ही तमार अथवा तामार (ताम्रकार या ताँबे के कारीगर) हैं । यह कहना ही समीचीन है । जो भी हो, उपर्युक्त चारों शाखाओं के अतिरिक्त एक शाखा और है, जो बुनकर या तांती सराकों के नाम से परिचित है । और फिर ये बुनकर या ताँती, अपने-अपने क्षेत्रों के अनुसार भी कई उपविभागों में विभक्त हैं । आम तौर पर इनके चार उपविभाग हैं, जैसे—अश्विनी तांती, पात्र, उत्तरकुली और मन्दराली। संथाल परगना के सराकों के उपविभागों के साथ उपर्युक्त नामों का कोई मेल नहीं है । इनके नाम क्रमानुसार इस तरह है—कुलसराकी, शिखरिया, कन्दल और सराकी तांती । हमें ऐसा लगता है कि पहला नाम (कुलसराक) उपजीविका पर आधारित है और दूसरा (शिखरिया) अंचल पर । ऐसा भी हो सकता है कि शिखरिया सराकगण, प्राचीन समय में शिखरभूम अंचल के निवासी थे ।

सराकों के पूर्वज जैन धर्मावलम्बी थे, परन्तु आज कई पीढ़ियों से इनकी प्रथाओं और इनके आचार-अनुष्ठानों को मनाने के तौर-तरीके में हिन्दुओं के साथ कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता ।

आज ये सराक बहुत हद तक हिन्दुओं के विशाल समाज के साथ घुल-मिल गये हैं । इनकी सामाजिक व्यवस्था भी हिन्दुओं की तरह विविध विधि-विधानों में जकड़ गई है । इनके विवाह करने की पद्धति भी हिन्दुओं की तरह ही हैं । इनमें भी बाल-विवाह की प्रथा है । हिन्दुओं की तरह ये भी विवाह-विच्छेद और विधवा-विवाह के घोर विरोधी हैं । ये साधारणतः एक ही विवाह करते हैं, परन्तु विवाहित स्त्री से अगर किसी सन्तान की प्राप्ति न हो, तो दूसरी बार भी पाणिग्रहण के लिए सहमत हो सकते हैं । हिन्दुओं के आचार-अनुष्ठान पालन के बावजूद भी ये सराक अपने पूर्व संस्कारों के अनुसार पार्श्वनाथ आदि जैन तीर्थंकरों की पूजा करते हैं एवं पार्श्वनाथ या सम्मेद शिखर पहाड़, जो जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थस्थल है, की यात्रा भी करते हैं । इन सबसे अलग ये कई लौकिक देव-देवियों की पूजा भी करते हैं । राँची के लोहरदग्गा अंचल के सराक हिन्दुओं के देवता जगन्नाथ, राधामोहन और श्यामचन्द्र (विष्णु तथा कृष्ण के कई रूप) की पूजा करते हैं । उनकी पूजा अर्चना के लिए अपने धर्म का कोई पुरोहित नहीं होता बल्कि स्थानीय हिन्दू पुरोहित ही इनकी पूजा तथा किसी पावन अवसर पर पौरोहित्य करते हैं । ऐसा करने से इन ब्राह्मणों की सामाजिक मर्यादा पर कोई आँच नहीं आती । इन स्थानीय ब्राह्मणों को सराकों के अन्न-जल ग्रहण करने में कोई दुविधा नहीं होती । साथ ही सराकों को भी ब्राह्मणों से प्रसाद तथा क्षत्रिय राजपूत, वैद्य, कायस्थ आदि से मिष्टान्न और जल ग्रहण करने में कोई हिचक नहीं होती । सराक सम्प्रदाय के अन्तर्गत पड़ने वाला कोई परिवार या व्यक्ति अगर कोई सामाजिक अपराध करता है तो सामाजिक प्रथा के अनुसार अर्थदण्ड से दण्डित किया जाता है और इस से प्राप्त धन देव सेवा और सामाजिक कल्याण आदि में व्यय किया जाता हैं ।

सराक सम्प्रदाय आज प्रायः लुप्त होने के कगार पर है । फिर भी एक छोटे सम्प्रदाय के रूप में ये अपना अस्तित्व अभी भी कायम किये हुए हैं । किसी-किसी के विचार में आज के 'सरावगी' उपाधि वाले, जैन सम्प्रदाय में बहुत पहले पाये जाने वाले 'श्रावकदिग' के उत्तर पुरूष हैं । वस्तुतः यह 'सरावगी' शब्द श्रावक शब्द का अर्द्ध-तत्सम रूप लगता है । प्रसिद्ध मानव-विज्ञानी रिजले साहब के 'द्राइवस एण्ड कास्ट्स ॲफ बेंगॉल' नामक ग्रन्थ में इस विषय पर काफी प्रकाश डाला है । रिजले साहब का मानना है कि सराकों का कोई उप-सम्प्रदाय नही है, लेकिन इनकी चार शाखाएँ हैं, जिनके

नाम इस प्रकार है— अद्येव, अनन्त, मछली और शाण्डिल्य । अद्येव के सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि यह आदि देव अथवा आद्य देव का अशुद्ध रूप ही और मछली शायद मत्स का देशजरूप । इस प्रसंग में यहाँ पाठको को बता दें । रिजले साहब द्वारा उद्धृत सराकों की चार शाखाओं में से तीन शाखाओं के अस्तित्व की बात पहले ही बताई जा चुकी है । गेटे और रिजले साहब के विचार में अभी भी अविभाजित बंगाल और बिहार के बर्द्धमान, बाँकुड़ा, रंगपुर, मालभूम, लोहरदग्गा, संथाल परगना, हजारीबाग, मुंगेर, मुजफ्फरपुर, गया, पटना और साहाबाद जिलाओं में सराकों का निवास है ।

उपर्युक्त विवेचनाओं से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सराकों का निवास यद्यपि आधुनिक पश्चिम बंगाल के पश्चिमी क्षेत्रों और उत्तरी क्षेत्रों एवं बिहार के पूर्वी क्षेत्रों और उत्तरी क्षेत्रों में है, फिर भी अखण्ड मानभूम (अभी के पुरूलिया, धनबाद और सिंहभूम) जिलाओं में ही इनकी संख्या तुलनात्मक ढंग से अधिक है । इसे प्रमाणित करने के लिए हम १९०१ ई० के जनगणना की सूची प्रस्तुत कर सकते हैं । १९०१ ई० के जनगणना के अनुसार सराकों की कुल संख्या १७,३८५ थी जिसमें केवल मानभूम जिला में ही १०,८९६ सराक थे । पूरे मानभूम में पारा और रघुनाथपुर थाना के अन्तर्गत इनकी संख्या अत्यधिक नजर आती है, झालदा थाना के अन्तर्गत भी कुछ सराकों का निवास है ।

१. सभी जैन सम्प्रदायों में यह प्रथा नहीं है, केवल श्वेताम्बरों....और तेरह पन्थी सम्प्रदायों में ही यह प्रचलित है । — सम्पादक

२. कपड़े के टूकड़े नहीं, पश्म का रजः हरण या मयूरपंखों से बना मयूरपिच्छी । — सम्पादक

३. जैन यति या साधु द्रव्यपूजा नहीं करते । मन्दिरों में पूजा अर्चना का काम श्रावक ही करते हैं । मन्दिर तत्वाधान में चन्दन वगैरह प्रस्तुत करना और आरती आदि कार्यो में सहयोग करने के लिए वेतनभोगी कर्मचारी रखे जाते हैं । — सम्पादक

४. जैनों के मतानुसार जैन संघ में गृहस्थों का स्थान महावीर से पूर्व तीर्थंकरों के समय में भी था । जैन साधुसंध में नारियों का स्थान भी हमेशा से रहा है । — सम्पादक

५. 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग जैन साहित्य में एक विशेष अर्थ के लिए किया जाता है। श्रमण, श्रमणी, श्रावक, श्राविका, रूप चतुर्विध संघो को तीर्थ कहा जाता है। जो तीर्थ की प्रतिष्ठा करते हैं वही तीर्थंकर कहलाते है। इसीलिए तीर्थ दो या चार नहीं। — सम्पादक

६. वचन-मन-काया। — सम्पादक

७. हमें ऐसा लगता है कि इन शाखाओं में दासी खर्वाटिका शाखा पुरूलिया जिला में विस्तृत रूप से थी। मथुरा की एक लिपि जो दूसरी शताब्दो की है उसमें राढ़ के आर्य 'कर्कशघषित' का उल्लेख किया गया है, जो पुरूलिया के राढ़ क्षेत्र के अंतर्गत था।

❖❖❖

"जगत् के अन्य किसी भी धर्म में अहिंसा सिद्धान्त का प्रतिपादन इतनी सफलता से नहीं मिलता।"

— डा. राजेन्द्रप्रसाद

बिहार सीमान्त की प्राचीनतम् सराक संस्कृति

श्री युधिष्ठिर माजी

कास्त्रे पाषाण के अन्धकारमय घर से निकल कर जहाँ दामोदर नदी की तन्द्रा टूटती है, जहाँ दामोदर सख्त पाषाण शय्या को छोड़कर कोमल मिट्टी के सन्धान में आगे जाने का उपक्रम करती है, उसी स्थान का नाम है सात खाटिया । प्रचण्ड जल स्त्रोत से टकरा-टकरा कर यहां के पाषाणों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार विभिन्न आकृतियाँ धारण कर ली हैं । स्वआनन्द में उन्मत्त एक झरना—दामोदर में मिलने के लिए राह में बाधक पाषाणों को तोड़ता हुआ एक गहन गड्ढे में जा गिरता है । सात खाटों की रस्सियाँ खोलकर उसमें डालने पर भी पाषाणों के इस गड्ढे के अन्धकारमय राज्य की शेष सीमा का अन्त नहीं पाया जा सकता । अतः इस स्थान का नाम हो गया सात खाटिया । यह बेलुञ्जा से तीन मील दूर है ।

प्रकृति के इस लीला क्षेत्र के निकट ही निर्मित हुआ था प्राचीन सराक संस्कृति का एक विराट केन्द्र स्थल । वर्तमान में इस पुराक्षेत्र को बहुत से लोग 'माँचा टाँड' कहते हैं । फिर देवालय संलग्न दामोदर के घाट के कारण बहुत इसे देउलघाटिया कहने लगे । प्रसंगवश बता रहा हूँ कंसावती के तीरवर्त्ती अंचल वोड़ाम के पुराक्षेत्र को भी देउलघाटा कहा जाता है ।

बिहार सीमान्त के दामोदर तट पर स्थित इस माँचा टाँड में अभी एक पाषाण मन्दिर का भग्नावशेष है । कुछ दिन पूर्व सामान्य से खनन कार्य के फलस्वरूप बहुत से शिलाखण्ड मिले हैं । यहाँ बड़े रूप में यदि खुदाई कार्य किया जाता तो और भी बहुत से मूल्यवान अतीत इतिहास के निदर्शन मिल सकते हैं । वर्तमान में जो बहुमूल्य शिलाखण्ड मिले हैं उनपर अंकित है ध्यानमग्न तीर्थंकर मूर्त्तियाँ, यक्षिणी मूर्त्तियाँ एवं धरणेन्द्र-पद्मावती की मूर्त्तियाँ । इसके अतिरिक्त हैं टूटे-फूटे पद्मासन, आम्रपल्लव और नारियल युक्त मंगल कलश । और भी असाधारण भाष्कर्य शिल्प के निदर्शन स्वरूप बहुत से शिलाखण्ड यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं । यहाँ का मंगल कलश पाक विड़रा में प्राप्त मंगल कलश-सा गोलाकार नहीं है, डिम्बाकृति है ।

यहाँ के शिलाखण्ड पाकविड़रा की शिल्पकला के शिलाखण्ड-से उत्कृष्ट नहीं हैं । सम्भवतः दामोदर तटवर्त्ती अंचलों में प्राप्त बादामी बलुई पत्थरों से इन शिल्पों का निर्माण हुआ है ।

यहाँ कुछ तीर्थंकर मूर्त्तियाँ अक्षत अवस्था में मिली थों । वर्तमान में वे सब पटना म्यूजियम में भेजी गयी हैं ।

यहाँ के बहुत से लोगों ने कहा— इन भग्नावशेषों में एक सुवर्ण मूर्त्ति और सुवर्ण सिंहासन भी मिला था किन्तु वे अब कहाँ गए यह कोई नहीं जानता । बेलुञ्जा के जमींदार घर के लोगों ने भी इस स्वर्ण मूर्त्ति की बात स्वीकार की । किन्तु वर्तमान में वह कहाँ है यह बता न सके । कुछ वर्ष पूर्व यहाँ एक बहुत बड़ा मेला लगता था । अतः इस स्थान के समीप श्याम नगर नामक एक रेलवे स्टेशन की योजना बनायी गयी । किन्तु बाद में मेला उठ जाने के कारण स्टेशन की प्रयोजनीयता भी समाप्त हो गयी थी ।

सात खाटिया के समीप दामोदर तट पर इस माँचा टाँड में आज भी भग्न तीर्थंकर मूर्त्तियों की छाया दामोदर के जल में प्रतिविम्बित होती रहती है । किशोर दामोदर की लहरें एक चट्टान से दूसरी चट्टानों पर छलांगे भरती रहती हैं । उनकी अविरल छलांगों से कठोर शिलाखण्ड भी क्षय हो जाते हैं । किन्तु विलुप्त नहीं हो पाती अहिंसा धर्म के साधक तीर्थंकर की मूर्त्तियाँ । सराक संस्कृति की अन्तिम प्रदीप शिखा आज भी यहाँ की पुण्यमय धरती में निर्वापित नहीं हुई है ।

सराक संस्कृति के अतीत से जुड़ी विभिन्न शिलाखण्डों को लेकर विभिन्न किम्बदन्तियाँ परवर्त्ती काल में रची गयीं । मन्दिर के समीप ही एक विराट शिलाखण्ड शिव रूप में पूजा जाता है । कहा जाता है कभी एक गाय इस शिला के ऊपर स्वेच्छा से आकर दूध बरसा जाती । उस शिला से प्रवाहित होता वह दूध मिल जाता दामोदर के जल में । इस दुग्ध धारा का दाग आज भी उस शिलाखण्ड पर दिखलाई पड़ता है ।

धनबाद जिला का यह माँचा टाँड और सात खाटिया आज भी मनुष्य को हाथ से संकेत कर बुला रहा है । मन को मुग्ध कर देने वाले यहाँ के प्राकृतिक दृश्य में आज भी मानव मन खो-सा जाता है । अतः शीतकाल में बहुत से लोग यहाँ वनभोज करने आते हैं । रास्ता ठीक रहने पर बाहर के भी अनेक लोग सात खाटिया के प्राकृतिक सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अतीत की

सराक संस्कृति जड़ित इस पुण्य भूमि पर आते थे ।

इस अंचल का द्वितीय पुराक्षेत्र है बेलुज्जा के समीप चेंचका में । यह स्थान कतरास से करीब आठ मील दूर अवस्थित है । चेंचका का प्राचीन नाम चेंचगाँवगढ़ है । यहाँ सराक संस्कृति युक्त एक विराट पुराक्षेत्र है । यह पुराक्षेत्र भी दामोदर के तटवर्त्ती अंचल में ही स्थित है ।

चेंचगाँवगढ़ में किसी समय सोलह मन्दिर थे । वर्तमान में मन्दिरों के ध्वंसावशेष से प्राप्त कुछ टूटे-फूटे शिलाखण्ड अवहेलना और अनादर के कारण क्षय हो रहे हैं । इन सब टूटे-फूटे शिलाखण्डों की पर्यालोचना करने पर पाते हैं कि अतीत की सराक संस्कृति के वक्ष पर परवर्ती काल में हिन्दू ब्राह्मण संस्कृति का विकास किया गया था ।

मन्दिर के ध्वंसावशेष करीब एक मील लम्बे और आधा मील चौड़े अंचल के मध्य बिखरे पड़े हैं । यहाँ की प्राचीन शिल्पकला में यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ, गणेश मूर्त्ति, विष्णु मूर्त्ति एवं मस्तक कटे एक विराट सांड का सन्धान मिला है । सांड प्रायः तीन फुट लम्बा है । माथा रहने पर करीब पाँच फुट होता । विष्णु मूर्त्ति भग्न हो गयी है । यह विष्णु मूर्त्ति जिस शैली में निर्मित है वैसी ही शैली में निर्मित विष्णु मूर्त्ति तेलकूपी में भी मिली है । फिर भी चेंचगाँवगढ की इस मूर्त्ति के दोनों पार्श्व में लक्ष्मी और सरस्वती की मूर्त्ति नहीं है । यह विष्णु मूर्त्ति, वर्त्तमान में काली के रूप में पूजी जाती है । अतः मूर्त्ति की भग्न देह पर सिन्दूर फैला हुआ मिलता है ।

चेंचगाँवगढ़ में एक शिलालिपि भी है । दामोदर की एक छोटी शाखा नदी के एक विराट शिलाखण्ड पर उत्कीर्ण की गयी है वह शिलालिपि । मात्र दो पंक्तियों में एक श्लोक इस पर लिखा हुआ है । दो कारण से लिपि पढ़ना बहुत कठिन कार्य है । प्रथमतः पहली पंक्ति बहुत कुछ अस्पष्ट हो गयी है । द्वितीयतः अक्षर भी बहुत छोटे हैं । जिस विराट शिलाखण्ड पर यह शिलालिपि है उसी पर दो पद चिन्ह भी हैं ।

ये पद चिन्ह बहुत बड़े हैं । यदि ये पद चिन्ह सचमुच किसी मनुष्य के पद चिन्ह हैं तब तो वह मनुष्य अवश्य ही दीर्घदेही साधक पुरूष था । इसके अतिरिक्त इसी शिलाखण्ड पर कई छोटे शिवलिंग खोदने की चेष्टा भी की गई है ।

सम्भवतः यहाँ की सराक संस्कृति के पतन के पश्चात् ब्राह्मण संस्कृति के विकास युग में ये सब कार्य फिर किये गए हैं। अवश्य ही शिलालिपि पढ़ना सम्भव होने पर इस प्रसंग पर कुछ कहा जा सकता।

विगत शताब्दी में मिस्टर जी॰ डी॰ वेगलर ने इस स्थान का निरीक्षण किया था।

मिस्टर वेगलर ने यहाँ के सोलहों मन्दिरों को टूटी-फूटी अवस्था में देखा था। मन्दिरों की भाष्कर्य शिल्पकला पद्धति को देखकर वे एक बारगी मुग्ध हो गए थे। उनके मत में यहाँ की मूर्त्ति कला के साथ उदयपुर अंचल की शिल्पकला का साम्य है। किन्तु अब तो एक भी मन्दिर की भाष्कर्य शिल्पकला के निरीक्षण योग्य शिलाखण्ड अवशिष्ट नहीं है। यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि मात्र सौ वर्षों की अवधि में ही यहाँ के अमूल्य शिल्पकला के निदर्शन लुप्त प्रायः हो गए।

यहाँ से प्रायः दो मील दूर है झिंझिं पहाडी। आगे शायद यहाँ चैत्र मास में एक विराट गाजन मेला लगता था। किन्तु वर्तमान में धान क्षेत्रों के मध्य एक ऊँचे स्थान पर एक बड़ा शिलाखण्ड झिंझिं पहाड़ी की स्मृति को वहन किए है। खो गया है झिंझिं पहाड़ी का मन्दिर, खो गया है यहाँ का मेला। आज अतीत की ये सब बातें मानव मन में कहीं नहीं है। झिंझिं पहाड़ी के वक्ष पर जो वृहद् शिलाखण्ड पड़ा हुआ है वह हरे रंग का एक उन्नत जाति का शिलाखण्ड है। लगता है इन्हीं शिलाखण्डों को काटकर माँचा टाँड के भाष्कर्य शिल्प निर्मित हुए थे। इसी जाति के शिलाखण्डों द्वारा निर्मित कुछ शिल्प कलाएँ टूटी-फूटी अवस्था में माँचा टाँड के ध्वंसावशेषों में मिली हैं।

वेलुज्जा के शिव मन्दिर के पास अवहेलित एवं अनादृत अवस्था में पड़ा है बलूई बादामी पाषाण द्वारा निर्मित एक तीर्थंकर मूर्त्ति का भग्नावशेष। इस अंचल में बलूई बादामी पत्थर प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। ये पत्थर खूब अच्छी किस्म के नहीं होने से इनकी शिल्पकलाएँ दीर्घस्थायी नहीं होतीं। सोचने पर आश्चर्य होता है कि जिन सराक शिल्पियों ने पाकविड़रा में अति उत्तम पाषाणों से बने अविस्मरणीय भाष्कर्य शिल्प निदर्शनों को छोड़ा है उन्होंने इस प्रकार के नर्म पाषाणों से यहाँ की भाष्कर्य शिल्पकलाओं को क्यों निर्मित किया! फिर यहाँ की शिल्पकलाओं की उत्कृष्टता भी पाकविड़रा

की शिल्पकलाओं-सी नहीं है । क्यों ? शायद पाकविड़रा की संस्कृति के परवर्त्ती काल में वेलुज्जा अंचल में चेंचगाँवगढ़ की शिल्पकलाएँ निर्मित हुई हैं । फिर यहाँ की सराक संस्कृति भी दीर्घ स्थायी नहीं हुई । सप्तम शताब्दी के पूर्व ही ब्राह्मण संस्कृति का प्रभाव यहाँ फैल गया था ।

सम्भवतः चेंचगाँवगढ़ की संस्कृति तेलकूपी की सराक संस्कृति के सम-सामयिक थी । यहाँ की विष्णुमूर्त्ति इसका ज्वलन्त प्रमाण है । तेलकूपी की मिश्र संस्कृति के उत्थान-पत्तन के साथ चेंचगाँवगढ़ के भाग्य को एक ही सूत्र में गूँथ दिया गया है ।

यहाँ के लुप्तप्रायः प्राचीन सराक संस्कृति के टूटे-फूटे शिलाखण्डों की भाँति किसी प्रकार आज भी टिके हुए हैं सराक संस्कृति के मनुष्य । पर्वतपुर, बेलुज्जा, वेलहुट, कुमारडूबी, देवग्राम, मदाल आदि ग्रामों में आज भी बहुत से सराक सम्प्रदाय के मनुष्य रहते हैं । वेलहुट में जैन धर्म से युक्त एक पाठशाला में अध्यापन करते थे 'तीर्थंकर गीतावली' के रचयिता श्री युक्त हरिश्चन्द्र सराक । सराक सम्प्रदाय के एक मात्र कवि हरिश्चन्द्र ने रघुनाथपुर के समीप नूतन डी ग्राम में जन्म लिया था । उन्होंने अपना सारा जीवन ही धर्म और शिक्षा के प्रचार में व्यतीत किया था । उनके द्वितीय ग्रन्थ का नाम था श्रावकाचार । कवि हरिश्चन्द्र के बचपन का नाम था हरि माजी । पिता का नाम था श्रीनाथ माजी और माँ का नाम था लक्ष्मी माजी । वर्तमान में उनके भाई नीलकण्ठ माजी की एक कन्या बिबिवाला मौजूद है ।

सराक संस्कृति से जुड़े अतीत के पुराक्षेत्रों की पर्यालोचना करने पर एक विशेष तथ्य हमारे सम्मुख उभरता है— वह है छोटा नागपुर अंचल के समस्त पुराक्षेत्रों का दामोदर एवं कंसावती नदी के तटवर्ती अंचलों पर अवस्थित होना । यहाँ की दामोदर एवं कंसावती ने माला की भाँति गूँथ रखा है समस्त पुराक्षेत्रों को । दामोदर ने गूँथा है माँच टाँड, चेंचगाँवगढ़, छड़रा, पाड़ा और तेलकूपी को, कंसावती ने वोड़ाम (देउलघाटा), पलमा, बुधपुर, पाकविड़रा आदि पुराक्षेत्र को । अतः कहा जा सकता है प्राचीन सराक संस्कृति थी अधिकांशतः नदी मातृक । दामोदर एवं कंसावती की पुण्य धाराओं ने अतीत के सराक भाष्कर्य शिल्प को संजीवित किया था । दामोदर एवं कंसावती के स्नेह रस में स्निग्ध हुई थी उस समय की अहिंसा धर्म की अमर पुण्य भूमि ।

दामोदर एवं कंसावती की मिली-जुली प्रचेष्टा ने सृष्टि की थी छोटानागपुर की पुण्य भूमि में अहिंसा धर्म साधना के लीला क्षेत्रों की । अपने रूप रस से आकृष्ट किया था अहिंसा धर्म के महान साधक महावीर को । उस दिन साधना के मन्त्रोच्चार से दामोदर एवं कंसावती की गति अबाध थी । सृजन शक्ति थी सीमाहीन । किन्तु हाय! महाकाल के स्त्रोत में ध्वंस हो गए हैं उन दिनों के गौरवोज्ज्वल शिल्पकला के निदर्शन। भंग हो गए है साधना क्षेत्र । कंकरमय मिट्टी ने ग्रस लिया है अतीत की सभ्यता को। कंसावती और दामोदर आज निःसत्व सर्वहारा होकर अनमनी हो गई हैं । आज उनके प्राणों में आनन्द का गतिवेग नहीं है । दामोदर कंसावती ने मानो आज स्त्रोतहारा होकर छोटानागपुर के कंकरमय मिट्टी में अपना मुख छिपा लिया है ।

[श्री अजित कुमार सराक, श्री नन्दलाल माहात बिहार सीमान्त में भ्रमण के समय मेरे साथी थे । मैं उनका आभारी हूँ ।]

"जैन-संस्कृति मुनष्य-संस्कृति हैं, जैन-दर्शन भी मनुष्य-दर्शन ही हैं । जिन देवता नही थे किन्तु मनुष्य थे ।"

—प्रो. हरि सत्य भट्टाचार्य

भगवान महावीर की सिद्ध भूमि और तत्संलग्न अंचल

श्री हरिप्रसाद तिवारी
श्री नृसिंह प्रसाद तिवारी

अति प्राचीन सभ्यता की विकास भूमि है हमारा यह भारतवर्ष। आदिकाल से ही युग-युग में महापुरूषों के पद-स्पर्श से पवित्र हुए हैं इसके धूलिकण। इस तीर्थभूमि के तीर्थंकरों ने हमें अन्धकार से आलोक के पथ की ओर प्रेरित किया इसीलिए हम अतीव सौभाग्यवान और गर्वित हैं। किन्तु अत्यन्त दुःख, परिताप और लज्जा का विषय है कि हम इस पुण्य-भूमि की सन्तान होते हुए भी अपने अनेकों महापुरूषों के विचरण-स्थल और सिद्धभूमि का सटीक परिचय भी भूल चुके हैं। जैसे कि आज हम नहीं जानते भगवान महावीर की सिद्धभूमि कहाँ थी; भगवान श्री रामचन्द्र की अयोध्या कहाँ थी ? इसके कई कारण हो सकते हैं किन्तु अज्ञानता हमारी है, लज्जा हमको है। सबसे विस्मयजनक यह है कि सुप्राचीन साहित्य— धर्मशास्त्र अथवा भगवान महावीर की जीवनी जो कि अल्प समय के बाद रचित हुई थी वे नीरव नहीं हैं। महाकाल के अनेक झड़-झपेटों के बाद आज भी वे मुखर हैं।

इसी प्राचीन साहित्य की सहायता व भगवान महावीर के आशीर्वाद से उन्हीं की सिद्धभूमि के निर्णय का प्रयास किए हैं हम इस प्रबन्ध में।

भगवान महावीर के जीवन के नाना विषयों का परिचय हम विभिन्न प्रमाणित जैन ग्रन्थों से पाते हैं। उनमें कल्पसूत्र, भगवती सूत्र, आचारांग सूत्र इत्यादि उल्लेखनीय हैं। किन्तु इनमें भी भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र ही प्रधान है। वीर निर्वाण के प्रायः ३०० वर्ष के भीतर ही यह ग्रन्थ रचा गया था। ये सब ग्रन्थ पहले श्रुति के रूप में थे अर्थात् शिष्य-परम्परा से एक मुख से दूसरे मुख चलते रहे और बीच-बीच में धर्म-सभा का आह्वान कर इन्हें परिशुद्ध कर लिया जाता रहा। सर्वप्रथम ऐसी ही एक धर्म-सभा हुई थी पाटलीपुत्र में। इसके बाद कई सौ वर्षों के पश्चात् दूसरी सभा हुई मगध से दूर मथुरा में। तृतीय धर्म-सभा हुई देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में गुजरात के वल्लभी में।

भगवान महावीर का समय आज से प्रायः १०० पीढ़ी आगे का है (पीढ़ी २४ वर्ष के हिसाब से) और इसी दीर्घकाल में प्रथम श्रुति पर निर्भर रहकर बाद में देश के विभिन्न स्थानों में लिखित, संशोधित एवं सन्मार्जित होकर एवं भाषा के विवर्तन और विभिन्न प्रान्तों के उच्चारण-पार्थक्य के धक्के सहकर भी वे हमें ऊँगली से दिखा रहे हैं कि भगवान की विचरण भूमि और सिद्ध स्थान कहाँ हैं ?

ऐतिहासिकों की धारणा है कि भगवान महावीर ने बंग देश के पश्चिमांश राढ़ अंचल के विभिन्न स्थानों में परिभ्रमण और वर्षावास किया था। आचारांग सूत्र में लिखा है भगवान महावीर ने दुर्गम लाढ़ देश की वज्जभूमि और सुम्ह भूमि नामक प्रदेश के विभिन्न स्थानों पर परिभ्रमण किया था। जिनदासगणि के आवश्यक सूत्र की चूर्णि में लिखा है, भगवान अपने साधना-काल में दो बार लाढ़ देश में आए थे। किन्तु आश्चर्य का विषय यह है कि कल्पसूत्र लाढ़ की वज्जभूमि के विषय में मौंन है। कल्पसूत्र भगवान के साधना-काल के विभिन्न वर्षावासों के विषय में जैन ग्रन्थों से एकमत होते हुए भी लाढ देश का कोई उल्लेख नहीं करता। अवश्य ही कल्पसूत्र ने पणियभूमि नामक स्थान पर भगवान के वर्षावास का उल्लेख किया है जिसका उल्लेख उपरोक्त जैन ग्रन्थों में नहीं किया गया है। भगवती सूत्र इस विषय में कल्पसूत्र के साथ कुछ एकमत है। भगवती सूत्र के अनुसार भगवान महावीर अपने साधना-काल में छः वर्ष तक पणियभूमि में अवस्थित रहे थे। किन्तु जिस हेतु भगवान परिभ्रमणरत रहे उससे स्वाभाविक रूप से ही यह ज्ञात हो जाता है कि भगवान पणियभूमि को केन्द्र कर तत्संलग्न अंचलों में परिभ्रमणरत रहे।

भगवान महावीर ने मगध के पूर्व के दुर्गम रूक्ष प्रस्तर व बालुकापूर्ण आर्येतर अंचलों में परिभ्रमण किया था और इसी अंचल में कैवल्य लाभ किया था — इस सत्य को प्रायः प्रत्येक जैन ग्रन्थ ने स्वीकार किया है। किन्तु फिर भी जैन साहित्य ने विभिन्न समय में विभिन्न देशों में विभिन्न भाषाओं में रचित होने के कारण इस अंचल को विभिन्न नामों से अभिहित किया है एवं विभिन्न स्थानों के सापेक्ष इस अंचल की अवस्थिति को दिखाया है। यद्यपि सभी ने सही रूप में ही भगवान के केवल्य — स्थान को चिह्नित करना चाहा है और यही हमलोगों की समस्या है। अतः हम लाढ़ और पणियभूमि के विषय में विभ्रान्त हैं। इन सभी ग्रन्थकारों की सत्यता प्रश्नातीत है और

वे इस स्थान पर आकर रहें या नहीं रहें इस विषय में ये कोई भी हमें विभ्रान्त करना नहीं चाहते । इनकी सत्यता पर विश्वास कर हम जो हांसिल करते हैं वह यह है कि लाढ़ और पणियभूमि प्रायः एक ही अंचल है अथवा पणियभूमि लाढ़ के अन्तर्गत कोई अंचल है । विनय विजय जी के मत से भी पणियभूमि वज्जभूमि के अन्तर्गत है । डा० वी० एम० बरूआ ने इसी मत को स्वीकार किया है । अवश्य ही भगवती सूत्र से पणियभूमि की अवस्थिति नालन्दा के निकटवर्त्ती लगती है ।

ऋग्वेद में विभिन्न स्थानों पर अनार्य तस्कर और असुरों को पणि कहकर अभिहित किया गया है । (ऋग्वेद, सायन भाष्य १/६/३) ऋग्वेद को स्वीकार कर लेने पर पणियभूमि एक अनार्य अध्युषित अंचल है । यही धारणा जैन साहित्य से भी होती है।

जैन ग्रन्थों में उल्लिखित लाढ़ देश को इतिहासकारों ने राढ़ देश स्वीकार कर लिया है । राढ़ देश कहने से अविभक्त बंग देश की गंगा नदी का पश्चिम अंचल मालूम होंता है जो पश्चिम बिहार की मालभूमि के कियदंश तक विस्तृत थी । राढ़ देश को अजय नदी दो भागों में विभक्त करती है । आज के उत्तरांचल को कहा जाता है उत्तर राढ़ और दक्षिण अंचल को दक्षिण राढ़ । वर्त्तमान बिहार का संथाल परगना, धनबाद, सिंहभूमि, हजारीबाग और मुंगेर जिले के कियदंश पर्यन्त राढ़ देश विस्तृत था। आचारांग सूत्र ने इसी राढ़ देश को वज्जभूमि और सुम्हभूमि इन दो भागों में विभक्त किया है । अर्थातः आचारांग सूत्रकार के समय राढ़ देश का दक्षिण और उत्तर अंश वज्जभूमि और सुम्हभूमि नाम से परिचित था । चीनी परिव्राजक ह्वेनसांग ने इस वज्ज (विज्ज) भूमि का उल्लेख किया है । बहुत लोगों का मत है इस अंचल में हीरा (वज्र) या अच्छा कोयार्टज पाया जाता था । इसी से इसका नाम था वज्रभूमि या वज्जभूमि । और यही वज्जभूमि-वीर्यभूमि ने भगवान महावीर की विचरण भूमि होने का सौभाग्य धारण कर उनके पाद-स्पर्शों से पवित्र होकर अब तक वीरभूमि नाम से स्वयं को पुण्य और धन्य कर रखा है । अवश्य ही वीरभूमि तब आज जैसी छोटी नहीं थी । १८५४ खृष्टाब्द पर्यन्त समस्त संथाल परगना वीरभूमि के अन्तर्गत था । संथाल विद्रोह के पश्चात वीरभूमि को खण्डित किया गया था । यहाँ अप्रासंगिक होनें पर एक बात कहनी आवश्यक है कि संथाल जाति इस अंचल की आदिवासी नहीं

है । इसने मात्र तीन-चार सौ वर्ष पूर्व ही इस अंचल में प्रवेश किया है । और सुम्ह भूमि (सुव्ह भूमि) ने अभी भी सिंहभूमि नाम से स्वयं को टिका रखा है ।

पहले ही हमने इस विषय पर प्रकाश डाला है कि लाढ़ और पणियभूमि एक ही अंचल है या पणियभूमि लाढ़ के किसी अंश का नाम है । इसी धारणा का सम्बल लेकर हम पणियभूमि की खोज इसी वज्जभूमि और सुम्ह भूमि के मध्यवर्ती अंचल में गम्भीरता से करते रहे । समस्त रेवेन्यु सेटलमेन्ट रेकार्ड देखा गया, किन्तु पणियभूमि का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं हुआ । इसके बाद हम जियोलॉजिकल सर्वे डिपार्टमेन्ट के समस्त प्राचीन रेकार्ड के अनुसंधान में प्रवृत्त हुए और वहाँ हमें पणियभूमि का संधान मिला।

अजय नदी के तटवर्ती वर्त्तमान वीरभूमि के सन्निहित वर्द्धमान जिले के कोयला क्षेत्र के एक कोयला स्तर का नाम पनियाति कोयला स्तर है । यह केवल जियोलॉजिकल सर्वे के कागजों में ही आबद्ध नहीं है, स्थानीय मनुष्य आज भी इस अंचल को पनियाति कहकर अभिहित करते हैं । इस इलाके की एक कोयला खान और एक वर्क शाप का नाम भी पनियाति है । भारतवर्ष के विभिन्न कोयला स्तरों के विभिन्न नाम हैं । कोयला स्तर के प्रत्येक में गुणागुर्णो एक नहीं है एवं इन्हीं गुण-अवगुणों के आधार पर कोयले का मान निर्णीत है । प्रत्येक कोयला स्तर का नामकरण हुआ है जिस स्थान से कोयला स्तर आरम्भ होता है उसी स्थान के गाँव के नाम पर । किन्तु पनियाति नामक कोई गाँव अथवा मौजा वर्त्तमान में नहीं है । इसी से लगता है इस क्षेत्र में अंचल के नाम पर यह नामकरण हुआ है एवं अंचल के नाम पर कोयला स्तर का नाम रखा गया है पनियाति कोयला स्तर ।

अनुर्वर और वन्धूर अजय उपत्यका में जो केवल एक कोयला स्तर का नाम लिए टिकी हुई है वह पणियभूमि अथवा पनितभूमि अंचल एक समय पश्चिम मुंगेर पर्यन्त विस्तृत था इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं । इसी अंचल में आज भी प्राचीन श्रावकों के वंशज पीढ़ी दर पीढ़ी रहते आ रहे हैं । राढ़ देश की वज्जभूमि के इस पनियाति या पणियभूमि को केन्द्र कर भगवान महावीर ने अपने साधनाकाल के छः वर्ष व्यतीत किए थे और इसी अंचल के किसी स्थान पर उन्होंने केवल-ज्ञान प्राप्त किया था ।

कहाँ है वह स्थान ? यहाँ भी दिशा निर्देश कर रहे हैं कल्पसूत्र के

रचयिता भद्रबाहु । कहा है द्वर्थहीन भाषा में 'जंभिय गामस्स नगरस्स वहिया उजुवालियाए नई तीरे वियावओस्स चेइयस्स अदूर सामंते सामागस्स गाहावइस्स कट्ट करणंसि साल पायवस्स' अर्थात् जंभीयग्राम नगर के वाहर उजुवालिया (ऋजुपालिका) नदी के तीर पर वियावओ चैत्य के समीप सामाग नामक गृहस्थ के कृषिक्षेत्र में शालवृक्ष के नीचे....।

इतना स्पष्ट स्थान-निर्देश भारतीय तो क्या पृथ्वी के किसी भी साहित्य में विरल ही होगा । भगवान महावीर अवश्य ही किसी लोकालय अथवा नगर में ध्यान करने नहीं बैठे । वे राढ़ देश के जन-कोलाहल से दूर किसी दुर्गम पार्वत्य प्रदेश के जन-विरल स्थान में ध्यान करने बैठे और केवल-ज्ञान प्राप्त किया था । इस भाँति किसी स्थान का निर्देश करने पर हमारे आधुनिक पुराणकार भी खूब असुविधा में पड़ जाएँगे यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है ।

आवश्यकता होगी दिक निर्णायक और माप-जोख के यन्त्रों की, खोजना होगा अक्षांश और देशान्तर को ।

अतः कितने सुन्दर और सुनिपुण भाव से इस स्थान का निर्देश किया है कल्पसूत्रकार ने ।

किसी प्रकार की भूल न हो एतदर्थ पहले नदी के नाम का उल्लेख किया है । फिर एक नगर के सापेक्ष में स्थान की अवस्थिति दिखायी है । इतना करके ही वे शान्त नहीं हुए । उनके वाद वाली पीढ़ियों के दायित्व बोध और अज्ञान को वे जानते थे । अतः उन्होंने मन्दिर का उल्लेख किया । सामाग नामक किसी एक सम्पन्न गाथापति का भी उल्लेख किया जिसके नाम पर यह अंचल प्रसिद्ध था एवं उनका निश्चय ही विशाल कृपिक्षेत्र था ।

इतना विशद् और स्पष्ट निर्देश होते हुए भी हमारी तीर्थ भूमि विस्मृत हो गयी है । इसका कारण या तो हमारी अज्ञानता हो सकती है या धर्मद्वेषी राजा या सम्प्रदाय ।

पहले हमें ऋजुपालिका नदी का परिचय पाना आवश्यक है क्योंकि भगवान महावीर राढ़ देश की वज्जभूमि-पणियभूमि अंचल में परिभ्रमणरत अवस्था में सिद्ध हुए थे । उसी कारण निश्चित रूप से बोला जा सकता है ऋजुपालिका नदी उक्त अंचल में ही प्रवाहित होती थी एवं उक्त अंचल मालभूमि की सख्त मिट्टी से वना है । अतः ऋजुपालिका का गतिपथ परिवर्तन की संभावना

अत्यन्त कम है । ऋजुपालिका अब भी प्रवाहित हो रही है अपने उसी चिर पुराने पथ पर, केवल नाम परिवर्तन कर । प्राचीनकाल में एक स्थान से दूसरे स्थान जाने के लिए विशेष कर पैदल जाने के दो प्रकार के पथ-निर्देशक रहते थे । एक राजपथ दूसरा नदी पथ । राजपथ से साधारणतः सैन्य-सामन्त और सार्थवाह, श्रेष्ठीगण यातायात करते थे । नदी पथ से यहाँ मेरा आशय जलयान द्वारा जाना नहीं है....बल्कि नदी को पथ-निर्देशिका के रूप में रखकर उसके किनारे से या समीप के अंचल से जाना है । इसी प्रकार के नदी पथ ही तीर्थयात्रियों और साधु-संन्यासियों के लिए सुविधाजनक थे । कारण इससे प्रथम तो राजपथ की भीड़ और दण्डधरों की अवांछित पूछ-ताछ टल जाती थीं । दूसरे राह चलते जल का कष्ट विशेष कर मालभूमि अंचल का भी टल जाता । तीसरे में राह भूलने की भी चिन्ता नहीं रहती । चतुर्थतः साधन-भजन भी निश्चिन्तता से होता । चैतन्य चरितामृत में रूप और सनातन के गौड़ से वृन्दावन गंगा नदी का पथ पकड़कर जाने-आने का उल्लेख किया है कृष्णदास कविराज गोस्वामी ने । भगवान महावीर जब नालन्दा से दुर्गम वज्जभूमि अंचल में आते तब वे भी निश्चय ही राजपथ की भीड़ को टालने के लिए किसी नदी पथ का अवलम्बन कर ही आते और उस नदी का नाम ऋजुपालिका होना ही स्वाभाविक है । भगवान के पणियभूमि व राढ़ पर्यटन के समय जिन समस्त ग्राम-नगरों का परिचय प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलता है उनका भी इसी नदी के समीप होना ही उचित है और नदी का उत्स भी नालन्दा के समीप होना चाहिए ।

विपरीत भाव से इन सभी ग्राम और नगर के सन्निकटस्थ अंचल से जो नदी आज भी बह रही है वही ऋजुपालिका होनी चाहिए । इस भाँति अनुसन्धान कर देखने से पता चलता है वर्त्तमान अजय नदी ही है वह पुण्यसलिला ऋजुवालिया या ऋजुपालिका। प्रबन्ध के शेषांश में दिखाया गया है भगवान वज्जभूमि के जिन स्थानों से होकर परिभ्रमण करते थे उन सभी के निकट से अजय नदी प्रवाहित है । इसी सिद्धान्त को आधार बनाकर हमने अजय नदी की तट भूमि का अनुसन्धान किया है, विशेषकर जहाँ यह मालभूमि की बंजर और उबड़-खाबड़ अंचल से होकर बहती है । यह बात हमें सब समय स्मरण रखनी होगी कि भगवान कर्मक्षय करने के लिए ही इस दुर्गम भूमि में आते थे, समतल शष्य-श्यामल अंचल में सुखपूर्वक जीवनयापन करने नहीं ।

भगवती सूत्र के अनुसार उन्होंने ६ वर्ष इसी पणियभूमि अंचल में परिभ्रमण किया था । अतः उनके कैवल्य-पीठ के सन्धान के लिए हमारा इस अजय तटवर्त्ती मालभूमि अंचल को छोड़कर पूर्व की समतल भूमि में जाना युक्ति-युक्त नहीं है । इस भाँति खोजने पर अजय नदी जहाँ बिहार छोड़कर पश्चिम बंग में प्रवेश करती है वहाँ एक ग्राम मिलता है—नाम है चिचुरविल (संथाल परगना) । वहाँ से तीन मील नीचे (पूर्व में) नदी के दूसरे पार में एक और गाँव है । उसका नाम भी है चिचुरविल (वर्धमान) । ऐसा भी नहीं है कि अजय नदी ने दोनों गाँवों को दो भागों में बाँटा है । कारण दोनों ही गाँवों की विपरीत दिशा में अन्य ग्राम वर्त्तमान है और दोनों ही चिचुरविलों की यथेष्ट दूरी है । दोनों ही चिचुरविल गाँवों के प्रत्येक में अजय नदी के विल वर्त्तमान हैं एवं वर्षाकाल में अजय नदी के जल में दोनों विल जलपूर्ण हो जाते है और वर्ष भर इनमें जल रहता है । इस चिचुरविल शब्द की रचना हुई है ऋजुरविल से अर्थात् ऋजुनदी के विल से । दोनों ही ऋजु के विल क्रमशः चिचुरविल में परिवर्तित हो गए है । ऋजुरविल › चिजुर विल › चिचुरविल । विल शब्द का अर्थ है गर्त्त या निम्न भूमि जहाँ जल-निकास की प्रणाली नहीं है । अतः हम देखते हैं कि ऋजुपालिका का नाम बदल जाने पर भी नदी तटवर्ती दो-चार गाँव और नदी संलग्न विल कितने ही परिवर्तनों के झंझावातों से गुजरने पर भी ऋजुपालिका नदी के नाम की साक्षी दे रहे हैं ।

अब प्रश्न है उजूवलिया या ऋजुपालिका का नाम अजय कैसे पड़ा ? इसका उत्तर पाने के लिए हमें प्रायः ८०० वर्ष पीछे जाना होगा—११७४-७६ खृष्टाब्द में । इतिहास कहता है अजय पाल नामक पालवंश के एक व्यक्ति ने जैन धर्म की बहुत क्षति की है । यह समय था पालवंश का अन्तिम समय । पाल राजाओं की राजधानी उस समय मुदागिरि या मुंगेर थी । तब विशाल साम्राज्य नहीं था । केवल मुंगेर और उससे संलग्न सामान्य अंचल में ही उनका राज्य था । हृत गौरव उद्धार की आशा में और ऋजुपालिका नदी की उपत्यका मे अपना कर्त्तत्व प्रतिष्ठित करने के लिए गोविन्द पाल ने उनके वंशज अजय पाल के नेतृत्व में एक अभियान प्रेरित किया । जैन विद्वेषी अजय पाल ने समग्र ऋजुपालिका की उपत्यका में अपना कर्तृत्व प्रतिष्ठित किया । पवित्र जैन मन्दिर और धर्म स्थानों को समूल नष्ट कर दिया और

अपनी कीर्ति को अमर करने के लिए ऋजुपालिका का नया नामकरण किया अजय नदी । उसके इस अभियान के समय जहाँ-जहाँ उसने छावनी डाली उन-उन गाँवों के नाम बदलकर गोविन्दपुर रखा । आज भी अजय उपत्यका में गोविन्दपुर नाम की प्रचुरता है ।

अजय पाल की कीर्त्ति के चिन्हस्वरूप अब भी देखने को मिलती है अजयतट पर धर्मशीला (धर्मशीला किन्तु धर्म ठाकुर नहीं) के शिला-प्रांगण में पशुबलि । गढ़ दिगम्बर पुर (गढ़देमो) शीर्ष के विशाल समतल प्रांगण में कुण्डेश्वर (भगवान महावीर) का भग्न सिंह-लांछन के सम्मुख (वर्त्तमान में काण्डेश्वर शिव) पशुबलि । उपत्यका के इलाके में अजय के दोनों तट पर पंचबलि की बहुलता है— चाहे कोई देवता रहें या न रहें । असल में जैन धर्म स्थानों पर अजय पाल का विद्वेष ही इसका कारण है यह समझा जा सकता है ।

इस अत्याचार के फलस्वरूप धीरे-धीरे इस दुर्गम अंचल के जैन तीर्थ के साथ श्रमण व श्रावकों का संयोग वियुक्त हो गया । पवित्र केवलज्ञान स्थान व अन्य तीर्थ विस्मृति के अतल में खो गए । कुछ-कुछ स्थानों पर अवश्य ही भगवान महावीर ब्राह्मण समाज के रक्षणावेक्षण में भैरव नाम से अब भी पूजे जाते हैं ।

अवश्य ही उच्चारणगत सादृश्यता भी उजुवालिया का नाम अजय में रूपान्तरित होने में सहायक बना ।

इसी ऋजुपालिका नदी (अजय नदी) के सन्निकट ही होगा जम्भीयग्राम नगर । इसके पूर्व भी मुनि कल्याणविजयजी और अन्य लोगों ने जम्भीय ग्राम को दर्शाने का प्रयास किया है किन्तु इन सभी स्थानों के समीप या दूर ऋजुपालिका नदी का या जैन शास्त्रों में वर्णित स्थानों का अस्तित्व नहीं है । और कल्पसूत्रकार ने जिस प्रकार जम्भीयग्राम नगर को ऋजुपालिका से युक्त किया हैं उससे ऋजुपालिका विहीन जम्भीयग्राम के विषय में सोचना युक्तिसंगत नहीं है ।

कल्पसूत्रकार इसी नगर के सापेक्ष में सिद्धभूमि का निर्देश करते हैं । अतः जम्भीयग्राम छोटा गाँव मात्र नहीं है । हजार-हजार मील दूर से आगत श्रमणों को पथ-भ्रान्ति से बचाने के लिए भद्रबाहु ने दुर्गम उपत्यका की इस नगरी को चुन लिया था । अतः राढ़ देश की वज्जभूमि व पणियभूमि के

शुष्क प्रान्त में ऋजुपालिका के समीप ही इसका अवस्थान होना चाहिए ।

इसी युक्ति पर निर्भर कर अजय उपत्यका में पनियाति अथवा पणियभूमि पर पाया जाता है जम्भीयग्राम, वर्त्तमान का जाम ग्राम, ऋजुपालिका (अजय नदी) के सन्निकट गढ़ दिगम्बर (गढ़देमो) पहाड़ की तलहटी में । ऋजुरविल (चिचुरविल) गाँव के चार मील पश्चिम में अवस्थित है । वस्तुतः जाम ग्राम की तुलना अभी भी नगर से की जा सकती है । आयतन से, विभिन्न सम्प्रदायों की बस्तियों से एवं विभिन्न मोहल्लों के समाहार से और प्राचीनत्व के कारण जाम ग्राम को नगर कहना ही समीचीन है । गाँव को देखने पर अब भी प्रथमतः चार पाँच गाँव का भ्रम होने लगता है और इसके एक मुहल्ले से दूसरे मुहल्ले की दूरी प्रायः १ से २ कि॰ मी॰ है । गाँवों का आयतन भी प्रायः १५-३० वर्ग किलो मीटर है और इतना बड़ा मौंजा इन अंचलों में विरल है । गाँव के उत्तर में एक प्राचीन मन्दिर (देवता विहीन) है और दूसरे मन्दिर के ध्वंसावशेष साक्षी देते हैं जाम ग्राम के पुरातत्व का । इस ध्वंसावशेष के ऊपर थोड़े दिन पहले ग्राम के किसी वासिन्दा ने एक मंजिला छोटा शिव-मन्दिर बनाया है । मन्दिर में एक शिव-लिंग है, नाम है सिद्धिनाथ । शिवलिंग साधारण शिवलिंग-सा नहीं है कुछ भिन्न है ।

परित्यक्त मन्दिर की आभ्यंतरिक दीवारों पर शिलालेख अभी भी वर्त्तमान है । उसे पढ़ने का प्रयास किया जा रहा है फिर भी परित्यक्त मन्दिरों की गठन शैली उसके प्राचीनत्व का प्रमाण दे रही है । दूसरा मन्दिर जिसके ध्वंसावशेष पर नवीन मन्दिर निर्मित हुआ है उसकी प्राचीनता के विषय में तो विशेषज्ञ ही मतामत दे सकते हैं । हमारी धारणा में तो वह ध्वंसप्राप्त मन्दिर ही वैयावृत्त चैत्य है ।

कैवल्य-भूमि इसी के सापेक्ष में पायी जाएगी । जंभीयग्राम से इस मन्दिर को मिलाने वाली कल्पित सरल रेखा के साथ-साथ उत्तर में आगे बढ़ने पर सामाग का कृषि क्षेत्र और उजूवालिया नदी होनी चाहिए और है भी । इस मन्दिर से मात्र ५० गज उत्तर की ओर बढ़ने पर दिखायी देती है उजूवालिया की उज्ज्वल बालुकाराशि जो कि रजत-स्त्रोत-सी दिशाओं को उज्ज्वल कर रही है । जंभीयग्राम (वर्त्तमान जाम ग्राम) के उत्तरी परित्यक मन्दिर से नदी की दूरी प्रायः एक-डेढ़ मील है । एक समय यह नदी गढ़ दिगम्बर पहाड़ के सन्निकट से प्रवाहित होती थी यह पहाड़ के उत्तरी पार्श्व की खड़ी ऊँचाई

को देखकर ही समझा जा सकता है । वर्त्तमान में नदी अपने उत्तर दिशा के विलों को ग्रास कर और भी उत्तर की ओर सरक गयी है । अब भी यहाँ उत्तम कृषिक्षेत्र के रूप में तो नदी से जुड़े पलि मिट्टी भरे इलाके ही समझे जाते हैं । अतः इस मन्दिर और नदी के मध्यवर्त्ती इलाकों में ही होना चाहिए सामाग का कृषिक्षेत्र । मन्दिर और नदी के मध्यवर्ती इलाके का नाम है सामापुर । यहाँ कोई ग्राम नहीं है, मात्र कृषिक्षेत्र है । हाँ, कुछेक संथालों ने यहाँ आकर अपना निवास स्थान बना लिया है । हम इसके पूर्व ही कह आए हैं संथाल जाति ने इस अंचल में प्रवेश किया है केवल ३००-४०० वर्ष पहले ही । यह कृषिक्षेत्र इसके पहले भी वर्त्तमान था । किन्तु मनुष्यों का निवास स्थान नहीं था अतः हम देख रहे हैं सामाग का कृषिक्षेत्र किस प्रकार सामापुर का नाम लेकर अभी भी वर्त्तमान है । आज से प्रायः अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का वह सम्भ्रान्त सामन्त या गृहस्थ सामाग को जिसे कल्पसूत्रकार ने अमर कर रखा है उनका कृषिक्षेत्र आज भी नहीं भूला है ।

किन्तु नदी जब दक्षिण की ओर (परित्यक्त) मन्दिर के समीप थी तब सामाग का विस्तृत कृषिक्षेत्र कहाँ था ? सामाग का वह विस्तृत कृषिक्षेत्र निश्चय ही पुराने चैत्य और नदी के मध्यवर्ती क्षुद्र स्थानों के बीच सीमाबद्ध नहीं था । सामाग का कृषिक्षेत्र अथवा काष्ठाकारण नदी के उत्तर की ओर भी विस्तृत था । नदी के उत्तर की ओर देखने पर चौंक जाना पड़ता है यह देखकर कि सामाग का काष्ठाकारण आज भी काष्ठा नाम लिए हुए टिका हुआ है । अब यहाँ ग्राम हैं जिसमें हिन्दू-मुसलमान रहते हैं । गाँव में एक मन्दिर का ध्वंसावशेष भी विद्यमान है ।

अब प्रश्न उठता है कि जो भूमि इतनी पवित्र है वहाँ भगवान महावीर का कोई स्मारक-चिह्न अवश्य रहना चाहिए था ।

हो सकता है धर्म-द्वेषियों के अत्याचार के कारण श्रावकों ने भगवान की स्मृति-जड़ित स्मारक चिन्हों को अन्यत्र ले गए हों या जो कुछ अवशिष्ट रहा निर्बोध लोगों ने ध्वंस कर डाला हो । इतना होने पर भी जंभीय ग्राम नगर का क्या कोई दायित्व नहीं है ? कोई कृतज्ञता बोध नहीं है ? क्या यह उसका कर्त्तव्य नहीं था कुछ पुण्य-स्मृतियों को अपने अंचल में छिपा कर रखने का ?

लगता है दुर्गम स्थान होने के कारण क्रमशः संयोग हीन हो जाने से वैसा कोई मन्दिर या स्मारक नहीं बन सका जिसे चाहने पर भी पूर्णतः

समाप्त नहीं किया जा सकता था । एक कारण यह भी है जिस समय इन अंचलों में अर्थातः मानभूम, बाँकुड़ा, पुरूलिया आदि स्थानों में जैन मन्दिर और शिल्पकला प्रसारित हो रही थी ठीक उसी समय अजय उपत्यका में जैन धर्म और जैन धर्मावलम्बी मनुष्यों पर अत्याचार प्रारम्भ हो गए थे । वह १०वीं-११वीं शताब्दी थी ।

किन्तु जंभीय ग्राम की मिट्टी अकृतज्ञ नहीं है । उसने अभी भी रख रखे है वैयावृत्त चैत्य के ध्वंसावशेषों को और उसके निकटस्थ परित्यक्त प्राचीन शिलालेख सम्बन्धित मन्दिर को । और सब से अधिक उल्लेखनीय, अकाट्य प्रमाण है एक सिंहशीर्ष प्रस्तर स्तम्भ । जंभीय ग्राम की पूर्वी सीमा पर शालिशीर्ष (सरिसातली) ग्राम के निकट वह अभी भी खड़ा है । यह भगवान महावीर की स्मृति है यह निश्चित कर गया है पाखण्डी अजय पाल । उसने भगवान का स्मारक सिंहशीर्ष स्तम्भ के नीचे राम भक्त हनुमान महावीर की गन्धमादनधारी एक मूर्त्ति खुदवाकर भगवान महावीर की स्मृति को ब्राह्मण पौराणिक हनुमान में रूपान्तरित कर दिया है । यह श्राप भी वरदान हुआ है । इससे अधिक निश्चित प्रमाण और क्या हो सकता है ? इसके अतिरिक्त एक और वस्तु भी सब का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है और वह है दो प्रस्तर स्तम्भों के मध्य एक शिवलिंग । उन दोनों प्रस्तर स्तम्भों को देखने से लगता है मानो दो तापस ऊर्द्धमुखी होकर स्वअंगों में ताप ले रहे हैं । जंभीय ग्राम की सीमा के मध्य एक फर्लांग उत्तर में गढ़ दिगम्बर पहाड़ (गढ़ देमो) के ऊपर काण्डेश्वर शिवलिंग हैं । पहले मन्दिर था अब नहीं है । किन्तु यह शिव स्थान नहीं है यह जाना जाता है शिवलिंग क दक्षिण पार्श्व में एक वृहद् पत्थर की सिंह मूर्त्ति देखकर । यह था कुण्डनश्वर का मन्दिर अर्थात् भगवान महावीर का । तदुपरान्त यथारीति मन्दिर को ध्वंस किया गया । शिवलिंग स्थापित हुआ । प्रवर्तित हुई पशुवलि । कुण्डनेश्वर नाम क्रमशः काण्डेश्वर में परिणत हो गया है ।

इसके अतिरिक्त इस कैवल्य भूमि में और भी बहुत कुछ है जिसे हम अपनी क्षुद्र बुद्धि से अभी तक पकड़ नहीं पाए हैं, फिर भी हम अपने सीमित सामर्थ्य को लेकर प्रयास कर रहे हैं । भगवान महावीर के अनुयायियों से, स्थानीय अधिवासियों से, जैन धर्म में श्रद्धा रखने वाले व्यक्तियों एवं अन्ततः पश्चिम बंग सरकार और भारत सरकार के पुरातत्व विभाग से हम इस लुप्त

कैवल्य पीठ के उद्धार में सहयोग की कामना करते हैं ।

अब हम देखेंगे कि भगवान महावीर केवल-ज्ञान प्राप्त कर कहाँ गए, क्या किए ?

जैन शास्त्रों से ज्ञात होता है केवली होने के पश्चात् भगवान का समोसरण लगा जहाँ इन्द्रादि देव उनका ज्ञानोपदेश सुनने आए । जानने की इच्छा होती है कहाँ लगा वह समोसरण जिसमें मनुष्य-समाज अनुपस्थित रहने के कारण कोई दीक्षित नहीं हुआ। केवली की वाणी इस प्रकार व्यर्थ नहीं जाती अतः इसे जैन शास्त्रों में अछेरा कहा गया है ।

विस्मय से अभिभूत हो जाते हैं जब देखते हैं कैवल्य धाम जंभीय ग्राम नगर से मात्र ५ मील पश्चिम में उस समोसरण का प्रान्तर/अछेरा आज भी अछेरा (आछेना) नाम लिए उस पुण्य स्मृति को वहन किए है ।

समवसरण के पश्चात् भगवान छम्मानि होते हुए मज्झमा पावा की ओर चले गए । एक स्थान पर कहा गया है— वे समवसरण के पश्चात् उसी रात मज्झमा पावा चले गए थे ।

मज्झमा पावा एक ग्राम नहीं दो ग्राम हैं किन्तु सभी इसे प्रायः एक ही ग्राम मानते हैं लेकिन ऐसा नहीं है । मज्झमा और पावा दोनों ग्राम आज भी वर्त्तमान हैं । जामताड़ा से मात्र १२/१३ मील उत्तर पश्चिम में मज्झमा है जिसका वर्त्तमान नाम है मेझाना । मज्झमा, मधमा और मेझाना इन शब्दों का भाषागत अर्थ भी एक है अर्थात् मध्यमा । पावा जामताड़ा से ६-७ मील पश्चिम में जामताड़ा और कर्माटर के रास्ते पर है । वर्त्तमान के स्थानीय उच्चारण में वह है पाविया । पावा और मज्झमा का दूरत्व आठ मील है । पास-पास के दो गाँवों के नामों का उच्चारण एक साथ होने के उदाहरण इस अंचल में प्रचुर पाए जाते हैं । यहाँ तक कि २०-२२ मील दूरवर्त्ती दो गाँवों के नाम भी एक साथ बोले जाते हैं ? रेवेन्यू सेटलमेन्ट रेकार्ड में ऐसे उदाहरण हैं ।

जो भी हो पावा (पाविया) अछेरा से मात्र १८ मील पश्चिम में है । छम्मानी अभी भी वर्त्तमान है अछेरा से ७-८ मील उत्तर पश्चिम में अजय के तट पर । वर्त्तमान नाम है झमनिया । झमनिया से भगवान पावा गए थे रात्रि में । मज्झमा (मेझाना), पावा (पाविया) और छम्मानि (झमनिया) ये तीनों स्थान ही संथाल परगना जिले में एवं अजय तटवर्त्ती अंचल में हैं ।

अतः कहा जा सकता है कि जैन शास्त्रकारों ने उन्हें लिखने में किसी भी प्रकार की अयोक्तिकता अथवा कल्पना का आश्रय नहीं लिया । समवसरण के स्थान अछेरा से मज्झमा पावा में (मेझाना-पावियाय) आज भी एक रात में पैदल चलकर जाना सम्भव है ।

हम पहले ही कह आए हैं कि भगवान महावीर ने अपनी साधनाकाल का बहुत-सा समय राढ़ देश की वज्जभूमि या पण्यि-भूमि के रूक्ष ऊबड़-खाबड़ प्रान्तर और कंकरमय ऋजुवालिका की उपत्यका में व्यतीत किया था । अतः जो स्थान उनके पावन चरण-स्पर्शों से धन्य हुई हैं वे सब इस अंचल में ही विद्यमान हैं एवं उनका रहना उचित भी है । इसी युक्ति का अवलम्बन कर हमने जैन शास्त्रों में वर्णित स्थानों में कुछेक को खोज निकालने का प्रयत्न किया है एवं उन स्थानों में प्रायः बहुत से ऋजुवालिका या अजय नदी की उपत्यका में अवस्थित है ।

अस्थिका व अस्थिक ग्राम — भगवान महावीर गृहत्याग करने के पश्चात् सर्वप्रथम अस्थिक ग्राम या अट्ठीय ग्राम में आए । जैन शास्त्रों के अनुसार यहाँ शूलपाणि यक्ष का मन्दिर था । साधु-संन्यासियों के बहुत से आश्रम थे । वे यहाँ वर्षावास करते थे । अस्थिका ग्राम के एक आश्रम में भगवान महावीर को वर्षावास के लिए सादर आमंत्रित किया गया था एवं उन्होंने उसे ग्रहण भी किया था । किन्तु मतान्तर हो जाने के कारण पन्द्रह दिनों के पश्चात् ही उन्होंने आश्रम परित्याग कर शूलपाणि के यक्षायतन में आश्रय लिया । शूलपाणि यक्ष कहने से शूलपाणि शिव ही समझे जाते हैं । अतः देख पा रहे हैं खृष्ट जन्म के ५०० वर्ष पूर्व भी अस्थिक ग्राम में शिव-मन्दिर था । शिव-मन्दिर का इतना पुराना निदर्शन लगता है अन्य नहीं है । महाकवि कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर का उल्लेख किया है । महाकाल है भारतवर्ष के द्वादश ज्योतिर्लिंग में एक । अतः अस्थिक ग्राम के शूलपाणि शिव भी द्वादश ज्योतिर्लिंग में एक है ऐसा कहा जा सकता है । अब देखें नालन्दा से पूर्व की ओर जंभीय ग्राम के पास अजय तीरवर्ती अंचल में कोई ज्योतिर्लिंग विद्यमान है या नहीं । देवघर के शिवलिंग द्वादश ज्योतिर्लिंग में अन्यतम है । एतदर्थ यह एक प्राचीन तीर्थ स्थान एवं बहुत से साधु-संन्यासियों का आश्रय-स्थल था ऐसा कहा जा सकता है । अतः वैद्यनाथ धाम अथवा देवघर राढ़देश का एकमात्र प्राचीन शैवतीर्थ हैं जिसके साथ

केवल नाम को छोड़ कर अस्थिक ग्राम के शूलपाणि मन्दिर का पूरा सादृश्य है । अस्थिक ग्राम अर्द्ध मागधी में अट्टि ग्राम होता है । जैन शास्त्रों ने भी अस्थिक ग्राम को अट्टीय ग्राम कहा है । आश्चर्य का विषय है देवघर और देवघर सन्निहित संथाल परगना जिले का एक वृहद् अंश आज भी आठ गाँव परगना के अन्तर्गत है । आठ गाँव अट्टिय ग्राम से बना है यह कहने की आवश्यकता नहीं है । अतः देख रहे हैं कि अट्टिय ग्राम सा आठ गाँव परगना की सृष्टि हुई है । कालक्रम से शिव के नामानुसार एवं एक देव स्थान के रूप में नाम परिवर्तित होकर वैद्यनाथ धाम व देवघर हो गया। स्थानीय लोगों से पूछने पर 'आठ गाँव परगना' और 'आठ गाँव की मजलिस' प्रत्युत्तर से इसकी सत्यता प्रमाणित होती है । इसके अतिरिक्त रेवेन्यु सेटलमेन्ट रेकार्ड में देवघर आठगाँव परगना के अन्तर्गत है । जंभीय ग्राम से देवघर की दूरी ४०-४२ मील है एवं अजय नदी देवघर से ४-५ मील दूर अवस्थित है ।

ब्राह्मण गाँव— जैन शास्त्रों में ब्राह्मण ग्राम का उल्लेख है । यहाँ पाठक नन्द उपानन्द रहते थे । ब्राह्मण गाँव वर्त्तमान में ब्राह्मण गाँवा नाम से अजय तट पर मधुपुर से १०-१२ मील पूर्व में संथाल परगना में अवस्थित है । यह एक वर्द्धिष्णु ग्राम है ।

चम्पा–जामताड़ा के तीन मील पूर्व में संथाल परगना में अजय नदी के तट पर अवस्थित है । वर्त्तमान नाम है चम्पापुर । जंभीय ग्राम के पश्चिम में २५-२६ मील की दूरी पर अवस्थित है ।

पत्रकालय (पत्तकालय) — मधुपुर से सात मील पूर्व में संथाल परगना में अजय नदी के तीर पर अवस्थित है । वर्त्तमान नाम है पातरोल ।

नांगला—अजय नदी से ७ मील और जंभीय ग्राम के पश्चिम में १५-१६ मील दूर अवस्थित है । वर्त्तमान नाम है नला । नंगला > नंला > नला ।

पूर्ण कलश—जामताड़ा से ३-४ मील उत्तर-पूर्व में संथाल परगना में अजयतट पर अवस्थित है । जंभीय ग्राम से २५-२६ मील उत्तर-पूर्व में है । वर्त्तमान नाम है पूर्णघटि ।

लाढ़—इस नाम के किसी भी गाँव का उल्लेख जैन शास्त्रों में नहीं मिलता । लाढ़ राढ़ भूमि है । फिर भी जंभीय ग्राम से ३ मील पूर्व में अजय तट पर लादा नामक गाँव मिलता है । लादा लाढ़ से होना संभव है ।

जंभीय ग्राम—वर्द्धमान जिले के पूर्व-रेलवे का गौरांडी स्टेशन जंभीय ग्राम में अवस्थित है ।

कलंबुका—लादा ग्राम के विपरीत अजय नदी के उत्तर तट पर संथाल परगना में अवस्थित है । बीच-बीच में यहाँ मेला लगता है और काफी पशुबलि होती है । कोई देव-देवी यहाँ नहीं है । यह जंभीय ग्राम से ३ मील उत्तर में अवस्थित है ।

भद्दिया अथवा भद्दिला—वर्त्तमान नाम है भादुलिया (वीरभूम) । जंभीय ग्राम से १२ मील उत्तर-पूर्व में और अजय नदी से ४-५ मील उत्तर में अवस्थित है ।

कदली समागम—केंदली या केंदुली जो कदली समागाम था वह इसके मेले में केले की आमदनी को देखकर ही समझा जा सकता है । इस अंचल के अन्य किसी भी मेले में केले की इतनी बिक्री नहीं होती । वर्त्तमान में केंदुली जयदेव की केंदुली रूप में प्रसिद्ध है । वीरभूम जिले के अजय तट पर यह अवस्थित है । यह जंभीय ग्राम से ३२ मील पूर्व में है ।

मरदाना—वर्त्तमान में मदनपुरा । जंभीय ग्राम से ३ मील पूर्व में है । यहाँ प्राचीन ध्वंसावशेष वर्त्तमान है । अजय नदी से २ मील दक्षिण में और जंभीय गाँव से २ मील पूर्व वर्द्धमान जिले में अवस्थित है ।

लोहर्गला—वर्त्तमान लोहागारा । अजय नदी के ५ मील उत्तर में संथाल परगना में अवस्थित है ।

गौभूमि—वर्त्तमान ग्वालडांगा । संथाल परगना में है । जंभीय ग्राम से १२-१३ मील उत्तर-पूर्व में अवस्थित है ।

सिद्धार्थपुर—वर्त्तमान नाम है सिद्धपुर, जिला वर्द्धमान । जंभीय ग्राम से आठ मील पूर्व में अजय नदी के तीर पर अवस्थित है । एक प्राचीन भग्न मन्दिर भी वर्त्तमान है ।

व्रज ग्राम—वर्त्तमान नाम है वजडिहि । अजय के उत्तर तट पर सिद्धपुर के विपरीत वीरभूम जिले में अवस्थित है ।

कुमारपुर—कुमारडि । सिद्धपुर से ३ मील दक्षिण-पश्चिम में वर्द्धमान जिले में अवस्थित है ।

मेंढियग्राम—वर्त्तमान मालडिहा अथवा मानडिया । संथाल परगना के

अजय नदी के तट पर जंभीय ग्राम से ६-७ मील उत्तर में अवस्थित है ।

चोराक सन्निवेश—वर्त्तमान चुरूलिया (चोरालय), जिला वर्द्धमान । जंभीय ग्राम से ४ मील पूर्व में अवस्थित हैं ।

श्वेताम्बिका—श्वेतकि अम्बिका । वर्त्तमान में शतकि और अम्बा नामक दो गाँव पास-पास संथाल परगना में हैं । जंभीय ग्राम से ८ मील उत्तर-पूर्व में अवस्थित हैं ।

सुवर्ण बालुका नदी—श्वेताम्बिका के पार्श्व में प्रवाहित है । वर्त्तमान नाम है हिंगुला या हिंला । हिंगुला का अर्थ ही है सुवर्ण । अजय और जंभीय गाँव के ६ मील उत्तर में प्रवाहित है ।

मोराक सन्निवेश—मोराक=मोर+आँक या मौर+आँख अर्थात् मयूराक्षी। मयूराक्षी का उत्स स्थान संथाल परगना के हंस डिहा के निकट है ।

सम्भवतः अतीत युग में कर्नाटक के दिगम्बर साधुगण भगवान महावीर की कैवल्यभूमि इसी जंभीय ग्राम के निकट अवस्थान करते थे । जंभीय ग्राम के मात्र ३ मील पूर्व में गढ़ दिगम्बर पहाड़ की तलहटी के दो ग्राम इस विषय के साक्षी हैं । एक का नाम है बागोली और दूसरे का नाम है देगोली। बागोली शब्द आया है बेलगोला शब्द से जिसका अर्थ है श्वेत सरोवर । देगोली शब्द आया है देवगोला शब्द से जिसका अर्थ है देव सरोवर ।

उपरोक्त स्थानों में अधिकांश ही अजय तट पर या अजय उपत्यका में अवस्थित रहने से यह समझने में कोई असुविधा नहीं है कि यही अंचल था प्राचीन लाढ़ की वज्जभूमि वा पणिय भूमि और अजय नदी ही है वही ऋजुबालिका यह निःसन्देह कहा जा सकता है । और भी अनेक स्थानों का हमने पता लगाया है एवं इस विषय में और भी अनेक तथ्य संग्रह किए हैं किन्तु प्रबन्ध के कलेवर की वृद्धि के भय से पीछे कभी प्रकाशित करने की इच्छा हैं ।

बंगाल में जैन युग की स्मृति

श्री गोपेन्द्र कृष्ण बसु

जैन साहित्य के आचारांग सूत्र में कहा गया है कि अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने धर्म-प्रचार के लिए लाढ़, सूम्ह (पश्चिम बंगाल) प्रभृति अंचलों में भ्रमण किया था । इन स्थानों में प्रथमतः उनका विरोध हुआ था । यहाँ तक कि उन्हें अत्यधिक अत्याचारों को भी सहन करना पड़ा था । किन्तु अन्ततः अधिकांश क्षेत्रों में उन्हें सफलता मिली ।

महावीर के पश्चात् खृष्ट पूर्व चतुर्थ शताब्दी में विख्यात् जैन आचार्य अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु का बंगाल में जैन धर्म प्रचार उल्लेखनीय है । भद्रबाहु का जन्म देवकोट में हुआ था । उस समय देवकोट को कोटिवर्ष कहा जाता था । कोटिवर्ष उत्तरी बंगाल के मध्य वर्त्तमान दिनाजपुर जिला का वानगढ़ है ।

भद्रबाहु अपने समय के सबसे अधिक प्रभावशाली धर्म प्रचारक थे । कहा जाता है वे मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त के गुरू थे । चन्द्रगुप्त ने उन्हीं की प्रेरणा एवं प्रभाव से जैन धर्म ग्रहण किया था ।

भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र में गोदास गण का उल्लेख पाया जाता है । वहाँ गोदासगण की कई शाखाओं में चार शाखाओं को बंगाल से सम्बन्धित बताया गया है । यथा : ताम्रलिप्तिया–तमलुक शहर के, कोटिवर्षिया–दिनाजपुर के निकटस्थ वानगढ़ के, पुण्ड्रवर्द्धनिया–वगुड़ा के निकटस्थ महास्थान गढ़ के और दासी खर्वटिया–मेदिनीपुर के समीप खर्वट के । इससे कहा जाता है कि महावीर और उनके शिष्य-प्रशिष्यों के धर्म प्रचार के कारण समस्त बंगाल में एक समय जैन धर्म प्रतिष्ठित हुआ था । लगता है पार्श्वनाथ के समय में भी इन सब अंचलों में जैन धर्म का प्रचार हुआ था । इस धारणा का कारण यह है कि बंगाल के विभिन्न स्थानों से प्राप्त जैन तीर्थंकर की मूर्त्तियों में पार्श्वनाथ की प्रतिमाएँ ही अधिक हैं । खृष्ट पूर्व से दीर्घकाल तक जैन धर्म के प्रचार के फलस्वरूप पूर्वी भारत के इस अंचल में अर्थात् बंगाल में सहस्त्र-सहस्त्र व्यक्ति जैन धर्म ग्रहण कर इस धर्म के प्रति श्रद्धाशील बने थे । उन्हीं के

द्वारा बहुत से जैन मठ, मन्दिर और तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ विभिन्न स्थानों में प्रतिष्ठित हुई थीं ।

इस क्षेत्र में उल्लेखनीय है कि मौर्य राजागण जिस समय पाटलीपुत्र से बंग देश पर शासन करते थे उस समय इस देश में जैन धर्म ने इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी कि परवर्ती कई शताब्दियों तक उसका प्रभाव बना रहा ।

खृष्टीय सप्तम शताब्दी के राजा हर्षवर्द्धन के समय चीन देशीय बौद्ध परिव्राजक ह्वेनसांग भारत परिभ्रमण के लिए आए थे । वे दीर्घकाल तक इस देश में रहे थे । उनके भ्रमण वृतान्त में उल्लिखित है–हर्षवर्द्धन शैव होते हुए भी जैन धर्म के विशेष अनुरागी थे एवं उस समय बंगाल में विशेष कर दक्षिण पश्चिम अंचल में बहुत से निर्ग्रन्थ जैन ब्राह्मण थे । बंगाल में बौद्ध की अपेक्षा जैन धर्म का प्रभाव अधिक विस्तृत था ।

बंगाल में पाल राजाओं के शेष युग से जैन धर्म के प्रभाव का ह्रास होने लगा था । एवं सेन राजाओं के शासनकाल में वह विनष्टप्रायः हो गया । परिणामतः बंगाल के बहुत से जैन संस्कृति के निदर्शन भूमि गर्भ में समा गए या ध्वंस हो गए । यह इतना शोचनीय रूप में घटा कि प्राचीन जैन साहित्य के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार यह नहीं जाना जाता कि बंगाल एक समय कई शताब्दियों तक जैन संस्कृति के प्रभाव में था अर्थात् इस देश के लक्ष-लक्ष व्यक्ति जैन धर्मावलम्बी या अनुरागी थे ।

वर्त्तमानकाल में गवेषणा, प्रत्नतात्विक अनुसन्धान एवं ऐतिहासिक पर्यालोचना के द्वारा बंगाल के वनों में, खण्डहरों में प्राप्त जीर्ण भग्न अवहेलित प्राचीन प्रस्तर-मूर्त्तियाँ, ध्वंस प्राप्त मठ, मन्दिर, स्तूप आदि में अधिकतर जैनों के है यह ज्ञात हुआ है । इसके पूर्व अनेकों की यह धारणा थी कि ये सब बौद्धों के हैं । यही इस प्रबन्ध का विषय है।

प्रसंगवश सर्वप्रथम बांकुड़ा जिले का उल्लेख करना होगा । इस जिले के सभी स्थान जैन साहित्य में वर्णित लाढ़ सीमा के मध्य तीर्थंकर महावीर के समय में थे एवं उन्हें लाढ़ अंचल में जैन धर्म का प्रचार करते समय बहुत अत्याचार सहन करना पड़ा था । किन्तु अब लगता है कि उन्हीं स्थानों में जैन धर्म ने बाद में खूब प्रतिष्ठा प्राप्त की थी ।

बाँकुड़ा जिले के बहुलाड़ा, हाड़मासरा शालतोड़, धरापाट, मौलबनि, अम्बिकानगर, सोनातोपाल आदि में इतनी अधिक संख्या में जैन मठ, मन्दिरों के ध्वंसावशेष, तीर्थंकर मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं या आविष्कृत हुई हैं कि वे सब

बंगाल के अन्यान्य जिलों की तुलना में सर्वापेक्षा अधिक लगती हैं । बहुलाड़ा ग्राम में सिद्धेश्वर के नाम से प्रसिद्ध मन्दिर पहले जैन मन्दिर था ऐसी धारणा आज के बहुत से मनीषियों ने की है । इस मन्दिर के गर्भ गृह के सम्मुख शिवलिंग है, उसके पीछे गणेश और दसभुजा आदि हिन्दू देवताओं के मध्य में या विशिष्ट स्थान में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की ४ फुट ऊँची मूर्ति विराजमान है । उसे देखकर ऐसा नहीं लगता है कि उस मूर्त्ति को निराश्रित होने के कारण इस मन्दिर में स्थान मिला है । बल्कि ऐसा लगता है कि पहले यही एक मूर्त्ति इस मन्दिर में थी बाद में हिन्दू मूर्त्तियों को यहाँ प्रतिष्ठित किया गया है । इस विषय में श्रद्धेय श्री विनय घोषने अपनी 'पश्चिम बंगेर संस्कृति' नामक पुस्तक में जो मन्तव्य दिया है वह उद्धृत करता हूँ— "शैव धर्मियों की प्रधानता के पूर्व लगता है जैन और बौद्ध धर्मीय लोगों का भी प्रभुत्व बहुलाड़ा में रह चुका है ।" सिद्धेश्वर मन्दिर के मध्य आज भी जिस मूर्त्ति का पूजन होता है वह जैन तीर्थंकर पार्श्वनाथ की मूर्त्ति है । इस मन्दिर के समीप ही भू-गर्भ से कितने ही स्तूप आविष्कृत हुए हैं । कोई-कोई इतिहासकार सोचते हैं कि ये सब बौद्ध सन्यासियों की समाधि है । किन्तु यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि जैनों में भी इस प्रकार समाधि स्तूपों का गठन होता था । स्तूप पूजा व आराधना जैनों ने बौद्धों से पूर्व प्रारम्भ की थी । बहुत से इतिहासकार कहते हैं भारत में जैन और बौद्ध युग के बहुत पूर्व भी स्तूप पूजा प्रचलित थी चाहे देवता के प्रतीक के रूप में या भक्ति भाजन परलोकगत व्यक्ति की समाधि के रूप में ।

परेसनाथ ग्राम नाम से भी यह स्थान एक समय जैनों से सम्बन्धित था ऐसी धारणा बनती है । परेसनाथ से पत्थरों पर खोदी हुई बहुत-सी जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं । सबसे अधिक उल्लेखनीय है इस स्थान की छः फुट ऊँची पार्श्वनाथ की पाषाण प्रतिमा ।

हाड़मासरा में सामान्य से अनुसन्धान में ही एक जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति और एक जैन मन्दिर के ध्वंसावशेष आविष्कृत हुए हैं ।

शालतोड़ ग्राम से कुछ दूर बिहारीनाथ पहाड़ की तलहटी में एक प्राचीन मन्दिर में एक विचित्र मूर्त्ति है । इसमें जैन तीर्थंकरों और विष्णुमूर्त्ति का सम्मिलित—मिश्रित रूप मिलता है । लगता है इस जिले के वैष्णव धर्म के प्राधान्य काल में तीर्थंकर मूर्त्ति के ऊपर ही विष्णु का मुखमण्डल बना दिया और उसकी देह के एक-दो अंश को खोदकर उसे हिन्दू मूर्त्ति में रूपान्तरित

कर लिया गया है । ऐसी मूर्त्तियाँ अन्यत्र भी मिलती हैं।

धरापाट में एक जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति हिन्दू रीति के अनुसार पूजी जाती है और एक मन्दिर की प्राचीर पर जैन तीर्थंकर की खोदी हुई मूर्त्ति है । पहले यह जैन उपासना का केन्द्र था । बाद में श्रीकृष्ण के पूजा स्थल रूप में परिवर्तित हो गया । मौलवनि ग्राम के मल्लेश्वर शिव मन्दिर के निकट और अन्य दो एक स्थान में बहुत से जैन निदर्शन मिलते हैं ।

सोनातोपाल ग्राम में जो प्राचीन मन्दिर है उसमें मूर्त्ति न रहने पर भी स्थानीय लोगों में वंश परम्परागत यह धारणा प्रचलित है कि वह जैनों का एक पूजा स्थान है। इस ग्राम के कई स्थानों से भी जैन मूर्त्तियाँ आविष्कृत हुई हैं । किन्तु बाद में व्यवसायियों ने उन प्राचीन मूर्त्तियों को बेच दिया है।

पहाड़पुर (प्राचीन सोमपुर) राजशाही जिले में (अब बंगाल देश) अवस्थित है । प्रत्नतात्विक खनन के फलस्वरूप इस स्थान के भू-गर्भ से प्रथम स्तर पर बौद्ध, और द्वितीय स्तर पर जैन संस्कृति के बहुत से निदर्शन आविष्कृत हुए हैं । जिनसे यह भली-भाँति प्रमाणित होता है कि— प्राचीनकाल में पहाड़पुर जैनों का एक धर्मकेन्द्र या तीर्थस्थान था । फिर इस स्थान को बौद्धों ने हस्तगत कर लिया । उस समय इस स्थान का बौद्ध विहार सोमपुर विहार नाम से प्रसिद्ध था । पहाड़पुर के द्वितीय स्तर से आविष्कृत ताम्रलिपि से जाना जाता है कि इस स्थान के एक ब्राह्मण दम्पति ने १५९ वीं गुप्ताब्द (खृष्टीय ४७८-७६) में वट गोहाली नामक ग्राम में निर्ग्रन्थों के मठ-निर्माण के लिए जैन श्रमण गुहनन्दी को भूमिदान किया था ।

पहाड़पुर के भू-गर्भ से २६ विभिन्न आकार के स्तूप भी आविष्कृत हुए हैं । इनका जैनों से सम्बन्धित होना ही सम्भव है ।

मुर्शिदाबाद के फरक्का से सम्प्रति जैन धर्म संस्कृति के कई प्राचीन निदर्शन मिले हैं उनमें एक जलायी हुई भट्टी का फलक उल्लेख योग्य है । उस पर हंस मूर्त्ति खुदी हुई है । जैनों के स्थापत्य शिल्प में हंस का चित्र प्रायः ही पाया जाता है ।

कासिमबाजार महाजन टोली में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ की मूर्त्ति है । वह हिन्दू विधान से पूजी जाती है । पुरूलिया जिले के पाकविड़रा ग्राम में अष्टम जैन तीर्थंकर चन्द्रप्रभ स्वामी की ७॥ फुट ऊँची सुन्दर मूर्त्ति है । यह खृष्टीय नवम शताब्दी में निर्मित हुई थी यह भी जाना गया है ।

वर्द्धमान जिले में मेमारी के निकट सात देउलिया एवं वराकर ग्राम में भी दो जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष और भग्नावस्था में जैन धर्म संस्कृति के बहुत से निदर्शन पाए जाते है ।

वर्द्धमान जिले के अम्बिका नगर (कालना) की अम्बिका देवी प्रथमतः जैन देवी थी, अभी वर्त्तमान में यह देवी दुर्गा के रूप में पूजी जाती है । इसके स्वरूप के विषय में श्री विनय घोष ने अपनी 'पश्चिम बंगेर संस्कृति' पुस्तक में जो मन्तव्य दिया है वह उद्धृत करता हूँ— "असल में अम्बिका है जैन धर्मवालों की विख्यात उपास्य देवी, बाद में यह बंगाल की कोमल धरती में दुर्गा में परिणत हो गयी ।"[1]

चौबीस परगना जिले के दक्षिण प्रान्तिक अंश या सुन्दरवन सीमा के मध्य जैन धर्म संस्कृति के बहुत से निदर्शन पाए गए हैं । उन सबका विवरण देने के पूर्व दो एक बात कहना आवश्यक है । वर्त्तमान सुन्दरवन सीमा में बहुत से स्थान पहले खृष्टीय द्वादश शताब्दी में भी अरण्यमुक्त और समृद्ध जनपद पूर्ण थे और इनके अंशविशेष राढ़ और पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति के अन्तर्भुक्त थे ।

इस जिले के डायमण्ड हार्बर महकमे में प्रायः दुर्गम ग्राम में दो प्राचीन ध्वंस स्तूप (गत शताब्दी में वन बसने के पश्चात् से) पाए जाते हैं । ये दोनों स्थान लोगों में मठवाड़ी के नाम से परिचित हैं । पहला घोष लोगों के चौक में वाइसहाटा ग्राम के प्रान्त में धान क्षेत्र का विराट स्थान अधिकृत किए हुए है । कुछ समय पूर्व इसकी उच्चता थी प्रायः बीस फुट । वर्त्तमान में कुछ ह्रास हो गया है । इसी वाइसहाटा की मठवाड़ी से कई मील दूर द्वितीय मठवाड़ी नलगोड़ा नामक ग्राम के समीप है । वर्त्तमान में यह ऐतिहासिक व प्रत्नतात्विकों के निकट परिचित 'जटार देउल' से ४-५ मील के मध्य है । अभी इस नलगोड़ा मठवाड़ी के समस्त चिह्न लुप्त होते जा रहे हैं स्थानीय लोगों के इससे ईंटें अपसारित कर देने के कारण । विख्यात प्रत्नतत्वविद् स्वर्गीय कालिदास दत्त महाशय ने दोनों मठवाड़ियों को देखकर अपना मन्तव्य दिया था कि ये दोनों ध्वंसावशेषों का जैन मठ होना ही सम्भव है । कारण इस अंचल में बहुत से जैन निदर्शन आविष्कृत हुए हैं । प्रसंगतः इस क्षेत्र में इस स्थान के इतिहास विख्यात जटार देउल का उल्लेख किया जा सकता है । कोई-कोई प्रत्नतात्विक अनुमान करते हैं उक्त जटा ग्राम के प्राचीन और विराट मन्दिर या जटार देउल जैनों के हैं । इसी अनुमान के समर्थन में कहा

जाता है — अठारहवीं शताब्दी में इष्ट इण्डिया कम्पनी जब सुन्दरवन को अरण्यमुक्त करने को उद्योगी हुई उसी समय यह मन्दिर प्रकट हुआ । उस समय अंग्रेज सर्वेयर मि° स्मिथ ने जो विवरण दिया उसमें लिखा है कि उन्होंने जटा नामक अंचल के मन्दिर में एक ८-९ वर्ष के बालक की भाँति मूर्त्ति देखी थी । मूर्त्ति दण्डायमान थी । बाद में या वर्त्तमान में स्मिथ साहब वर्णित मूर्त्ति उक्त मन्दिर में दिखलाई नहीं पडती । इससे अनुमान किया जा सकता है कि वह मूर्त्ति किसी जैन तीर्थंकर की थी। जटार देउल और वाँकुड़ा जिले के बहुलाड़ा के सिद्धेश्वर मन्दिर में गठनगत समानता है । इन दोनों रेख देउल का निर्माणकाल भी प्रायः एक ही है । बहुलाड़ा के मन्दिर के विषय में बहुत-सी आलोचनाएँ और गवेषणाएँ हुई हैं । कुछ ऐतिहासिकों ने अपना अभिमत दिया है कि यह जैन मन्दिर हैं । किन्तु जटार देउल के विषय में अधिक गवेषणा नहीं हुई है । गवेषणा कार्य के लिए निर्भरयोग्य उपादान भी नहीं पाए गए हैं। वन हासिल करने के समय जो फलक प्राप्त हुआ उससे मालूम होता है उक्त मन्दिर राजा जयचन्द्र द्वारा शक-सम्वत् ८९७ में निर्मित है । यदि यह ठीक न भी हो तो खृष्टाब्द ९५७ में तो निर्मित है ही । बहुलाड़ा का सिद्धेश्वर मन्दिर जैन मन्दिर है ऐसा बहुत से गवेषकों का मन्तव्य है । जटार देउलके साथ कई विषयों में समानता होने से एवं जटा अंचल से जैन निदर्शनों के आविष्कृत होने के कारण यह अनुमान किया गया है कि जटार देउल जैनों का ही मन्दिर है । तीर्थंकर महावीर के समय से भद्रबाहु पर्यन्त (खृ° पू° पंचम्-षष्ठ शताब्दी से खृ° पू° चतुर्थ शताब्दी) जैन धर्म के प्रचार स्थानों में पुण्ड्रवर्द्धन का उल्लेख है । जटा का यह मन्दिर पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति में था यह ताम्रलिपि से जाना गया है ।

इस स्थान से प्रायः १५-१६ मील दक्षिण पूर्व में सुन्दरवन की सीमा में देलवाड़ी या देउलवाड़ी जंगल में मन्दिरों का जो ध्वंसावशेष आविष्कृत हुआ है वह जैन मन्दिर था ऐसा कोई-कोई अनुसन्धानरत गवेषकों का अनुमान है । 'देउल' शब्द का अर्थ मन्दिर है । यह हिन्दू, बौद्ध या जैन मन्दिर के सम्बन्ध में प्रयुक्त हो सकता है । किन्तु प्रायः क्षेत्रों में लक्ष्य किया गया है कि देउल अर्थात् मन्दिर या मन्दिरयुक्त प्राचीन ग्राम से अतीतकाल की सभ्यता के जो निदर्शन आविष्कृत हुए हैं उनमें अधिकांश जैन धर्म संस्कृति के परिचायक हैं । उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत कर सकते हैं वर्द्धमान जिले का सात देउलिया पुरूलिया का देउल या देउली ।

चौबीस परगना जिले में कुछ दूर-दूर स्थित कई ग्रामों में जैन धर्म संस्कृति के निदर्शन देखे जाते हैं। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि जैन धर्म के प्राधान्य काल में इस अंचल में एक जैन समाज या जैन धर्म का केन्द्र था। ग्रामों के नाम यथाक्रम करञ्जलि, कांटावेनिया एवं घाटेश्वर है। मि° डेविड मैकाच्चन, श्री अमिय कुमार बन्दोपाध्याय आई° ए° एस° के साथ इस अंचल के भ्रमणकाल में जिन जैन निदर्शनों को देखा था उनका विवरण नीचे दिया जाता है।

करञ्जलि (ऐसी विशुद्ध भाषा किसी गाँव के नाम की नहीं सुनी जाती। इसी से धारणा की जा सकती है कि किसी समय यह गाँव समृद्ध था जो कि अब वर्त्तमान में एक साधारण गाँव मात्र है।) गाँव में किसी-किसी भू-स्वामी के घर में कुछ पुरातत्व की वस्तुएँ रक्षित हैं। ये सब इसी अंचल से संग्रहित हैं। इनमें कई जैन संस्कृति के निदर्शन भी हैं। इसी ग्राम की एक पुष्करनी के तटपर दो वृहद् आकार के स्तम्भ या मन्दिर के खम्भे हैं। इस पर उत्कीर्ण कारूकार्य को लक्ष्य कर यह कहा जा सकता है कि ये जैन शिल्प के निदर्शन हैं। दोनों स्तम्भ जैन मन्दिर के हैं जो कि इसी ग्राम के भू-गर्भ में चला गया है। कांटावेनिया ग्राम से कुछ दूर एक गाँव में तीर्थंकर पार्श्वनाथ की एक अक्षत और सुन्दर मूर्त्ति प्रायः ४ फुट ऊँची है जो की यत्नपूर्वक मन्दिर में रखी हुई है। उसकी पूजा भी नित्य होती है किन्तु लौकिक देवता पञ्चानन्द मान कर। पहले इस मन्दिर में बकरे की बलि भी दी जाती थी।

कुछ दूर अवस्थित घाटेश्वर गाँव में आदिनाथ अर्थात् जैन धर्म के प्रवर्तक ऋषभनाथ की मूर्त्ति है।

घाटेश्वर ग्राम की आदिनाथ भगवान की मूर्त्ति यद्यपि जीर्ण हो गयी है फिर भी लंक्षण और शिरस्त्राण को लक्ष्य करते हुए यह सिद्ध किया जा सकता है कि यह मूर्त्ति ऋषभनाथ की है। पद्म पर दण्डायमान, मस्तक पर मुकुटाकार जटाजूट, पार्श्व में उड्डीयमान गन्धर्व है। वृप लांछन एकदम अस्पष्ट हो गया है।

कैनिंग शहर से कुछ दूर मातला थाने के आधीन वोल वाउल ग्राम में अति जीर्ण अवस्था में प्रायः ५ फुट ऊँची जो जैन मूर्त्ति मिलती है वह पार्श्वनाथ की है। दक्षिण बारासात में इसी प्रकार की जीर्ण अवस्था में पार्श्वनाथ की एक मूर्त्ति उन्मुक्त स्थान में एकदम अवहेलित रूप में पड़ी है।

सुन्दरवन से कई जैन चौखुपी मन्दिर की क्षुद्र अनुकृतियाँ पायी गयी

हैं । ये आठ से दस इंच ऊँची हैं । इनमें दो पाषाण की हैं अन्य हैं जली हुई मिट्टी की । चौखुपी चतुष्कोण है । इसके चारों ओर जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं । चौखुपी शब्द चौमुख से आया है । जैन शिल्प का एक वैशिष्ट्य होता है चतुर्मुख या चौमुखी प्रतिमा ।[2]

बंगाल में सराक नाम से परिचित एक सम्प्रदाय का सन्धान मिला है । ये जीव हिंसा नहीं करते, निरामिष आहार करते हैं । वर्त्तमान में हिन्दू समाजभुक्त होने पर भी उनके आचार और आचरण में जैन प्रभाव दिखाई देता है ।

सराक शब्द श्रावक से उत्पन्न हुआ है । गृहस्थ जैन को श्रावक कहा जाता है । राढ़ अंचल में सराक सम्प्रदाय का अभी भी बहुत प्राधान्य है । मयूरभंज के रानीबाँध अंचल के सराकगण वर्त्तमान में भी महावीर मूर्त्ति की पूजा हिन्दू और जैन मिश्रित विधान से करते हैं ।

वर्द्धमान जिले का नाम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर के नामानुसार हुआ है ऐसा बहुत से मनीषियों का अनुमान है । श्री विनय घोष ने इस अनुमान का समर्थन किया है । यह उनकी 'पश्चिम बंगेर संस्कृति' नामक पुस्तक से जाना जाता है ।

बंगाल के अवधूतों के धर्माचरण में जैन प्रभाव दिखाई देता है । इनमें कोई-कोई नग्न रहते हैं किन्तु जैन सम्प्रदायों की भाँति ये कृच्छ साधना नहीं करते । कुछ अवधूत संसार धर्म का पालन भी करते हैं ।

अमृत, १२-१-७६

1. 'Iconography of the Jaina Goddess Ambica', U.P. Shah *Journal of the Review of Bombay* vol. 9, Part 2, 1940.
2. "मूर्त्ति निर्माण शिल्प को जैनों का एक और अवदान है चतुर्मुख या चौमुख मूर्त्ति। मध्य में चैत्य वृक्ष या मन्दिर, उसके चारों ओर चार तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ। इस सर्वतोभद्र प्रतिमा निर्माण के आदर्श के पीछे है जैन समवसरण अर्थात् उपदेश सभा का आदर्श जहाँ मध्य में तीर्थंकर बैठते हैं । उस दिशा को छोडकर अन्य तीन ओर उनकी प्रतिकृति रखी जाती है ताकि सभी को तीर्थंकर के दर्शन हो सकें ।" —इन्द्र दुगड़, स्थापत्य और साहित्य में जैन प्रभाव ।

तेलकूपी में सराक और ब्राह्मण संस्कृति की मिश्र रूप-रेखा

श्री युधिष्ठिर माजी

पुरूलिया जिला के एकमात्र तेलकूपी में प्राचीन सराक शिल्प संस्कृति के आस-पास ही ब्राह्मण संस्कृति के निदर्शन पाए जाते हैं । अतीत में सातवीं शताब्दी तक यहाँ जैन सराकों का प्रभाव था । बाद में इस पुण्य धरती पर ब्राह्मण सम्प्रदाय का प्रभाव बढ़ गया था । अतः दोनों सम्प्रदायों की प्रचेष्टा से यहाँ एक मिश्र संस्कृति की रूप-रेखा बन गयी है ऐसा लगता है ।

जिस प्रचुर परिमाण में जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ यहाँ पायी गयी हैं ठीक् उसी प्रकार पौराणिक देव-देवियों की मूर्त्तियाँ भी पायी गयी हैं । इन सब देव-देवियों की मूर्त्तियों के निर्माण कौशल की शैली पर पाल शिल्पकला की छाप है ।

मध्ययुग में तेलकूपी बहुत प्रसिद्ध था । इसका प्राचीन नाम है तेल काम्पी । कहा जाता है पातकूम राज्य के जमींदार विक्रमादित्य यहाँ आकर शरीर पर तेल मलवाते थे इसीलिए गाँव का नाम हुआ तेलकूपी । उस समय यहाँ दामोदर नदी में स्नान करना एक पुण्य कार्य समझा जाता था । एतदर्थ कुछ दिन पूर्व भी हजारों मनुष्य वारूणी तिथि पर यहाँ आकर दामोदर नदी में स्नान करते थे । उस समय पुरूलिया का विख्यात् मेला भी यहाँ लगता था ।

तेलकूपी में तीन विख्यात् मन्दिरों का पता लगा है । दो छोटे मन्दिर सबसे पुराने हैं । ये दोनों सराकों द्वारा निर्मित जैन मन्दिर हैं । बड़ा मन्दिर तो एकदम दामोदर के किनारे पर ही है । इस मन्दिर पर मिश्र संस्कृति की छाप है । अवश्य ही वर्त्तमान में यह मन्दिर टूट गया है । इसके ध्वंस स्तूप के मध्य और एक मन्दिर निर्मित किया गया था । इस नवीन मन्दिर का आकार बहुत कुछ शिव मन्दिर जैसा है । सम्भवतः मूल मन्दिर के टूट जाने पर मन्दिर की विख्यात् भैरवनाथ की मूर्त्ति नवीन मन्दिर में रख दी

गयी है । वर्त्तमान में यह मन्दिर वक्षदेश पर्यन्त दामोदर की मिट्टी में धँस गया है ।

भैरवनाथ तेलकूपी के विख्यात् और जाग्रत देवता हैं । भैरवनाथ की मूर्त्ति अवश्य ही जैन तीर्थंकर महावीर की मूर्त्ति है । अतीत में ये 'विरूप' नाम से पूजे जाते थे । बाद में यही अहिंसा धर्म के साधक पुरूष हिन्दू-ब्राह्मण संस्कृति के साथ युक्त होकर भैरव नाम में रूपान्तरित हो गए । ऐसा ही हुआ है पाकविड़रा में । ब्राह्मण संस्कृति के कालभैरव का यथार्थ रूप किस किस्म का है मैं नहीं जानता फिर भी तीर्थंकरों के दिगम्बर रूप भैरवनाथ का एक आकर्षणीय रूप कल्पित करने में इस अंचल के मनुष्यों की सहायता करता है । तेलकूपी के भैरवनाथ चौबीसवें तीर्थंकर महावीर हैं यह बात मिस्टर ई॰ टी॰ डाल्टन ने स्वीकार की थी । इस प्रसंग में उनकी उक्ति स्मरणीय है :

"There is another of these temples at Telkoopi on the Damodar, and there is an image still worshipped by the people in the neighbourhood which they call Birup. It is probable intended for the 24th Tirthankara Vira or Mahavira, the last Jina."

मन्दिर की मूर्त्ति तीर्थंकर मूर्त्ति होने पर भी मूल मन्दिर की निर्माण शैली में मिश्र संस्कृति की छाप थी । कहा जाता है कि तेलकूपी के भैरवनाथ का मन्दिर किसी राजा-महाराजाओं द्वारा निर्मित नहीं किया गया था । यह तो बनाया गया था शिल्पपतियों के द्वारा । किन्तु मन्दिर निर्माण में सराक जैन शिल्पियों के हाथों की छाप इनमें है इस विषय में कोई सन्देह नहीं है । तभी तो अनेक सोचते हैं कि यह मन्दिर मूलतः ब्राह्मण संस्कृति का होने पर भी अंशतः जैन भाष्कर्य शिल्पकला द्वारा प्रभावित है ।

कुछ किम्बदन्तियाँ होने पर भी तेलकूपी का अपना इतिहास है । एक समय यही गाँव इस अंचल की विख्यात् शिल्पनगरी थी । मि॰ डाल्टन ने शायद एक समय इस शिल्पनगरी के तोरणद्वार को खोज निकाला था । किसी समय ताम्रलिप्त से घाटाल, बिष्णुपुर, छातना, रघुनाथपुर से तेलकूपी पर्यन्त एक रास्ता बनवाया गया था । तदुपरान्त यही रास्ता दामोदर पार होकर पाटलिपुत्र तक चला गया था । उस समय घाटाल, बिष्णुपुर, रघुनाथपुर आदि स्थान तांत-शिल्प में उन्नत थे । शिल्पपति ताम्रलिप्त से इसी रास्ते से

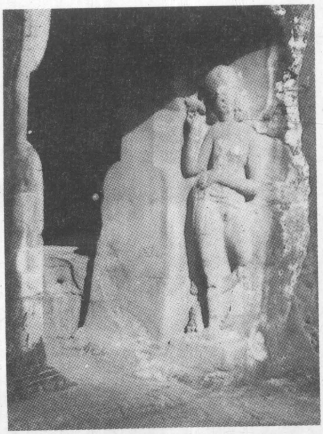

गुफा मन्दिर, खण्डगिरि

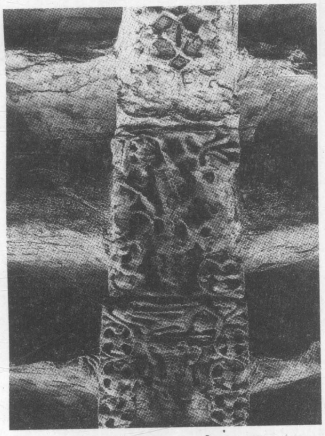

पाड़ा का सराक जैन मन्दिर

सराक जैन मूति

सराक जैन मूर्ति, धर्मराज

तेलकूपी, सराक जैन मन्दिर

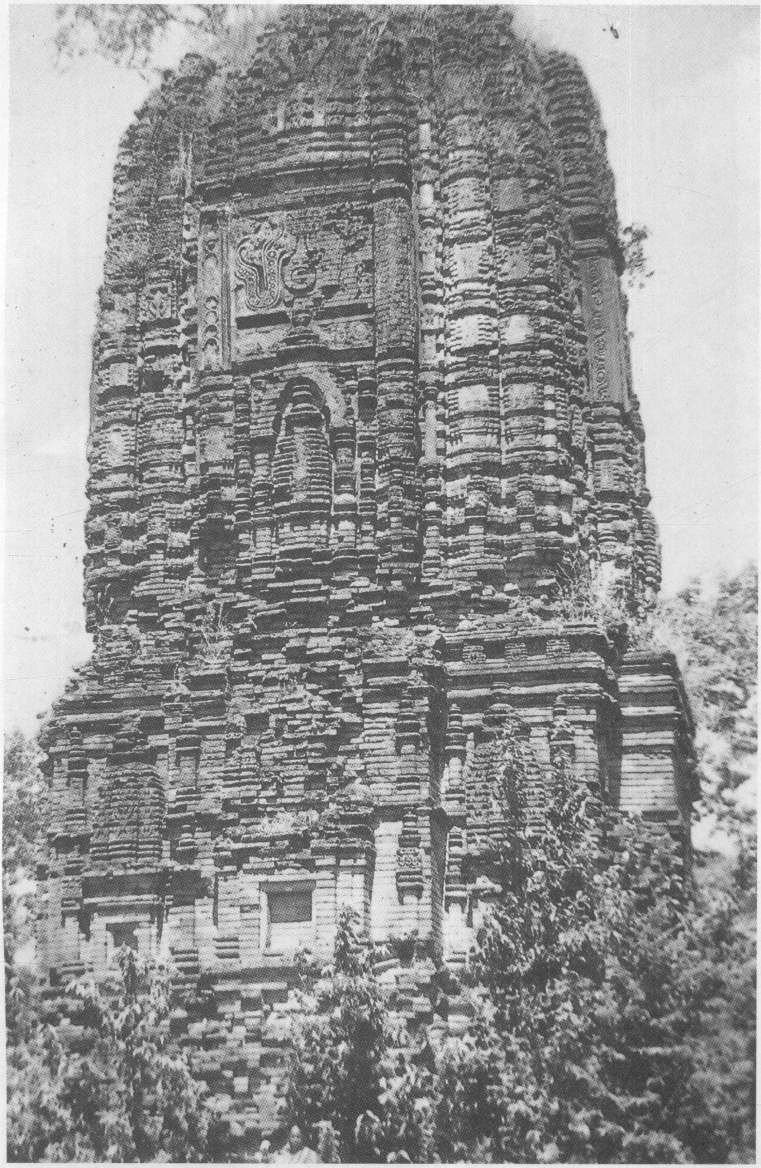

पुरुलिया की प्राचीन शिल्प संस्कृति का गौरब जैन मन्दिर

अम्बिका, पाकबिरा

पाटलिपुत्र जाते थे । राह में पड़ता तेलकूपी नगर । यहाँ कुछ दिन वे विश्राम करते । फिर वर्षा के दिनों में दामोदर पार होना सहज कार्य नहीं था । उन दिनों शिल्पपतियों को कुछ दिन तेलकूपी में रहना ही पड़ता था । तब तेलकूपी एक विख्यात् सराय-सी थी । इसी प्रसंग में मि° कूपलैण्ड लिखते है :

"According to tradition, the temples at Telkoopi are ascribed to merchants and not to Raja or Holymen, and the inference is that a large trading settlement sprung up to this point where the Damodar River would present at any rate in rainy seasons, a very considerable obstacle to the travellers and merchants."

तेलकूपी के इस इतिहास के परिणामस्वरूप मन्दिरों के भाष्कर्य शिल्प के अतिरिक्त बहुत-सी पौराणिक देव-देवियों की मूर्त्तियों के सन्धान पाए गए है । ब्राह्मण संस्कृति के साथ युक्त ये सब निदर्शन वर्त्तमान शताब्दी के मध्य भाग में भी मौजूद थे । इन सब मूर्त्तियों में विष्णु, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा, महिषासुर, कामदेव, रति, गणेश एवं नरसिंह उल्लेख योग्य हैं । अवश्य ही वर्त्तमान में ये सब शिल्प-निदर्शन दामोदर की मिट्टी के नीचे धँस गए हैं । यहाँ की भैरवनाथ रूपी महान् तीर्थंकर मूर्त्ति मिट्टी के अन्दर चली गयी है । इन देव-देवियों तथा तीर्थंकर मूर्त्तियों की शिल्प शैली के सम्बन्ध में अभी और अधिक प्रकाश नहीं डाला जा सकता । किन्तु हल्की-सी एक विष्णु मूर्त्ति और दो तीर्थंकर मूर्त्तियाँ तेलकूपी से हटाकर पास के गाँव गुरूभि में रख दी गई हैं ।

इस विष्णुमूर्त्ति की शिल्प शैली की पर्यालोचना करने पर यहाँ की शिल्प संस्कृति का कुछ स्वरूप हम जान सकते हैं । विष्णु मूर्त्ति प्रायः चार फुट छः इंच लम्बी है । दोनों पार्श्व में यक्षिणियों की तरह लक्ष्मी-सरस्वती की मूर्त्तियाँ हैं । ये मूर्त्तियाँ सम्भवतः पाल राजाओं के समय में अर्थात् दस से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य ही कभी निर्मित हुई हैं । मूर्त्ति की निर्माण कला में पाल शिल्प शैली पर जैन शिल्प शैली की छाप लगती है । इस प्रकार की एक विष्णु मूर्त्ति कलकत्ते के भारतीय अजायबघर में रखी है । अजायबघर की मूर्त्ति ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित हुई थी । अवश्य ही इस मूर्त्ति के साथ तेलकूपी में प्राप्त विष्णु मूर्त्ति के मस्तक के आवरण अंश में कोई मेल नहीं है । यहाँ की विष्णु मूर्त्ति के मस्तक का आवरण बना है जैन शिल्प शैली

में । पाकविड़रा में प्राप्त जैन शासन या जैन संस्कृति के साथ युक्त देवताओं के मस्तक के आवरण के साथ वहुत कुछ मिलता है इस विष्णु मूर्त्ति के मस्तक का आवरण भाग ।

तेलकूपी की यह विष्णु मूर्त्ति जिस शिल्प में निर्मित है उसी शिल्प शैली में निर्मित एक आकर्षक पुरूष मूर्त्ति का सन्धान मिला है । तेलकूपी से सात-आठ मील पूर्व रघुनाथपुर के पास बून्दला ग्राम में । इस पुरूष मूर्त्ति के देवी दूर्गा की तरह दस हाथ हैं । मूर्त्ति के दोनों ओर दो यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ हैं । इस दसभुज देवता का परिचय मैं नहीं जानता । फिर भी शिल्प शैली की दृष्टि से इसमें जैन संस्कृति की छाप है । यहाँ एक पाषाण मन्दिर का ध्वंसावशेष और कुछ टूटी-फूटी जैन तीर्थंकर मूर्त्तियाँ पड़ी है । दसभुज की यह पुरूष मूर्त्ति तेलकूपी से ही किसी समय यहाँ लायी गयी लगती है ।

इसके अतिरिक्त तेलकूपी के पास ही एक वृक्ष तले एक नारी मूर्त्ति पड़ी हुई है । यह देवी पार्वती की मूर्त्ति के रूप में ग्रामीणों द्वारा पूजी जाती है । मूर्त्ति के दोनों पार्श्व में कुछ अद्‌भुत मानव मूर्त्तियाँ भी खुदी हुई है । हस्तीमुख मनुष्य और अश्वमुख मनुष्यों की कथा मंगल काव्य में मिलती है । इस नारी मूर्त्ति के दाहिने पार्श्व के ऊपर एक हस्तीमुख मानव और एक अश्वमुख मानव मृदंग वजा रहा है । मूर्त्ति अक्षत् नहीं है । नीचे का हिस्सा टूट गया है । देवी मूर्त्ति का मुख भी टूटा हुआ है । शिल्पकला भी उन्नत प्रकार की नहीं है । नहीं कह सकता यह मूर्त्ति हिन्दू संस्कृति की है या जैन संस्कृति की ।

तेलकूपी की संस्कृति में ब्राह्मण धर्म का कितना ही प्रभाव क्यों न हो इसका प्राचीन रूप जैन संस्कृति से युक्त था इस विषय में कोई सन्देह नहीं है । यहाँ के छोटे आकार वाले दोनों मन्दिर सम्पूर्ण रूप से जैन मन्दिर हैं । बराकर मन्दिर की शिल्प शैली में ये दोनों मन्दिर बने थे । मूल भैरवनाथ के मन्दिरों के पत्थर से इन दोनों छोटे मन्दिरों के पाषाण उत्कृष्ट किस्म के हैं इसीलिए अब तक वचे हुए हैं ।

आकार की दृष्टि से मूल भैरवनाथ का मन्दिर कैसा था वर्त्तमान में यह वताना सम्भव नहीं होगा । फिर भी मन्दिरों के टूटे-फूटे पत्थरों पर अलंकरण रूप में मिश्र संस्कृति की छाप मिलती है । मन्दिर के एक खण्ड में एक गणेश मूर्त्ति थी किन्तु अव वह दिखलाई नही पड़ती । लगता है यह मूर्त्ति दामोदर

की मिट्टी में धँस गयी है ।

भैरवनाथ के मन्दिर के टूटे-फूटे शिलाखण्डों पर कुछ ऐसी पुरूष और नारी मूर्त्तियाँ हैं जो देखने में लोक शिल्प कला की निदर्शन-सी लगती है । इन्हें हठात् देखने से पुरी के जगन्नाथ देव के असमान्य रूप की बात व ध्यानमग्न तीर्थंकर मूर्त्ति की बात स्मरण हो आती है । इस प्रकार की शिल्पकला शैली की दृष्टि से जैन संस्कृति युक्त है या पौराणिक ब्राह्मण, शिल्प शैली से यह कहना सम्भव नहीं है ।

इस समय तेलकूपी एक मृत नगरी है । तेलकूपी अब सम्पूर्ण रूप में इतिहास बन गयी है, मात्र स्मृति रह गयी है । हमारे आगामी वंशधर भविष्य में तेलकूपी नामक स्थान का सन्धान नहीं पा सकेंगे । तेलकूपी के भैरवनाथ मन्दिर की अन्तिम आरती-शिखा निर्वापित हो गयी है दामोदर नदी की परिकल्पना के अन्दर पांचेत बाँध बँधने के शेष लग्न में ।

दामोदर को बाँधा गया । पाँचेत डैम से जल विद्युत उत्पन्न हुई । देश का अन्धकार दूर हुआ । किन्तु तेलकूपी की शिल्पकला नदी की मिट्टी की तह के नीचे गहन अन्धकार में सदा-सदा के लिए डूब गयी । इस समय तेलकूपी के मन्दिर चाहे न हो, देव-देवियों की मूर्त्तियाँ और जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियों को क्या नहीं बचाया जा सकता था ? दामोदर वैली कारपोरेशन ने जब देखा— पाँचेत डैम के जल में तेलकूपी गाँव डूब जाएगा तब उन्होंने लोगों को अन्यत्र हट जाने का निर्देश दिया । उस समय इन सब मूल्यवान देव-देवियों के विग्रहों का उन्हें ध्यान क्यों नहीं आया— यह सोचकर हम अवाक हो जाते हैं । पृथ्वी के अन्य देश के लोग अपनी पुराकीर्त्तियों का खनन कार्य द्वारा उद्धार कर रहे हैं वहाँ कितना लज्जास्पद है यह कि हमारे देश के नेताओं ने तेलकूपी के देव-देवियों के अमूल्य विग्रहों को अबाध रूप से दामोदर में समा जाने के लिए पथ बना दिया ।

अन्ततः तेलकूपी के प्रसंग में आलोचना करते हुए एक विषय हमारे मन को बहुत आकृष्ट करता है । वह विषय है तेलकूपी के भैरवनाथ । तेलकूपी के भैरवनाथ और पाकविड़रा के महाकाल भैरव दोनों ही जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ है । सम्भवतः तीर्थंकर महावीर की । अतः भैरव शब्द ब्राह्मणधर्मीय संस्कार जात है या जैनधर्मीय संस्कार जात यह विषय गवेषणा का है । अनेकों के मतानुसार भैरव शब्द वीर व वीरम् शब्द से आया है । इस प्रसंग

में मिस्टर कूपलैण्ड ने, मिस्टर डाल्टन लिखित आलोचना में कहा है :

"He (Mr. Dalton) placed them in the District as far back as 500 or 600 years Before Christ, identifying the colossal image now worshipped at Pakbirra under the name of Bhiram as Vira, the 24th Tirthankara."

इससे प्रमाणित होता है कि आज जो भैरव नाम से पूजे जा रहे हैं पहले वे वीरम् विरूप व वीर रूप में पूजे जाते थे । इसीलिए भैरव संस्कृति जैन धर्म जात या जैन धर्म से आगत है ऐसा सोचा जा सकता है । यहाँ के शैव धर्म में बहुत कुछ जैन धर्म और संस्कृति का प्रभाव है ऐसा प्रतीत होता है।

पुरूलिया के भैरवनाथ जिस प्रकार पूजे जाते रहे हैं उसी प्रकार पश्चिम बंगाल में अन्य कहीं पूजे जाते हैं कि नहीं मुझे ज्ञात नहीं है । तेलकूपी के भैरवनाथ व पाकविड़रा के महाकाल भैरव धर्म संस्कृति के क्षेत्र में किस प्रकार आए एवं किस प्रकार उनका क्रमशः विकास हुआ यह अब गवेषणा का विषय है । इस अंचल के जन-साधारण की धारणा में काल भैरव होते हैं भयावह नग्न पुरूष; बहुत कुछ जापान के 'डाइको कू' देवता की तरह । जो भी हो, तीर्थंकरों की नग्न देह ने यहाँ के मनुष्यों में भैरव संस्कृति का विकास साधन किया है । अतः धर्मीय संस्कारान्ध मनुष्यों ने महान् तीर्थंकरों के पदतल में अपने इष्ट देवता महाकाल भैरव को खोज लिया है ।

❖❖❖

"एक फिलासकर के नाते मैं जैन धर्म के अध्यात्मवाद, त्याग और अहिंसा आदि सिद्धान्तों का बड़ा ही आदर करता हूं ।"

— प्रो. रेमाण्ड पाइपर, न्यूयार्क

देउलघाटा के दीवाल चित्र और सराक संस्कृति

श्री युधिष्ठिर माजी

देउलघाटा । देउल संलग्न कंसावती का घाट । इसीलिए नाम देउलघाटा। गाँव का नाम बोड़ाम । अतीत की सराक जैन संस्कृति के साथ जुड़े ग्रामों के नामों में प्रायः 'ड़' अक्षर पाया जाता है । जैसे छड़रा, पाड़ा, आनीड़ा, पाकविड़रा (यहाँ करीब आठ फुट लम्बी एक तीर्थंकर मूर्त्ति का भग्नावशेष पड़ा हुआ है), सेनेड़ा, दूवड़ा, महादेव बेड़ा आदि ।

पुरूलिया के जयपुर ग्राम से प्रायः तीन मील दक्षिण में कंसावती नदी के तट पर बोड़ाम एक छोटा गाँव है । नदी के दक्षिण पार्श्व में है पुराक्षेत्र देउलघाटा । यह अंचल कंकर, पत्थर, मिट्टी से निर्मित पुरूलिया के वन्य अंचल का एक अंश विशेष है । कंसावती में बारहों महीना जल नहीं रहता। आषाढ़, सावन और भांद्रमास उसके यौवन के हैं । फिर अन्य कई महीनों में वह सूख जाती है । उसके वक्ष पर निकल पड़ते हैं विशाल-विशाल पाषाणखण्ड और झक-झक करती बालू राशि । नदी की गोद से पत्थर की सीढ़ियाँ पहुँच गयी हैं देउलघाटा की पुण्य भूमि में ।

देउलघाटा में ईंट के तीन प्राचीन मन्दिर एवं कई पाषाणों से बने मन्दिरों के ध्वंसावशेष दिखाई पड़ते हैं । प्राचीनकाल में पुरूलिया अंचल ने मिट्टी जलाकर बनायी हुई ईंटो के शिल्प में जो विशेष दक्षता दिखलायी थी उसी का निदर्शन है यहाँ देउलघाटा में । यहाँ के मन्दिरों के निर्माण में जिन ईंटों का व्यवहार हुआ था उनका आकार काफी बड़ा है । लम्बाई में ये प्रायः अठारह ईंच, चौड़ाई बारह ईंच और ऊँचाई मात्र दो ईंच है । ईंटे बड़ी चमकीली और स्वच्छ हैं । इन्हें देखकर लगता है जैसे आधुनिक युग की किसी मशीन से इन्हें बनाया गया है ।

प्रथम मन्दिर अवस्थित है नदी के दक्षिण तट पर । यह सबसे अधिक भग्न और जीर्ण है । इसके कलेवर का अधिकांश अंश समाप्तप्राय है । मन्दिर का प्रवेश पथ त्रिकोणकार है । पलस्तर नष्ट होकर श्रीहीन हो गए हैं । दूर से भग्न स्तम्भ की भाँति यह प्रतीत होता है ।

नदी के घाट से प्रायः १५० फुट दक्षिण में दूसरा मन्दिर है । इस मन्दिर की ऊँचाई प्रायः-प्रायः ४५ फुट है । प्रवेश पथ प्रथम मन्दिर की ही भाँति पूर्वमुखी और त्रिकोणकार है । गर्भ गृह है प्रायः वर्गाकार । अधिकांश सराक जैन मन्दिरों की भाँति गर्भ गृह मन्दिर की तुलना में विशेष छोटा है । गर्भ गृह में कोई मूर्त्ति नहीं है ।

मन्दिर की दीवाल कलाकृतियों से अत्यन्त अलंकृत है । सभी कलाकृतियाँ जलायी हुई ईंटों के खण्डो को सजाकर निर्मित की गई हैं । फिर इसके ऊपर पलस्तर का आवरण देकर उसे परिस्फुट किया गया है । कलाकृतियाँ इतनी पूर्ण एवं शिल्पमयी है कि दृष्टि हटाने की इच्छा नहीं होती । इन सब कलाकृतियों का निर्माण करते समय जिन मसालों को ईंट पर लगाया गया है वे पाषाण की तरह ही सख्त हैं । तभी तो शत-शत वर्षों से प्रकृति से युद्ध करते हुए वे आज भी मौजूद हैं । मन्दिर टूट रहा है, दीवालें फट रही हैं, क्षय हो रहा है जली हुई ईंटों का सख्त कलेवर । फिर भी सुहागिन की सिन्दूर रेखा की भाँति इन अमूल्य कलाकृतियों की रक्षा करता ही आ रहा है ध्वंस पथ का यात्री देउलघाटा का यह मन्दिर । टूटे मन्दिर के सर्वांग पर फटी हुई गुदडी की भाँति दीवाल चित्र इधर-उधर से झाँक रहे हैं । मन्दिर में जिधर भी देखते हैं उधर ही पाते हैं विचित्र कलाकृतियाँ । कितने आकार कितनी तरह के गहन शिल्पकलामय भित्ति चित्र बनाए जा सकते हैं वह एक बार देउलघाटा के मन्दिर को देखे बिना नहीं समझा जा सकता । इन सब प्राचीन शिल्पकला के निदर्शनों को देखते-देखते मन विस्मय से अवाक हो जाता है, खो जाता है प्राचीन इतिहास के इन अलिखित पृष्ठों पर ।

मन्दिर की प्राचीरों पर बने चित्र या कलाकृतियाँ किसी फूल, लता-पत्र या जीव-जन्तुओं के नहीं है । ये सब हैं खूब गहन किन्तु विशिष्ट शिल्पकला सम्मत सुन्दर भित्ति चित्र, संस्कृति के निदर्शन । ये सब एक प्रकार के रेखांकित चित्र हैं जिनमें कल्पना शक्ति का चरम विकास प्रस्फुटित हुआ है । अर्थात् यहाँ के एक-एक खण्ड चित्र मानो एक-एक अपरूप कला नैपुण्य से समृद्ध सुन्दर अल्पना विशेष है ।

मन्दिर के कंगूरे पर छोटे आकार वाली नर और नारी की मूर्त्ति, राक्षस का मुख और राज हंस का चित्र है ।

मन्दिर की दीवालों के विस्तृत स्थान पर खूब बड़े-बड़े आकार के सुन्दर-

सुन्दर अल्पना जातीय रेखा चित्र अंकित किए गए हैं ।

इन सब चित्रांकनों में मन्दिर शिल्पियों के विशिष्ट प्रकार के ज्यामिति शास्त्र के ज्ञान का परिचय पाया जाता हैं । मन्दिर प्राचीरों के स्थान-स्थान पर सम्पूर्ण मन्दिरों के मांडल या अनुकृतियाँ बनायी गयी हैं । इस अंचल के सराक जैन मन्दिरों की यह एक प्रकार की विशिष्टता है । पाकविड़रा और बराकर के मन्दिरों की कलाकृतियों में भी यही मूल वैशिष्ट्य परिलक्षित होता हैं ।

देउलघाटा का तीसरा मन्दिर सबसे वड़ा है । इसकी ऊँचाई प्रायः साठ फुट है । अन्य दोनों मन्दिरों की तुलना में इसका गर्भ गृह और प्रवेश पथ खूब बड़ा है । प्रवेश पथ पूर्वमुखी और त्रिकोणाकार है । गर्भ गृह के अनुपात में प्रवेश पथ इतना बड़ा है कि मन्दिर के भीतर क्या है क्या नहीं दूर से ही देखा जा सकता है । सम्भवतः तीर्थंकर मूर्त्ति बाहर से भी दिखलायी पड़े इसीलिए प्रवेश पथ का आकार इतना वृहद् और दीर्घ है ।

इस मन्दिर के ऊपर एक विशाल वृक्ष मस्तक उठाए खड़ा है । मन्दिर की दीवालें चारों ओर पाँच फुट चौड़ी हैं । ऊपर की ओर ईंटों का स्तूप है। इसीलिए इस विशाल वृक्ष के बने रहने में कोई असुविधा नहीं है । मन्दिर के सर्वांग को अपनी तीक्ष्ण जड़ों में लपेट कर वह पुरूलिया के इस अतीत गौरव की शेष स्मृति को मिटा देने की प्राण-प्रण से चेष्टा कर रहा है ।

यहाँ का तीसरा मन्दिर तो शिल्प कला के दृष्टिकोण से केवल पुरूलिया ही नहीं समस्त पश्चिम बंगाल का गौरव है । मन्दिर प्राचीरों पर कलाकृतियाँ सज्जा की परिकल्पना और निपुण रूपायन में शिल्पज्ञान का जो परिचय दे रही है, वह सम्पूर्ण विश्व को अवाक् कर सकता है । अतः देउलघाटा का यह मन्दिर सम्पूर्ण पुरूलिया की एक अमूल्य सम्पद के रूप में विवेचित होगा ।

इस मन्दिर के मूल अलंकरण में मन्दिर का मॉडल (miniature temple) है । इसके ऊपर है चैत्य । उसके ऊपर है एक चौकोर स्थान । इस वर्गाकार स्थान में एक प्रकार का ऐसा रेखाचित्र है जिसका कोई एक विशिष्ट सांकेतिक अर्थ है ऐसा प्रतीत होता है । यह सांकेतिक रेखा चित्र दूर से ही दिखाई पड़ता है । इसके अतिरिक्त यह चित्र मन्दिर के चारों ओर एक ही स्थान पर अंकित किया गया है । इसीलिए यह चित्र केवल कलाकृति ही है ऐसा नहीं लगता ।

देउलघाटा के मन्दिरों के परिचय को लेकर भी कुछ मतभेद है, कुछ विभ्रान्तियाँ भी हैं ।

१७६४-६५ खृष्टाब्द में मि° ई° टी° डाल्टन साहब ने मानभूम जिले का परिदर्शन किया । वे देउलघाटा के इन मन्दिरों को भी देखने आए । उस समय मन्दिर के गर्भ गृह में कोई मूर्त्ति नहीं थी । मन्दिर का आधार शिल्पकला का वैशिष्ट्य और कलाकृतियों की प्रकृति निर्णय कर उन्होंने मन्तव्य दिया है—

"These three temples are of the same type and are no doubt correctly ascribed by the people to the Srawakas."

उनका यह सुचिन्तित मत स्वीकार कर लिया है मिस्टर डब्ल्यू° डब्ल्यू° हंटर एवं मिस्टर जी कूपलैण्ड ने । अवश्य मिस्टर जी° डी° वेगलर ने मन्दिरों को शिव मन्दिर बताया है । मिस्टर ई° टी° डाल्टन के मानभूम परिदर्शन के कुछ वर्ष पश्चात् ही मिस्टर जी° डी° वेगलर ने देउलघाटा का परिदर्शन किया । मिस्टर डाल्टन ने देउलघाटा के मन्दिर में कोई मूर्त्ति नहीं पायी । अतः वे कहते हैं— The object of worship what ever they were have disappeared from the alters. किन्तु कुछ वर्षों के पश्चात् मिस्टार जी° डी° वेगलर ने इन सब मन्दिरों में केवल शिवलिंग का ही दर्शन नहीं किया बल्कि मन्दिर के गर्भ गृह में गणेश, कार्त्तिक सहित दुर्गा मूर्त्ति को भी देखा । मिस्टर वेगलर की बात मानने पर यह भी मानना होगा कि उनके परिदर्शन के समय इन सब मूर्त्तियों को उस मन्दिर में प्रतिष्ठित किया गया था ।

मिस्टर वेगलर इन मन्दिरों को शिव मन्दिर कहकर ही शान्त नहीं हुए, वे इन मन्दिरों को वर्ण हिन्दुओं का मन्दिर रूप में प्रमाणित करने के लिए हास्यकर इतिहास के उद्धरण भी देते हैं । उनके मत में आदिवासी संस्कृति निर्मित होने के पूर्व ब्राह्मण संस्कृति के प्रभाव से यह अंचल प्रभावित था । किन्तु मिस्टर ई° टी° डाल्टन एवं परवर्ती अन्यान्य पण्डितगण वेगलर के तथ्य को मानने के लिए सम्मत नही हुए । उन्होंने यह इतिहास सम्मत नहीं है कहा । इस प्रसंग में मिस्टर जी कूपलैण्ड का कथन है— Colonel Dalton's theory is a perfectly reasonable one.

मिस्टर वेगलर के तथ्य को अस्वीकार करने के कुछ और भी कारण हैं।

मिस्टर वेगलर के कथनानुसार यदि ये मन्दिर शिव मन्दिर हैं और इनमें गणेश, कार्त्तिक सहित दुर्गा की मूर्त्तियाँ हैं तो वे मूर्त्तियाँ अब कहाँ गयी ? इतिहास द्वारा जहाँ तक जाना जा सकता है हिन्दुओं के मन्दिरों एवं मूर्त्तियों को नष्ट किया मुसलमानों ने । अतीत में पुरूलिया अंचल में मुसलमानों का आक्रमण हुआ ऐसा कोई ऐतिहासिक तथ्य नहीं पाया जाता । इसीलिए पण्डितगणों ने मिस्टर वेगलर के कथन की सच्चाई के प्रसंग में सन्देह प्रकाशित किया है । मिस्टर कूपलैण्ड लिखते हैं— The destruction of Hindu temples is ordinarily ascribed to Mohammadans but so far as this area is concerned, there is no trace not even in tradition of any invasion.

अतः प्रश्न उठता है मिस्टर वेगलर ने किस उद्देश्य से प्रेरित होकर मानभूम अंचल का परिदर्शन किया था ? सन्देह को एक बारगी ही उड़ाया नहीं जा सकता । सराक जैन मन्दिरों को हिन्दू शिव मन्दिर कहकर प्रचार करने की रीति इस अंचल में बहुत प्राचीन है । जैन मूर्त्तियों को मन्दिरों से हटाकर उनमें शिवलिंग की प्रतिष्ठा करना भी प्रचलित रीति थी । इसी प्रकार की घटना घटी है बराकर के मन्दिर में । यही घटना घटी है तेलकूपी के मन्दिर में, छड़रा के मन्दिर में, पाकविड़रा के मन्दिर में । सर्वत्र तो यही घटा है । अतः देउलघाटा में ऐसी घटना नहीं घटेगी ऐसी तो आशा ही नहीं की जा सकती ।

मिस्टर डाल्टन मन्दिरों के स्थान से कुछ दूर एक कुएँ में एवं एक भग्न शिव मन्दिर में कुछ जैन मूर्त्तियों के सन्धान प्राप्त किए थे । उनके मत में यही सब जैन मूर्त्तियाँ देउलघाटा के मन्दिरों में रखी हुई थी । बाद में किसी समय उन्हें हटाकर फेंक दिया गया है । मिस्टर डाल्टन के कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण ही नहीं मिलता । यही थी इस अंचल की प्रचलित रीति ।

देउलघाटा के मन्दिर सराक जैन मन्दिर हैं । इसका सबसे बड़ा प्रमाण है मन्दिर की दीवारों पर बनी मन्दिरों की अनुकृतियाँ या मॉडल (miniature temple) । छड़रा, तेलकूपी, बराकर आदि स्थानों के जैन मन्दिरों के साथ देउलघाटा के मन्दिरों की दीवारों पर बने हुए मिनि मन्दिरों का आश्चर्यजनक साम्य है । बराकर के मन्दिरों के कंगूरे पर जिस प्रकार की कलाकृतियाँ हैं

ठीक वैसी ही कलाकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं देउलघाटा के मन्दिरों के कंगूरे पर ।

इस अंचल के जैन मन्दिरों के प्रवेश पथ दो आकार के मिलते हैं । पाषाण मन्दिरों के प्रवेश पथ का आकार आयत क्षेत्र की भाँति है और ईंटों से बने मन्दिरों के प्रवेश पथ की आकृति त्रिकोणाकार है । पाड़ा के ईंट निर्मित जैन मन्दिर का प्रवेश पथ भी त्रिकोणाकार है । देउलघाटा की दीवारों पर वने मिनि मन्दिरों के प्रवेश पथ पाषाण निर्मित जैन मन्दिरों की भाँति ही आयताकार है । इसके अतिरिक्त इन सव मन्दिरों की अनुकृतियों के शिखर पर पथ रीति धर्मचक या कमल है । उसके ऊपर है मंगल कलश ।

देउलघाटा में एक डुमुर गाछ के नीचे अष्टभुजा दुर्गा प्रतिमा पायी गयी है । अवश्य ही मिस्टर वेगलर ने इस अष्टभुजा मूर्त्ति को देउलघाटा के मन्दिर में नहीं देखा है । कारण इसमें कार्त्तिक, गणेश नहीं हैं । शिल्पकला की दृष्टि से इसमें सराक जैन शिल्प-संस्कृति की छाप है । पाकविड़रा में प्राप्त नारीमूर्त्ति के साथ अलंकरण की दृष्टि से भी यह मूर्त्ति प्रायः एक रूप है । अतः यह अष्टभुजा मूर्त्ति सराक शिल्पियों द्वारा निर्मित हुई थी ऐसा अनुमान किया जा सकता है । जैन शिल्प संस्कृति में अष्टभुजा मूर्त्ति का एक विशेष स्थान है । पाकविड़रा में भी विभिन्न तीर्थंकरों की मूर्त्ति के साथ एक ही शिलाखण्ड में एक अष्टभुजा देवी की मूर्त्ति पायी गयी है । देउलघाटा में इस अष्टभुजा देवी मूर्त्ति के अतिरिक्त और भी कई जैन शासन देवियों की मूर्त्तियाँ दृष्टिगत हुई हैं । ये सब देवी मूर्त्तियाँ यहां के श्रीयुत सुनीतिकुमार पाठक के आश्रम में एक छोटे कमरे में रखी हुई हैं ।

देउलघाटा मन्दिरों की दीवालों के रेखाचित्रों का बहुत कुछ प्रभाव यहाँ के ग्रामांचलों में लोक शिल्पमूलक घरों की दीवालों के चित्रों पर पड़ा है । मन्दिरों की दीवालो पर देखा जाता है मंगल कलश या मन्दिरों की आकृतियों के ऊपर चैत्य या वृक्षों का प्रतिरूप । कहीं यह ठीक तोरण जैसा लगता है । इस अंचल की लड़कियाँ घर की पिठ्ठी (पीसे हुए चावल के आटे से बनाया हुआ सफेद रंग विशेष) से दुर्गा का पट्ट वनाती हैं । इस पट्ट में दुर्गा की कोई प्रतिकृति नहीं होती । एक घट या मंगल कलश पर चाल-चित्र या चैत्य अंकित करती हैं । ये देखने में वहुत कुछ देउलघाटा के मन्दिरों पर अंकित भित्तिचित्रों की भाँति हैं ।

देउलघाटा की सुन्दर-सुन्दर कलाकृतियों का कुछ प्रचार होता तो ये सब और अधिक इस अंचल के लोक शिल्प को समृद्ध कर सकती थी । किन्तु देउलघाटा के इस जंगल के मध्य वन फूलों की भाँति ये सब शिल्प-कलाएँ मानव-दृष्टि से ओझल रहकर ही झड़ पड़ती हैं । यह मानों सर्वगुण सम्पन्न राजकन्या है जो कि अपना अपरूप रूपलावण्य लिए देउलघाटा की अरण्य भूमि में निद्रित है इस प्रतीक्षा में कि कब अनजान देश का राजपुत्र आकर उसे स्वर्ण दण्ड के स्पर्श से जागृत कर विश्व के समक्ष प्रकट करेगा । किन्तु इस प्रतीक्षा का जिस दिन अन्त होगा क्या तब तक इसका रूप-लावण्य बना रहेगा ?

❖❖❖

"मेरे जीवन का एकमात्र उद्देश्य एक सफल जैन-प्रचारक बनने का हैं । मुझे विश्वास है कि जैन धर्म के प्रचार से लोक का सच्चा कल्याण होगा ।"

—श्री मैथ्यू मैक्के, लन्दन

प्राचीनतम् सराक संस्कृति का निदर्शन पाड़ा का मन्दिर

श्री युधिष्ठिर माजी

गाँव का नाम है पाड़ा । प्रायः दो ढाई हजार वर्ष की सराक संस्कृति से बिजड़ित । पश्चिम बंगाल का प्राचीनतम् मन्दिर यहीं है । केवल पश्चिम बंगाल ही नहीं समस्त भारतवर्ष के प्राचीन मन्दिरों में पाड़ा का यह मन्दिर अन्यतम् है ।

अन्य एक प्रबन्ध में मैंनें यह बताया था कि यहाँ दो प्राचीन मन्दिरों का सन्धान मिल रहा है । इनमें एक पाषाण निर्मित है और दूसरा ईंट द्वारा निर्मित । सम्भवतः एक और पाषाण निर्मित मन्दिर भी था जो कि टूट गया है और इसी के शिलाखण्ड से रघुनाथ जी के मन्दिर का निर्माण हुआ है ।

पाषाण निर्मित मन्दिर प्राचीनतम् सराक संस्कृतिं का अमूल्य निदर्शन है । मन्दिर गहरे बादामी रंग के पत्थरों से बना है । इस मन्दिर के निर्माण कौशल में जो एक नवीन तथ्य है वो इस जिले के अन्य सराक जैन मन्दिरों में नहीं पाया जाता । इस मन्दिर के प्रत्येक पाषाण-खण्ड के मध्य छिद्र कर लोहे के छड़ से उसे गूँथकर निर्मित किया गया है । अतः किसी भी पत्थर को निकालना कठिन-सा है । मन्दिर के निर्माण में लोहे का यह व्यवहार गवेषकों को मन्दिर का समय निर्णय करने में अवश्य सहायक बनेगा ।

मन्दिर के पाषाण और शिल्प कला के वैशिष्ट्य की विवेचना करने से ही पता चल सकता है कि यह मन्दिर आज से प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पूर्व निर्मित हुआ था । कइयों का तो अनुमान है कि यह मन्दिर अढ़ाई हजार वर्ष पुराना है । श्रीयुत प्रसित कुमार रायचौधरी ने अपने ग्रन्थ 'बंग संस्कृतिर कथा' में लिखा है—'ये सराक ही जिले के प्राचीनतम् निवासी हैं । प्रायः अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व निर्मित मन्दिरों के ध्वंसावशेष आज भी पाड़ा, वड़ाम आदि स्थानों में पाये जाते हैं ।' इनकी बात स्वीकार कर लेने पर कहना होगा कि पाड़ा का यह वृद्ध भग्न जीर्ण मन्दिर अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व से सराक संस्कृति के उत्थान-पतन के साक्षी रूप में पुरूलिया की धरती पर अब

भी खड़ा है । यद्यपि महाकाल के स्त्रोत में मिट गये हैं देह के अलंकार, क्षय हो गये हैं देह के सर्वाङ्ग, विवर्ण हो गया है रंग फिर भी महाकाल के इस महासमुद्र में एक आलोक स्तम्भ की तरह सराक सम्प्रदाय के मनुष्यों को दिक् निर्णय करता हुआ यह कह रहा है— मैं इतिहास बनकर आज भी बचा हुआ हूँ । डर क्या । अतीत ही तुम्हें पथ दिखाएगा ।

पाड़ा के इस प्राचीनतम् मन्दिर की समस्त देह सुन्दर अलंकारों से विभूषित थी । महाकाल के स्त्रोत में बहते-बहते वे आज घिस कर समाप्तप्रायः हो गए हैं । फिर भी किसी-किसी स्थान पर जो कुछ सामान्य से अवशिष्ट हैं उन्हें देखकर भी हम विस्मय से हतवाक् हुये बिना नहीं रह सकते । पाषाण-खण्डों को काटकर इतने सुन्दर शिल्प नैपुण्य से समृद्ध भास्कर्य शिल्प के ये निदर्शन जो लोग छोड़ गए हैं, हम उनकी प्रशंसा किये बिना नहीं रह पाते । मन्दिर के कलेवर पर अलंकरणों के मध्य नृत्यरता नारियों की छन्दमय देह-भंगिमा देखकर नयन और मन सार्थक हो जाते हैं । न जाने किस काल के हृदय से उत्पन्न हुआ है यह मनोहर नृत्य छन्द ? किन्तु अतीत के वाक्यहीन ये नृत्य छन्द एक क्षण के लिये मन को झकझोर देते हैं । अतीत की अस्पष्ट स्मृति की तरह मन को दोलायित कर देती है । मन्दिर की देह पर है यक्षिणी मूर्त्ति, अश्वारोही पुरूष, ध्यानमग्न तीर्थंकर । किसी-किसी स्थान पर कहानी चित्र भी मिलते हैं । मन्दिर के पीछे की ओर क्षय होता हुआ एक कहानी चित्र है । ऊपर है किसी जैन शासन देवता की चतुर्भुज मूर्त्ति । बीच में है लेटी हुई अवस्था में किसी पुरूष की मूर्ति । नीचे है अपूर्व भंगिमा में एक नारी मूर्ति । नहीं जानता किस विषय-वस्तु की प्रेरणा से ये चित्र कठोर शिला-खण्डों पर उत्कीर्ण किए गए थे । मन्दिर के बाहर तीन ओर तीन देहरियों के आकार के छोटे प्रकोष्ठ हैं । इन प्रकोष्ठों के दोनों ओर हाथ में चँवर लिए दो नारी मूर्त्तियाँ खड़ी हुई है । सम्भवतः इन सब स्थानों में छोटे आकार की तीर्थंकर मूर्तियाँ रखी हुई थीं । वर्तमान में वे अपसारित हो गयी हैं । इसके अतिरिक्त और भी नर-नारियों की मूर्त्तियाँ खुदी हुई है । मूर्त्तियाँ पाँच-छः इन्च से आठ इन्च पर्यन्त लम्बी हैं । अधिकांश मूर्त्तियाँ नीचे की ओर हैं । शायद ऊपरी मूर्त्तियाँ नष्ट हो गयी हैं ।

जीव-जन्तुओं की मूर्त्तियों में घोड़ा, हाथी और सिंह मूर्त्तियाँ हैं । एक स्थान पर एक घोड़ा मनुष्य की भाँति दो पैरों पर नृत्य कर रहा है । घोड़े

के नीचे का हिस्सा प्रायः मनुष्य जैसा ही है । इसके अलावा पाड़ा के इस प्राचीनतम् मन्दिर के कलेवर पर विभिन्न प्रकार के नक्शा जातीय चित्र भी हैं । नक्शा जातीय भास्कर्य शिल्पकलाएँ ज्यामितिक आकार में निर्मित है । इनमें फूल-फल जातीय कुछ नहीं है । प्रतिमा देह पर चन्द्रमाला की भाँति ये सब अलंकार मन्दिर को अलंकृत कर रहे हैं । पहले नृत्यरत नारी मूर्त्तियाँ, इनके नीचे नक्शा जातीय चित्र, इसके नीचे जैन शासन देवी या यक्षिणी मूर्त्ति है । अवश्य ही इनमें आज एक भी मूर्त्ति अक्षत नहीं है । इस क्षत-विक्षत शिल्पकला के अपूर्व निदर्शन के मध्य ही सराक संस्कृति की विलक्षणता को खोजना होगा । खोजना होगा अतीत का अविस्मरणीय भास्कर्य शिल्प का इतिहास ।

पाड़ा के इस प्राचीनतम् मन्दिर के भास्कर्य शिल्प के साथ एक मात्र पाकविंड़रा में प्राप्त कुछ शिल्पकला के अतिरिक्त और किसी भी मन्दिर पर बने शिल्प का मेल नहीं है । पश्चिम सीमान्त बंगाल के सराक संस्कृति के साथ जड़ित मन्दिरों के मध्य एक मात्र बराकर के मन्दिर के अलंकरण ही अक्षत् है । किन्तु पाड़ा के इस मन्दिर पर बने अलंकरणों के साथ बराकर मन्दिर के भास्कर्य शिल्प में कोई समानता नहीं है । यहाँ तक कि मन्दिर के शिलाखण्ड भी अन्य जाति के हैं, गहरे बादामी रंग के ये मूल्यवान पत्थर अवश्य ही बाहर से मँगवाए गए थे । फिर इस मन्दिर के पत्थरों के टुकड़े अन्यान्य जैन मन्दिरों के पाषाण-खण्डों से काफी छोटे भी हैं । ये दो से तीन फुट पर्यन्त लम्बे और एक फुट करीब चौड़े है । साधारण भाव से देखने पर काले रंग के बलुई पत्थर-से लगते हैं । किन्तु पत्थर बहुत सख्त है । सख्त होने के कारण ही तो दो हजार वर्ष से संघर्षरत रहते हुए भी वह किसी प्रकार आज तक टिके हुए हैं ।

'सराक संस्कृति का पीठ स्थान पाकविड़रा' नामक प्रबन्ध में मैंनें कहा है कि इस पाड़ा के मन्दिर का एक मॉडेल (miniature temple) पाकविड़रा में है । पाड़ा मन्दिर के टूटे-फूटे शिला-खण्डों को हटाकर दो पत्थरों के संयोग स्थल पर (जहाँ जल और हवा का कम प्रभाव पडता है ऐसे सब स्थान) जिन अलंकरणों के अंश विशेष दृष्टिगत होते हैं उन सब भास्कर्यों की शिल्प पद्धति सम्पूर्ण रूप से पाकविड़रा के इस मॉडेल को स्मरण करवा देती है । मॉडेल, पत्थर की जाति भी प्रायः एक-सी है । किन्तु हाँ, मन्दिर कलेवर के

अलंकरणों के साथ इस मॉडेल का मेल नहीं बैठता है ।

पाड़ा के इस प्राचीनतम् मन्दिर के इन सब अलंकरणों और भास्कर्य शिल्प के निदर्शनों को देखने पर एक प्रश्न जागृत होता है कि शिल्पी ने इतने छोटे आकार की मूर्ति मन्दिर कलेवर पर क्यों उत्कीर्ण की ?

ये सब मूर्त्तियाँ दूर से दिखाई नहीं पड़ती । यहाँ तक कि ऊपर के चित्र भी नीचे से अच्छी तरह दिखाई नहीं देते । यद्यपि इन प्रश्नों का सटीक जवाब देना सम्भव नहीं है फिर भी कहा जा सकता है कि प्राचीन मन्दिरों के अलंकरणों की यही एक प्रकार की रीति थी । प्रसंगवश कहा जा सकता है कि पाकविड़रा में जिस अष्टभुजा नारी मूर्त्ति का सन्धान पाया गया है उसका आकार भी इतना ही छोटा है । मयूर पीठ पर बैठी इस अष्टभुजा देवी का निर्माण कौशल पाड़ा मन्दिर की उन सब छोटी-छोटी मूर्त्तियों की शिल्प पद्धति से मेल खाता है । दोनों ही स्थान की इन सब शिल्पकलाओं का मान बहुत ऊँचा है । यदि मन्दिर अक्षत रहता तो कोणार्क के सूर्य मन्दिर की भाँति यह भी शिल्प रसिकों के आकर्षण का प्रधान केन्द्र बनता । कोणार्क के सूर्य मन्दिर की दीवारों पर भी ऐसी ही कुछ छोटे आकार की मूर्त्तियाँ दिखायी पड़ती हैं ।

पाड़ा के उस विख्यात् मन्दिर की ऊँचाई प्रायः चालीस फुट है । मन्दिर के ऊपर बने धर्मचक का आधा हिस्सा तो टूट गया है । अवशेष छोटे-छोटे लता पौधों से ढँका हुआ है । प्रवेश-पथ है आयताकार । गर्भ गृह बहुत छोटा है । गाँव के लोग इस मन्दिर को लक्ष्मी मन्दिर के रूप में जानते है । किन्तु मन्दिर में कोई मूर्त्ति नहीं है ।

शायद राजा मानसिंह के समय मन्दिर का कुछ संस्कार हुआ होगा । किन्तु संस्कार के कोई निदर्शन नहीं मिलते । क्योंकि यदि अतीत में इसका कोई जीर्णोद्धार हुआ होता तो मन्दिर इस प्रकार अवलुप्ति के पथ पर नही जाता ।

इस मन्दिर से कुछ मीटर की दूरी पर पश्चिम में पाड़ा का दूसरा मन्दिर है । किन्तु यह खूब प्राचीन नहीं है । अधिक से अधिक हजार वर्ष पूर्व इस मन्दिर का निर्माण हुआ होगा । यह मन्दिर ईंट का बना हुआ है । इसकी ऊँचाई प्रायः ४५ फुट है । मन्दिर का ऊपरी हिस्सा टूट गया है । अतः वहाँ पेड़-पौधे सिर उठाकर खड़े हुये हैं । इस मन्दिर का आकार, निर्माण कौशल,

अलंकरण इत्यादि बहुत-सी चीजें देउलघाटा के मन्दिर जैसी है । मन्दिर की बाहरी दीवारों पर, जलायी हुई ईंटों पर पलस्तर चढ़ा कर नक्शा जातीय अलंकरण बनाये गए हैं । शिल्पकला की यह पद्धति देउलघाटा के मन्दिर की अलंकरण पद्धति से मिलती-जुलती है ।

करीब सौ वर्ष पूर्व शायद इस मन्दिर पर प्रचुर अलंकरण थे । किन्तु वर्तमान में पलस्तर टूटे जाने से अलंकरण नष्ट हो गये । इस मन्दिर का प्रवेश पथ देउलघाटा मन्दिर के प्रवेश पथ की भाँति त्रिकोणाकार और आकार में काफी बड़ा है । पाड़ा के इस मन्दिर को देउलघाटा के मन्दिर की कार्बन कापी कह सकते हैं । किन्तु मन्दिर की ईंटों के आकार में प्रचुर पार्थक्य है । यहाँ ईंटे देउलघाटा मन्दिर की ईंटों की तरह न बड़ी हैं, न सख्त हैं । ये देखने में प्रायः वर्तमान काल की साधारण ईंटों की ही भाँति हैं । अतः लगता है देउलघाटा के मन्दिर पाड़ा के इस मन्दिर से अधिक प्राचीनतम् हैं।

यह मन्दिर लोगों में उदय चण्डी का मन्दिर नाम से विख्यात् है । गर्भ गृह में चण्डी देवी की एक भग्न मूर्त्ति है । किन्तु मूर्ति छोटी हैं, मात्र एक फुट लम्बी । भास्कर्य शिल्प के दृष्टिकोण से भी उल्लेखयोग्य नहीं है ।

पाड़ा के तृतीय मन्दिर का आकार कैसा था, यह आज नहीं बताया जा सकता । कई सौ वर्ष पूर्व ही मन्दिर टूट गया था या तोड़ दिया गया था । इस मन्दिर के पत्थरों से ही गाँव के पश्चिम प्रान्त में एक मन्दिर निर्मित हुआ है । वर्तमान में यह मन्दिर रघुनाथ जी के मन्दिर के रूप में जाना जाता है । सम्भवतः अतीत के सराक जैन मन्दिर के पत्थरों से इस मन्दिर को पूर्ण करना सम्भव नहीं था । अतः पत्थरों के अभाव में मन्दिर का ऊपरी भाग ईंटों से तैयार किया गया है । इस मन्दिर के पाषाणों पर जहाँ-तहाँ कुछ अलंकरण प्राप्त होते हैं । इन सब अलंकरणों से ही प्रमाणित होता है, इन पत्थरों को सराक जैन मन्दिर से हटाकर यहाँ लगाया गया है ।

इसी किस्म का एक मन्दिर बुधपुर में भी है । बुधपुर के बुद्धेश्वर मन्दिर का निर्माण वहाँ के सराक जैन मन्दिरों के पत्थरों से ही हुआ है । यहाँ तक कि बुद्धेश्वर मन्दिर का शिवलिंग भी असल में प्राचीन सराक जैन मन्दिर का ही टूटा हुआ स्तम्भ है । इसी भाँति का एक शिवलिंग पाड़ा के इस ईंट के मन्दिर में भी है ।

पाड़ा में कई तीर्थंकर मूत्तियाँ थी । किन्तु वर्तमान में अब दिखाई नहीं

पड़ती । शायद काशीपुर के राज्य परिवार के लोग उन्हें यहाँ से ले गए । रंकिणी और झंकिणी की मूर्त्तियाँ भी इस समय वहाँ नही है । प्राचीन पाषाण मन्दिरों पर जो सब यक्ष-यक्षिणियों की या नारी मूर्त्तियाँ थी ग्रामीणों के मत में वे ही रंकिणी और झंकिणी की मूर्त्तियाँ थी ।

पाड़ा का यह पाषाण मन्दिर पुरूलिया एवं पश्चिम बंगाल का गौरव है । डेढ़-दो हजार वर्षों से यह अपने बचाव के लिए संघर्ष करता आ रहा है । अब तो यह ध्वंस पथ का यात्री है । फिर भी हारा नहीं है । आज भी यह हमारे नेत्रों के सम्मुख अतीत युग के गौरवमय भास्कर्य शिल्प-निदर्शन को प्रस्तुत करता है । आज भी इसकी देह पर उत्कीर्ण क्षयप्राप्त अतुलनीय नारी मूर्त्तियाँ, अश्वारोही पुरूष-मूर्त्तियाँ और भग्नदेह तीर्थंकर मूर्त्तियाँ अतीत के शिल्प का गौरव गान गा रही है । नृत्यरत नारी-देह नृत्य छन्द में अतीत के इतिहास को रूपायित कर रही है । अतीत बार-बार छिप-छिप कर कुछ कह जाता है । कोई उसको सुन पाता है, कोई नहीं । फिर भी वह वर्तमान के मनुष्यों को अतीत का वह सुमधुर गीत सुनाता रहता है ।

❖❖❖

"जैन धर्म सदृश महान धर्म को पाकर मै धन्य हूँ । मैं प्रतिदिन स्वाध्याय करता हूं । आत्मानुशासन मेरा जीवन-साथी बन गया है ।"

— श्री अल्फ्रेड हडसन, हेडनेस फोर्ड

प्राचीन सराक संस्कृति की सुवर्णभूमि पाकविड़रा

श्री युधिष्ठिर माजी

पाकविड़रा । प्राचीन सराक संस्कृति की सुवर्णभूमि । यहीं है पुरूलिया की साढे सात फुट लम्बी महान् तीर्थंकर मूर्त्ति ।

वागदा से तीन मील दक्षिण में पाकविड़रा काफी बड़ा गाँव है । ग्राम-वासियों द्वारा जाना गया कि पाक का अर्थ है पक्षी और विड़रा का अर्थ है टाड़न करना । हो सकता है इस गाँव के शान्त जंगलमय स्थानों में किसी समय पक्षियों के प्रचुर नीड़ रहे होंगे, घोंसले रहे होंगे । परवर्त्ती काल में बहेलियों के दल उन्हें तंग करते रहे होंगे । यहाँ से कुछ मील की दूरी पर है बुघपुर। सुना है यहाँ मेले के समय प्रचुर मात्रा में श्यामा पक्षियों का क्रय-विक्रय होता था ।

पाकविड़रा के इसी प्राकृतिक लीला क्षेत्र में रचित हुआ था अतीत युगीन सराक संस्कृति का एक गौरवमय अध्याय । यहाँ की धरती पर उस समय के चार सराक मन्दिरों का सन्धान मिला है । एक तो बिल्कुल टूट गया है । बाकी तीन मन्दिरों की ऊपरी पर्त्तों को उतार कर अलंकरणों को नष्ट कर दिया गया है । महाकाल के काले हाथों के घर्षण ने मन्दिरों के अलंकरणों को क्षय कर दिया है ऐसा सोचने का कोई कारण ही नहीं मिलता । बल्कि पूर्वकल्पित भाव से ही मन्दिरों के अमूल्य मूर्त्ति शिल्प के निदर्शनों की ऊपरी पर्त्तों को उतार फेंका गया है । इसके निदर्शन मन्दिर के सर्वांग में मिलते हैं और मिलते हैं जमीन के नीचे से निकाली हुई अलंकरण युक्त मन्दिर की हजार-हजार शिलाखण्डों में ।

अभी भी मन्दिरों के नीचे की ओर किसी-किसी स्थान में कुछ-कुछ अलंकरण रह गए हैं । अलंकरणों के इन रीतियों के साथ बराकर मन्दिरों के अलंकरणों से विस्मयकारी सादृश्य है । यहाँ तक कि पाकविड़रा के मन्दिरों के अक्षत रूप कैसे थे यह हम जान सकते हैं बराकर मन्दिरों के मध्य ही । प्रायः एक ही मॉडल में एक ही भाष्कर्य शिल्प रीति में सब मन्दिर निर्मित हुए थे । पाकविड़रा के मन्दिर धर्मान्ध मनुष्यों के काले हाथों से नहीं बच

सके । किन्तु बराकर के मन्दिर शिवलिंग का कवच धारण कर अक्षत रह सके हैं । बराकर मन्दिर के गर्भ में शिवलिंग स्थापित कर देने के कारण अब इन्हें शिव मन्दिर कहकर ही प्रचार किया जाता है । पश्चिम बंग सरकार के टूरिस्ट ब्यूरो के विज्ञापन में लिखा गया है— 'माइथन तुम्हें पुकार रहा है । यात्रा करते समय बराकर के कोलाहलहीन शान्तिधाम, कल्याणेश्वरी और विख्यात् शिव मन्दिर आर्त-हृदयों की क्लान्ति को समाप्त कर देगा ।'

किन्तु बराकर मन्दिरों को विख्यात् शिव मन्दिर कहकर प्रचार करने से न केवल सत्य को ही झुठलाया जाता है अपितु, विदेशी भ्रमणकारियों को विभ्रान्त भी बनाया जाता है । टूरिस्ट ब्यूरो जैसी दायित्वशील संस्था के द्वारा इस प्रकार का प्रचार शोभा नहीं पाता ।

पाकविड़रा में सराक मन्दिरों का मात्र ढाँचा खड़ा है । उनकी कंकालसी देह आज रिक्त शून्य दयनीय बनी हुई है । इसके रक्त, माँस, चर्म को खण्ड-विखण्ड कर यहाँ की मिट्टी में छुपा लिया गया है । मन्दिर के मंगल कलश इधर-उधर लुढ़क रहे हैं । इन मंगल कलशों के ऊपर आम्र-पल्लव युक्त नारियल रखा हुआ है । शिल्पकला की दृष्टि से ये अतुलनीय हैं । अनुमान किया जा सकता है कि इन्हें मन्दिर के शिखर एवं मन्दिर की प्राचीरों पर किसी-किसी स्थान में रखने की रीति थी । इसके अतिरिक्त बहु संख्यक मंगल कलश यहाँ संरक्षित थे ।

कुछ दिन पूर्व सामान्य खनन कार्य प्रारम्भ कर प्रचुर जैन मूर्त्तियों का उद्धार किया गया है । किन्तु अब भी यहाँ मिट्टी के नीचे और भी सराक शिल्पियों द्वारा निर्मित शत-शत मूर्त्तियाँ मुक्ति की आशा में दिन गिन रही हैं । न जाने कब किस युग में कोई राजपुत्र सुवर्णयष्ठि हाथ में लेकर अपने पुरूषार्थ से मिट्टी हटाकर कब्रखाने का द्वार खोलेगा ? न जाने कब तक ये सब प्राचीन निदर्शन इस प्रकार गहरी नींद में सोए रहेंगे ?

ग्रामवासी भी इन सब निदर्शनों को जमीन खोदकर निकालना नहीं चाहते। उनकी धारणा है इन्हें बाहर निकालने से ही सरकारी लोग या कोई प्रभावशाली प्रतिष्ठान इन्हें लेकर चला जाएगा ।

एक स्थान पर एक सुन्दर खूब बड़ी मूर्त्ति के कुछ अंश दिखायी देते हैं । कुछ घण्टे के परिश्रम से ही यह मिट्टी से बाहर निकाली जा सकती है । किन्तु यह सब करने वाले लोग ही नहीं हैं । राष्ट्रीय शिल्पकला अवाध रूप

से नष्ट हो रही है, उसकी रक्षा करने वाला कोई नहीं है । प्राचीन सम्पदा का इस प्रकार अपव्यय किसी देश में होता है मैंने कभी नहीं सुना ।

यहाँ की मूल मूर्त्ति महान् तीर्थंकर महाकाल भैरव के नाम से रूपान्तरित हो गयी है । वैशाख मास में भैरवनाथ की पूजा होती है । ज्येष्ठ मास में तेरह-चौदह दिन तक उत्सव होता है । छोटे-मोटे गाजन मेले भी होते रहते हैं । पहले गाजन सन्यासीगण पृष्ठ के चमड़े में छेदकर चड़क घुमाते थे । वर्त्तमान में शायद चड़क पूजा नहीं होती फिर भी खाड़ा सन्यासियों की शोभा यात्रा अनुष्ठित होती है । इसके अतिरिक्त अनेक लोग मानसिक व सामाजिक मानता पूरा करने के लिए पशु-बलि भी देते हैं । अहिंसा धर्म के साधक पुरूष महान् तीर्थंकर की आँखों के सम्मुख ही रक्त से मिट्टी भींग जाती है । बकरियाँ और उनके शिशुओं की आर्त चीत्कार और ताजे रक्त-स्त्रोत से जिस वीभत्स परिवेश की सृष्टि होती है उससे महाकाल भैरव के छद्मवेश में महान् तीर्थंकर के नेत्र कोणों में शायद अश्रु आ जाते होंगे । किन्तु नेत्रों के उस जल का हिसाब किसी के पास नहीं है ।

पाकविड़रा की धरती से निकाली गई कई सौ सराक जैन मूर्त्तियाँ टूटी-फूटी अवस्था में चारों ओर बिखरी पड़ी हैं । मूल प्रतिमा भैरवनाथ के लिए एक घर तैयार किया गया है । इस घर में इस मूल मूर्त्ति के अतिरिक्त पच्चीस-तीस सराक जैन मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं । मूर्त्तियों में जिस प्रकार जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ हैं ठीक उसी प्रकार है यक्ष-यक्षिणी व जैन शासन के देव-देवियों की मूर्त्तियाँ । शासन देव-देवियों की मूर्त्ति के ऊपर की ओर हैं ध्यान-मग्न महान् तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ । इन सब अमूल्य शिल्पकला का यथार्थ परिचय देना मेरी क्षुद्र-बुद्धि से सम्भव नहीं हो सकता फिर भी मैने जैसा देखा वैसा ही वर्णन कर दिया हैं ।

एक नारी मूर्त्ति और एक पुरूष मूर्त्ति है, उन दोनों के बाएँ हाथ में शिशु सन्तान हैं । नारी के पैरों के नीचे घट है और पुरूष के पैरों के नीचे प्याला है । ऊपर की ओर चैत्यवृक्ष का प्रतिरूप है । सबके उपर है ध्यानमग्न तीर्थंकर । इन्हें अनेकों ने तीर्थंकरों का माता-पिता कहकर अभिहित किया है । कोई-कोई इन्हें शीर्ष स्थित तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणी कहते हैं । खजुराहो, देवगढ़ आदि स्थानों में भी अनुरूप मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं ।

दुसरी एक देवी मूर्त्ति अकेली है । सम्भवतः यह जैन अम्बिका की मूर्त्ति

है। नीचे के शिशु को देखकर ऐसा ही लगता है। एक शिलाखण्ड में लीलायित सर्पों के मुख में नारी और पुरूष हैं। बायीं ओर नारी है और दाहिनी ओर पुरूष। सम्भवतः ये धरणेन्द्र पद्मावती हैं। मध्य में तीर्थंकर पार्श्वनाथ हैं। मूर्त्ति का ऊपरी अंश टूट गया है। नीचे की ओर दाहिनी तरफ दो स्त्रियाँ हाथ जोड़कर बैठी हुई हैं। सबसे नीचे दोनों ओर दो सिंह की मूर्त्तियाँ हैं।

मन्दिर की अलंकरणयुक्त पर्त्त, जो आगे ही तोड़कर फेंक दी गयी है और मिट्टी के नीचे दबा दी गयी थी, के कुछ अंश वर्त्तमान में जमीन से निकाले गए हैं। टूटे-फूटे वही सब अलंकरण जो कि भाष्कर्य शिल्पकला के अतुलनीय निदर्शन हैं जहाँ-तहाँ पड़े हैं। एक स्थान के शिलापट पर मयूर की पीठ पर अष्टभुजा देवी की मूर्त्ति है। मूल दोनों हाथों में कोई अस्त्र नहीं है बाकी हाथों में नाना प्रकार के अस्त्र हैं ऐसा लगता है। मूर्त्ति खूब छोटी है। देवी मूर्त्ति के दाहिनी ओर सिंह का मुख दिखायी देता है। नीचे चार-चार कर आठ बैठी मूर्त्तियाँ हैं एवं मध्य में है कमल या धर्मचक। क्या यह अष्टभुजा मूर्त्ति सतरहवें तीर्थंकर कुंथुनाथ की अच्युता नामक शासन देवी हैं? वह जो भी हो शिल्पकला की दृष्टि से मन को बहुत आकृष्ट करती है।

विभिन्न आकार की जैन तीर्थंकरों की बहुत-सी मूर्त्तियाँ पाकविड़रा में हैं। कहीं वे पञ्चफणा सर्प छत्र के नीचे भाव गम्भीर परिवेश में खड़ी हुई हैं तो कहीं लीलायित सर्पों के मध्य आजानुलम्बित होकर। कहीं तीर्थंकर की मूर्त्ति के सन्निकट खड़ी हैं यक्षिणियाँ सुन्दर नारियाँ। एक शिलाखण्ड पर सिंह की पीठ पर चढ़ी नारी मूर्त्ति है।

इन सभी देवी व नारी मूर्त्तियों में अलंकरण प्रायः एक ही प्रकार के हैं। सुन्दर परिपुष्ट वक्ष, भारी नितम्ब, कमर है सूक्ष्म और नाभि देश गम्भीर, नासिका उन्नत है। ओष्ठ पतले, बंकिम भंगिमामय। मूर्त्तियों के हाथ-पाँव गले में अलंकार है। कमर से नितम्ब पर्यन्त फैली हुई मेखला है। कवरी बन्धन शिथिल है। सिर पर छोटा मुकुट है।

पाकविड़रा में एक ही शिलापट्ट पर दो-दो तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ भी काफी हैं। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर के दोनों ओर ६ या २४ तीर्थंकर की मूर्त्तियाँ हैं। ये सभी मूर्त्तियाँ ३ से ४ फुट तक लम्बी हैं। सभी प्रायः अक्षत हैं। ये सब कुछ महीनों पूर्व ही जमीन से निकाली गयी हैं। उनके सर्वांग में अभी भी मिट्टी की गन्ध है। अन्य एक विराट शिलापट्ट पर खुदी हुई है

२४ तीर्थंकर की मूर्त्तियाँ १४ पंक्ति में । कुल ३३६ तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ हैं इस एक फलक में । प्रत्येक मूर्त्ति प्रायः ४ इंच लम्बी है ।

इस फलक का कुछ अंश टूट गया है । दूर से यह शिलालिपि-सा प्रतीत होता है।

पाकविड़रा में चार सराक मन्दिरों के मॉडल मिले हैं । प्रथम मॉडल गाढ़े बादामी पत्थर पर खुदा हुआ है । मॉडल के ऊपर छत्र की भाँति जो चक्र था लगता है टूट गया है । इसमें ३८ विभाजन हैं । चारों ओर चार जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ हैं । मध्य के चारों ओर अपूर्व अलंकरण हैं । इसी मॉडल में पाड़ा नामक गाँव में पत्थरों का मन्दिर निर्मित किया गया था । पाड़ा मन्दिर के अलंकरणों के साथ इस मिनि मन्दिर की अलंकरण प्रणाली में सादृश्य है । इसके नीचे की ओर चौकोर होने पर भी ऊपर की ओर प्रायः गोलाकार है । इस मिनि मन्दिर की लम्बाई प्रायः चार फुट है ।

दूसरा मिनि मन्दिर वर्गाकार बनाया गया है । यह भी बादामी पत्थर पर उत्कीर्ण है । यह प्रायः तीन फुट लम्बा है । मन्दिर की प्राचीरों पर सुन्दर अलंकरण और चारों ओर चार तीर्थंकरों की मूर्त्ति दण्डायमान अवस्था में उत्कीर्ण है । इस मिनि मन्दिर के मॉडल में पुरूलिया में कोई जैन मन्दिर है या नहीं मैं नहीं जानता । फिर भी इस मन्दिर के मॉडल में बने हुए कुछ हरि मन्दिर और तुलसी मंच मेरे दृष्टिगत हुए हैं । इसके अतिरिक्त पुरूलिया के लोक उत्सव टुसू पूजा में टुसू के लिए जो कागज का घर बनाया जाता है उस पर इस मिनि मन्दिर के शिल्प की छाप पड़ी है ऐसा मुझे लगता है । बहुत-सी जैन शिल्पकलाओं ने परवर्त्ती काल में इस अंचल के लोक शिल्प को समृद्ध किया । सम्भवतः यह भी उसका ही एक निदर्शन है ।

तृतीय एवं चतुर्थ मिनि मन्दिर कुछ दिन पूर्व ही जमीन से निकाले गए हैं । तृतीय मिनि मन्दिर के मॉडल में ही तैयार हुआ था पाकविड़रा एवं बराकर का मन्दिर । इन दो स्थानों के मन्दिर के साथ इसका आकार गत पूर्ण सामञ्जस्य है । किन्तु अलंकरण रीति में अधिक साम्य नहीं है । चतुर्थ मिनि मन्दिर के शिल्प कौशल पर तो मुग्ध होना ही पड़ता है ।

यहाँ की मूल प्रतिमा काले रंग के खूब सख्त पाषाण से अपूर्व कुशलतापूर्वक निर्मित की गयी है । ऐसा लगता है जैसे जीवंत तीर्थंकर ध्यान गम्भीर भाव में प्रशान्त दृष्टि से देख रहे हैं । यह मूर्त्ति भी अखण्डित नहीं है । जाँघ प्रदेश

द्विखण्डित हो गया है । बाद में वह किसी समय सुन्दरतया जोड़ा गया है । पाकविड़रा की धरती पर एक सामान्य से छोटे घर के क्षुद्र परिसर में बन्दी होकर रहे हैं विश्व के अहिंसा के प्रतीक महान् तीर्थंकर, उनके ललाट पर सिन्दूर लगा है, पावों पर फूल और बेल-पत्र चढ़ा है । यहाँ प्रत्येक मूर्त्ति बेल-पत्र और फूल से पूजी जाती है । यहाँ तक कि ये छोटे मिनि मन्दिर भी इस पूजा से वंचित नहीं हैं ।

आज पाकविड़रा के सराक संस्कृति के इस पुण्यक्षेत्र में उपस्थित होते ही मुझे जो एक बात स्मरण हो रही है वह है कि यहाँ की धरती में इतनी जैन मूर्त्तियाँ कहाँ से आई ? ये सब मूर्त्तियाँ क्या मन्दिरों की प्राचीरों पर सजायी हुई थी ? मुझे तो ऐसा नहीं लगता । मन्दिर की प्राचीरों पर जो सब मूर्त्तियाँ और अलंकरण थे उनका घरातल अर्थात् शिलापट्ट पतला था और वे सभी अधिकांशतः टूट गए हैं। इसके अतिरिक्त मन्दिर की दीवालों पर बहुत-सी सराक जैन मूर्त्तियाँ संयोजित थीं ऐसा नहीं सोचा जा सकता । पूर्व ही कह आया हूँ बराकर के मन्दिरों की प्राचीरों के अलंकरणों से यहां के मन्दिरों के अलंकरण मिलते-जुलते हैं । बराकर के मन्दिर प्रायः अक्षत हैं । वहाँ के मन्दिरों के गर्भदेश में जैन मूर्त्तियाँ अवश्य ही थीं किन्तु मन्दिर की प्राचीरों पर मूर्त्तियों का सन्धान नहीं मिलता है । जैन मन्दिर के जो मॉडल मिले हैं उनमें भी चार से अधिक जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ नही मिलती । अतः पाकविड़रा के मन्दिरों की प्राचीरों पर शत-शत जैन मूर्त्तियाँ संयोजित थी ऐसा नहीं माना जा सकता ।

इन्हों सब कारणों से मेरा मन कहता है पाकविड़रा में भाष्कर्य शिल्पकला और मूर्त्ति-निर्माण की एक कर्मशाला थी । इस कर्मशाला में दक्ष सराक शिल्पीगण मूर्त्ति निर्माण करते थे । वे यहाँ जैन, बौद्ध एवं हिन्दू इन तीनों ही महान् धर्म की मूर्त्तियाँ निर्मित करते थे । इसी कारण से इस अंचल में कुछ-कुछ बौद्ध और हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्त्तियाँ भी पाई जाती हैं । यहाँ से बौद्ध मूर्त्तियाँ विदेशों में भी निर्यात की जाती थीं । चीन, जापान, इण्डोनेशिया, वर्मा, थाइलैण्ड, जावा आदि देशों का इस अंचल से सम्बन्ध थां । सम्भवतः ताम्रलिप्त से ये सब मूल्यवान शिल्पकला विदेशों में भेजी जाती थीं । ताम्रलिप्त से पाटलीपुत्र पर्यन्त एक रास्ता भी बनाया गया था । इस प्रकार के मूर्त्ति-निर्माण की कर्मशाला पाकविड़रा के अतिरिक्त छड़रा एवं देउलघाटा में भी

थी ऐसा हम सोच सकते हैं और इसी कारण से ही बहुत-सी एक ही किस्म की अक्षत मूर्त्तियाँ पायी जाती हैं । कौन कह सकता है कि पाकविड़रा की धरती के नीचे एक पूरा अजायबघर ही छिपा हुआ हो ।

अब प्रश्न यह उठता है कि सराक शिल्पीगण आए कहाँ से ? क्या वे यहाँ के आदि पुरूष थे ? इस प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है । इस प्रसंग का कोई प्रमाण इतिहास में है कि नहीं मैं नहीं जानता । फिर भी श्रावक सम्प्रदाय के इस क्षेत्र में आने के पश्चात् यहाँ आश्रम सभ्यता का निर्माण करने के लिए कुछ भाष्कर्य शिल्पियों की आवश्यकता निश्चित ही थी । अतः इन सब शिल्पियों को दूर देश से लाया गया था ।

इस प्रसंग का कोई इतिहास हमारे पास न होने पर भी सराक शिल्पियों को जिन्हें गुजरात के सुदूर प्रदेशों से यहाँ लाया गया था उस सम्बन्ध में कुछ किम्बदन्तियाँ हैं । मिस्टर जी. कूपलैण्ड ने किम्बदन्ती के आकार में ही जो मूल्यवान तथ्य दिये हैं उससे हम जान सकते हैं— ".....There is a tradition that they (Saraks) ordinarily came from Gujarat but in the former districts the popular belief is that they were brought thither as sculptors and masons for the construction of stone temples and house the remains of which are still visible on the bank of Barakara."

यह किम्बदन्ती बराकर के मन्दिर प्रसंग में बोली जाने पर भी यदि उसमें कुछ ऐतिहासिक तथ्य है तो यह पाकविड़रा के मन्दिर प्रसंग के लिए भी प्रयुक्त होगी । क्योंकि उभयस्थल के मन्दिर निर्माण का कौशल प्रायः एक ही प्रकार का है । पुरूलिया के ये सब पुराकीर्त्ति के निदर्शन जो कि सराक शिल्पियों द्वारा तैयार हुए थे उस सत्य को स्वीकार कर मि° कूपलैण्ड लिखते हैं—

".....reference has already been made in an earlier chapter as the remnant of an archaic community (the Saraks) whose connection with the district must date back to the very earliest time."

केवल अतीत की ही कथा नहीं है वर्त्तमान पण्डित समाज भी अब इस सत्य को ही मानने के लिए बाध्य हुआ है । झाड़खण्ड के बुद्धिजीवी राधा

कालभैरव, पाकबिरा

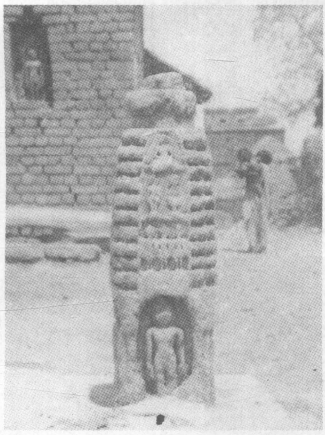

सराक जैन मन्दिर

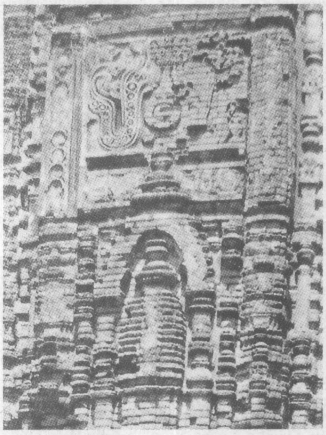

सराक मन्दिर

सराक संस्कृति का एक वृहत् केन्द्रस्थल

पार्श्वनाथ, पाकबिरा 9वीं शताब्दी

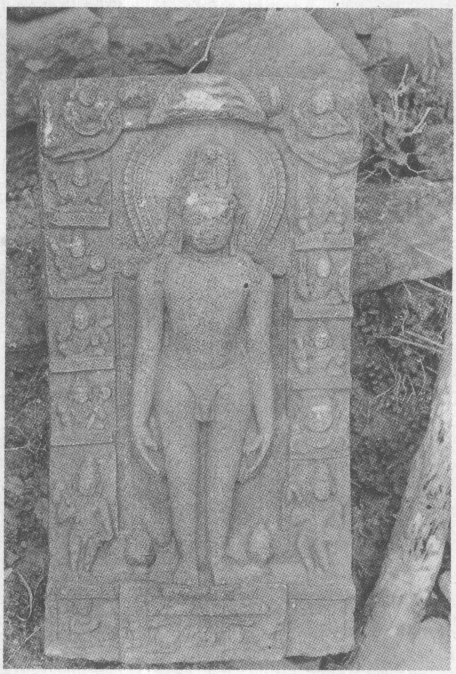

ऋषभनाथ पाकबिरा 10वीं शताब्दी

गोविन्द माहात अपने "झाड़खण्डे धर्मान्तर अभियान ओ समाज संस्कार आन्दोलन" नामक एक प्रबन्ध में लिखते हैं—"जो कुछ हो, सराक जाति ने जैन धर्म ग्रहण किया और बहुत समय तक इस अंचल में धर्म की इस दीपशिखा को प्रज्ज्वलित रखा। इनके हाथों निर्मित जैन मन्दिर एवं मूप्रस्तर रचित जैन मूर्त्ति सहित विभिन्न देव-देवियों की मूर्त्तियाँ आज भी बहुत जगह वर्त्तमान है। तत्कालीन निर्मित इसका भाष्कर्य शिल्प इदानिंग युग के मनुष्य को भी आश्चर्य चकित कर डालता है कारीगरों की सूक्ष्म निपुणता देखकर।"

कहानी किम्बदन्ती और मिस्टर कूपलैंण्ड के मत में सराक शिल्पीगण बाहर से आए थे एवं श्रीयुत् राधा गोविन्द माहात महाशय के मत में सराक यहीं के थे, उन्होंने यहीं जैन धर्म ग्रहण किया। किन्तु कोई भी मनुष्य जैन धर्म ग्रहण करने से ही शिल्पी नहीं हो सकता। उसका प्रशिक्षण आवश्यक है। सराक शिल्पीगण इसी अंचल की पुराकीर्त्ति के सृष्टिकर्त्ता हैं इस विषय में तो कोई सन्देह नहीं है। किन्तु वे यहीं के आदिवासियों के एक अंश विशेष हैं ऐसा सोचने का तो कोई कारण ही नहीं है। इस प्रसंग में मिस्टर कूपलैण्ड का मत ही ग्रहण योग्य है।

पुरूलिया की पुराकीर्त्ति के मध्य छिपा है पुरूलिया का इतिहास। आज पाकविड़रा की धरती के नीचे प्राचीन इतिहास के उपादान शत-शत सराक शिल्पकला नीरव होकर निभृत एकान्त में अश्रु विसर्जन कर रही हैं। इन्हें क्या हम मुक्त कर बाहर के प्रकाश में नहीं ला सकते ? ऐतिहासिक तथ्यों को संग्रहित कर उन्हें ग्रन्थागार में प्रकाशित करना जितना प्रयोजनीय है उतना ही प्रयोजनीय है इन सब अमूल्य शिल्पकलाओं को संग्रह कर संग्रहशाला में संरक्षित कर देना। पुरूलिया तथा पाकविड़रा के इधर-उधर छिटके-बिखरे इन सब पुराकीर्त्ति के निदर्शन को लेकर पुरूलिया में एक संग्रहशाला बनायी जा सकती है। पश्चिम बंग सरकार यदि इस ओर जरा भी ध्यान दे तो निश्चय ही पुरूलिया की प्राचीन सम्पदा इस अवक्षय के हाथों से बच सकती है। अतीत के पुरूलिया को गवेषकगण खोज सकेंगे इन्हीं सब प्राचीन शिल्पकला के मध्य ही।

राढ़ भूमि में जैन धर्म और दुर्गापुर

डा॰ त्रिपुरा बसु

जैन धर्म कितना पुराना है इस विषय में विभिन्न व्यक्तियों के विभिन्न मत हैं। पाश्चात्य पंडितों में विल्सन द्वितीय शताब्दी, वुड छटी शताब्दी, वेनफी १०म् शताब्दी, लैसेन प्रथम या द्वितीय शताब्दी और फ्लाट २५० खृ॰ पूर्वाब्द समय को जैन धर्म के उदभव काल के रूप में निर्देश करते हैं। पण्डित अमूल्यचरण विद्याभूषण के मत से जैन धर्म विष्णु-पुराण में उल्लिखित है। प्रथम शताब्दी में उत्कीर्ण मथुरा की प्राचीन शिलालिपि, उदयगिरि शिलालिपि, बौद्ध ग्रंथों में निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का उल्लेख एवं खृ॰ पूर्व ५२३ में अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान के निर्वाण प्राप्ति के प्रसंग उद्धृत कर वे कहना चाहते हैं जैन धर्म का आविर्भाव काल बहुत पुराना है और वह बौद्ध धर्म के बहुत पहले का है। यह अत्यन्त प्राचीन धर्म-मत कालान्तर में पूर्व भारत के विभिन्न स्थानों में फैल गया। कहा गया है सम्राट अशोक ने एक समय पाटलीपुत्र के प्रायः अठारह हजार आजीविकों की हत्या कर दी थी।[1] इसी सूत्र से कहा गया है खृ॰ पूर्व तृतीय, चतुर्थ शताब्दी में ही जैन धर्म उत्तर बंग में प्रचारित हुआ है। जैन भगवती सूत्र के अनुसार कहा जाता है अंग, बंग एवं राढ़ देश में भी जैन धर्म अत्यन्त प्राचीन काल में ही प्रचारित हो गया था। सर्व प्रकार से निर्दोष जैन साधक जिन या तीर्थंकर नाम से परिचित है। जैन ग्रन्थों में पूर्व के जिन चौबीस तीर्थंकरों के नाम हैं वे थे केवलज्ञानी, निर्वाणी, सागर, महायश, विमल, सर्वानुभूति, श्रीधर, दत्त, दामोदर, सुतेज, स्वामी, मुनिसुव्रत, सुमति, शिवगति, अस्ताग, नेमीश्वर, अनिल, यशोधर, कृतार्थ, जिनेश्वर, शुद्धमति, शिवकर, स्यनन्दन और सम्प्रति।* प्रसंगतः कहना चाहूंगा भागवत में उल्लिखित चौबीस अवतार और बौद्ध ग्रंथों के चौबीस बुद्धों की तरह ही जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरों के प्रसंग भी लक्ष्यनीय है। परवर्ती काल में उक्त तीर्थंकरों की तालिका परिवर्तित हो गयी। संस्कृत भाषा में रचित 'चतुर्विंश पुराण' में कथित चौबीस जैन तीर्थंकर हैं---ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभु, सुविधिनाथ, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ,

धर्मनाथ, अरिष्टनेमि या नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, वर्द्धमान स्वामी या महावीर ।

जैन धर्म का प्राचीन ग्रन्थ (खृ° पू° पंचम शताब्दी) आचारांग सूत्र के अनुसार आज से प्रायः अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व आदि जैन धर्म के प्रचारकों ने अंग-बंग व राढ़ भूमि के नाना स्थानों में जैन धर्म का प्रचार किया था । डा° प्रबोध चन्द्र बागची कहते हैं---"बंग देश में जैन धर्म अन्ततः खृ° पू° तृतीय शताब्दी में ही सुप्रतिष्ठित हो गया था ऐसा अनुमान करना असंगत नहीं है । और उत्तरबंग में उस सम्प्रदाय का प्रभाव ख्रष्टीय सप्तम शताब्दी के मध्य भाग तक प्रबल था इसका प्रमाण ह्वेनसांग के विवरण से मिलता है । उसके समय में भी पुण्ड्रवर्द्धन नगर में निर्ग्रन्थों की संख्या अन्य धर्मावलम्बियों से अधिक थी ।" अमियकुमार बन्द्योपाध्याय लिखते हैं---"जैनों का धर्मग्रन्थ कल्पसूत्र और बौद्धों के धर्म ग्रन्थ बोधिसत्वावदान कल्पलता आदि से भी जाना जाता है कि ख्रष्ट पूर्व काल से ही पुण्ड्रवर्द्धन प्राच्य देश में जैन धर्म का सर्वप्रधान केन्द्र था ।" इतिहासकार नीहार रंजन राय कहते हैं---"जैन पुराण के ऐतिहासिकत्व को स्वीकार करने पर कहना होगा मानभूम, सिंहभूम, वीरभूम और वर्द्धमान इन चारों स्थानों के नाम जैन तीर्थंकर महावीर या वर्द्धमान के साथ जुड़े हुए हैं ।"

वर्त्तमान बिहार के हजारीबाग जिला के पारसनाथ वा पार्श्वनाथ पहाड़ के समाधि शिखर या सम्मेत शिखर पर चौबीस तीर्थंकरों में २० तीर्थंकर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। अतः यह पहाड़ जैनों का अति पवित्र क्षेत्र है । यह सम्मेत शिखर और इसका पार्श्ववर्ती अंचल जैन धर्म द्वारा बहुत प्रभावित हुआ इसमें सन्देह नहीं है । फिर इस धर्म का प्रभाव क्रमशः दामोदर, कंसावती, द्वारकेश्वर, शिलावती और बराकर के किनारे से होते हुए राढ़-बंग में प्रचारित हुआ है । वर्त्तमान बाँकुड़ा, वर्द्धमान, पुरूलिया, मेदिनीपुर जिलों के नदी तटवर्ती अंचलों में उन चिन्हों का आज भी अभाव नहीं है । बाँकुड़ा जिले के ईंदपुर थाने के जोडदा ग्राम की ब्रह्माथान में रक्षित पाषाण मूर्त्तियों का संग्रह, तालडांगरा थाना के देउलभिड़ा ग्राम से राखालदास वन्दोपाध्याय द्वारा संग्रहित और भारतीय संग्रहालय, कलकत्ता में रक्षित पार्श्वनाथ की मूर्त्ति, विष्णुपुर थाना के धरापाट ग्राम के पाषाण मन्दिर में स्थापित आदिनाथ और पार्श्वनाथ की दो मूर्त्तियाँ, ऊँदा थाना के बहुलाड़ा ग्राम के सिद्धेश्वर शिवालय के गर्भ गृह में रक्षित पार्श्वनाथ मूर्त्ति और अनेकों जैन स्तूपों के चिह्न, सोनामुखी थाने के मदनपुर ग्राम की महावीर मूर्त्ति के अतिरिक्त एक्तेश्वर, डिहर,

हाड़मासरा, अम्बिकानगर, चितिगिरि, चेयादा, केन्दुया, गोकुल, शालतोड़ा, ओका, बरकोणा इत्यादि गाँवों में जैन-संस्कृति के प्राचीन साक्ष्य वर्त्तमान हैं। धरापाट गाँव के नेंगटा ठाकुर के मन्दिर के उपास्य देव हैं नागछत्रधारी जैन तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की मूर्त्ति। जैन धर्मावलम्बी सराक जाति अध्युषित उल्लेख योग्य ग्राम है बाँकुड़ा का शालतोड़ा। कंसावती नदी के दक्षिण तट पर मेदिनीपुर शहर की विपरीत दिशा में खड़गपुर थानान्तर्गत बालिहाटी के जैन मन्दिर के ध्वंसावशेष दक्षिण-पश्चिम बंग में जैन प्रभाव का अन्यतम दृष्टान्त हैं। कुछ साल पहले कोलाघाट के पुल निर्माण के समय रूपनारायण नदी के गर्भ से एक प्राचीन मूर्त्ति निकाली गयी थी। बालिहाटी का पार्श्ववर्त्ती अंचल 'जिन शहर' नाम से भी परिचित है। कुछ मील दूर पाथरा ग्राम में भी पाया गया है एक जैन चौमुख जिस पर जैन तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ खुदी हुई हैं। पुरूलिया जिले के वागमुण्डी थाना का देउली उस समय जैन धर्म का अन्यतम विकास-स्थल था। इस जिले के तेलकूपी में इतनी जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं कि विस्मित हुए बिना नहीं रहा जाता। प्राचीन काल में ताम्रलिप्त बन्दर से तेलकूपी होकर एक स्थल-पथ दामोदर को अतिक्रम कर पाटलिपुत्र पर्यन्त चला गया था। तेलकूपी था उसी पथ का एक विश्राम स्थल। यहाँ की बहुत सी मूर्त्तियाँ विनष्ट हो जाने पर भी कुछ-कुछ आज भी परिलक्षित होती हैं पार्श्ववर्ती ग्राम गुरूडि में। तेलकूपी उस समय जैन धर्म प्रभावित एक उल्लेखयोग्य जनपद था। इस जिले के पाड़ा और पाकविड़रा भी समान रूप से उल्लेखयोग्य हैं।

आगे ही कहा गया है वर्द्धमान का नामकरण जैन तीर्थंकर महावीर के नाम से सम्बन्धित है। इस जिले के दामोदर तीरवर्त्ती अंचल किस प्रकार जैन धर्म से प्रभावित हुये थे उसके प्रमाणों का अभाव नहीं है। पूरे वर्द्धमान जिले के वेगुनिया, शिवपुर, काजोड़ा, नन्दी, जामुरिया, रक्षितपुर, बसुधा, माजूरिया, खाण्डारी, मानकर, कसबा, सुयाता, एड़ाल, सर, आदरा, परशूड़ा, नवाबहाट, रायना, खण्डघोष, बोंयाई, श्यामनगर, भारूचा, मण्डलजाना इत्यादि अनेकों गाँवों में जैन सम्प्रदाय के विभिन्न उत्सव अनुष्ठित होते हैं। ये स्थान प्रायः दामोदर के दोनों तटों पर अवस्थित हैं। जी° टी° रोड के पास ही वराकर नदी के तट पर आसनसोल महकमा के वेगुनिया में हैं चार प्राचीन सुदर्शन मन्दिर। ऐतिहासिक वेगलर के मत से इन मन्दिरों में कई-कई तो छठी शताब्दी के हो सकते हैं। अवश्य ही मन्दिर में स्थापित शिलालिपियों

को लेकर बहुत तर्क-वितर्क हुआ है । बहुत-सी पत्थर की मूर्त्तियाँ भी मिली हैं, यहाँ जो कि पुरूलिया के तेलकूपी के मन्दिरों की मूर्त्तियाँ से मिलती-जुलती हैं । पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वेगुनिया किसी समय जैन धर्म का अन्यतम केन्द्र था । किन्तु बाद में वहाँ की धर्मीय इमारतों और मूर्त्तियों को शैव और ब्राह्मण धर्म ने ग्रास कर लिया । लोकदृष्टि के अन्तराल में पड़ी हुई ये पुरावस्तुएँ शोध-खोज की अपेक्षा रखती हैं । विशेष रूप से नदी-गर्भ से प्राप्त यहाँ की प्रत्न-सामग्री के इतिहास का भी अनुसन्धान परम आवश्यक है । कितने विस्मय की बात है कि वर्द्धमान जिले के दुर्गापुर शिलांचल के आसपास के ग्रामों में जैन धर्म ने व्यापक रूप में अपना जो विस्तार किया था ऐतिहासिकों ने उसका कहीं उल्लेख ही नहीं किया । खृष्टपूर्व छठी शताब्दी में नालन्दा ग्राम के अधिवासी गोशाल मंखलीपुत्र एवं महावीर न केवल समसामयिक थे, उनमें घनिष्ठ सम्पर्क भी था । यह भी कहा गया है कि दोनों ने एक साथ छः वर्ष वज्रभूमि के अन्तर्गत पणिय भूमि में व्यतीत किए थे । राढ़ देश के नाना स्थानों में भ्रमण करते हुए महावीर को नाना प्रकार से लांछित किया गया । राढ़ के अरण्यमय अंचल के आदिम अधिवासियों ने उन पर पत्थर फेंके, कुत्तों को पीछे लगा दिया आदि । किन्तु इतनी ताड़ना, लांछना सहकर भी जैन धर्म के इस महासाधक ने बड़ी दुःसाहसिकता के साथ राढ़ के नाना स्थानों पर जैन धर्म का प्रचार किया । लगता है दामोदर के तीरवर्त्ती बाँकुड़ा और वर्द्धमान के विभिन्न इलाके एवं आज के दुर्गापुर इलाके के नाना स्थान उनके पुण्य पाद-स्पर्श से धन्य हुए हैं । राढ़ देश में जैन धर्म के विकास सम्बन्धी निष्ठापूर्ण शोधकार्य को ऐतिहासिकगण अज्ञात कारण से उपेक्षा करते आए हैं । मात्र दुर्गापुर के पार्श्ववर्त्ती कुछ ग्रामों की पुरावस्तु से ही इस प्रसंग की आलोचना की जा सकती है । दामोदर बाँध के पश्चिम तटवर्त्ती बाँकुड़ा जिले के बड़जोड़ा थाने का मेटेली ग्राम चर्मकार, शूंडि, धीवर, बागदी, बाउरी, एवं कुम्भकार जाति का निवास-स्थल एक प्राचीन गाँव है । गाँव के 'गडेर डांगा' में काले-पत्थर और बालु-पत्थर की अनेक मुर्त्तियाँ पायी गयी है। इनमें कई आज भी गाँव में है । गाँव के वृक्षतले शिवरूप में पूजित मूर्त्ति संग्रह के मध्य अन्यतम है ४" २४" ४" परिमाप की शीर्ष-देश भग्न काले पत्थर की एक तीर्थंकर मूर्त्ति । मूर्त्ति के नीचे हाथ में चँवर लेकर खड़े हैं दो पुरूष, चार योगी मूर्त्तियाँ और नीचे करबद्ध होकर खड़ी हैं दो नारियाँ एक ही पत्थर में खुदी हुई । १८" ८" ६" आकार का

एक दूसरा पत्थर है तीर्थंकर मूर्त्ति के पाददेश में । नीचे धावमान अश्व और सिंह, नारी तथा शिशु है । इसके अतिरिक्त है गोलाकार आसन सहित बालु-पत्थर का एक शिवलिंग जो कि बाद में संयोजित किया गया है ऐसा प्रतीत होता है । स्थानीय मण्डल परिवार द्वारा रक्षित खुदा हुआ प्रस्तर खण्ड और वाउरी पाड़े के बाँस-झाड़ के मध्य रखा विशालायतन प्रस्तर खण्ड किसी तीर्थंकर मूर्त्ति का पाद-पीठ हो सकता है । गाँव के वाथान पाड़ा इलाके में टीन से छाया कालाराज चाला-मन्दिर में है अनेक खुदे हुए पत्थरों के टुकडे, इनमें २" ७" १" परिमाप के एक प्रस्तर खण्ड में जैन तीर्थंकर की मूर्त्ति खुदी हुई दिखाई पडती है ।

दुर्गापुर हिन्दुस्तान फर्टिलाइजर कॉलोनी के उत्तर में आड़रागाँव के राय परिवार में धर्मराज रूप से जो भग्न प्रस्तर खण्ड तेल-सिंदूर से लिप्त होकर नित्य पूजा जाता है उनमें है जैन तीर्थंकरों का खुदा हुआ पाद-पीठ, जैन मूर्त्ति का भग्नावशेष, नाग-छत्रधारी मूर्त्तियाँ आदि । इस गाँव के राढेश्वर शिवालय के पार्श्ववर्त्त जंगल से भी अनेक भग्न जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं । इतना ही नहीं आड़रा और वालूनाड़ा गाँव के विभिन्न परिवारों में मैंने इतने खुदे हुए प्रस्तर खण्ड देखे हैं कि लगता है वे सब किसी जैन मन्दिर के ध्वंसावशेष हैं ।

वर्त्तमान डी. पी. एल. टाउनशीप के पार्श्ववर्त्ती वीरभानपुर गाँव के शंखेश्वरी तला में हैं अनेक जैन और अन्यान्य मूर्त्तियाँ । इसके अतिरिक्त अमरारगढ़ से प्राप्त मूर्त्तियाँ, पानागढ़ के निकटवर्त्ती भरतपुर में पायी गयी मूर्त्तियाँ, कुडुरिया और भिरिंगी में पायी हुई मूर्त्तियों के साथ जैन संस्कृति का कितना सम्बन्ध है यह देखना भी आवश्यक है । दुःख का विषय है दुर्गापुर इलाके की मूर्त्तियाँ बड़ी अवहेलित और अनालोचित है।

इस प्रसंग में धर्म विवर्तन की बात भी आ जाती है । राढ़ बंगाल के विभिन्न स्थानों में शिव या धर्मराज रूप में कई बौद्ध और जैन मूर्त्तियों को पूजे जाते देखा गया है । कहीं तो जैन तीर्थंकरों की भग्न मूर्त्ति ग्राम देवता के रूप में वृक्ष तले अधिष्ठित है । कुछ दृष्टान्त दे रहा हूँ । बाँकुड़ा जिले के तालडाँगरा थाने के देउलभिड़ा ग्राम की प्राक-द्वादस सदी में निर्मित देउल मन्दिर पहले जैन मन्दिर ही था । इसका मुख्य विग्रह (पार्श्वनाथ) वर्त्तमान में भारतीय म्यूजियम में सुरक्षित है । विष्णुपुर थाना के धरापाट गाँव के रक्त दालान मन्दिर में दिगम्बर पार्श्वनाथ मनसा रूप में पूजित हैं । मूर्त्ति

नागछत्र धारी है । इसके पीछे बाद में दो हाथ और खोद दिए गए हैं । इस गाँव का देउल मन्दिर नेंगटा ठाकुर (अर्थात् दिगम्बर पार्श्वनाथ) का मन्दिर नाम से परिचित है । ऊँदा थाने के बहुलाड़ा ग्राम का सिद्धेश्वर शिव का मन्दिर पहले जैन धर्म वालों का ही था इसके प्रमाण हैं । तालडाँगरा थाने के हाड़मासरा गाँव के परित्यक्त शिखर देउल के चारों ओर कभी जैन धर्म प्रतिष्ठित था इसके भी प्रमाण हैं । प्रसंगतः अमियकुमार वन्दोपाध्याय के कथनानुसार शिलावती के गतिपथ के थोड़ा उत्तर में आज का हाड़मासरा ग्राम कभी जैन धर्म का केन्द्र था । आलोच्य प्रत्नतात्विक वस्तुएँ उसका प्रमाण हैं । डिहर, सोनातपल एक्तेश्वर सर्वत्र एक ही बात लागू होती है । पुरूलिया जिले के वागमुण्डी थाना के देउली गाँव के जैन मन्दिरों में मूल मन्दिर के देवता तीर्थंकर शान्तिनाथ आज भी लोक देवता इर्गुनाथ नाम से पूजे जाते हैं । अनेक बाँझ नारियों को इनकी कृपा से सन्तान प्राप्ति हुई है । विग्रह के सम्मुख बकरे की बलि भी होती है । लौकिक देवों की पूजा की विचित्र रीति-नीतियों का भी यहाँ अनुसरण किया जाता है । आसनसोल महकमे के बराकर नदी तटवर्त्ती बेगुनिया का मन्दिर भी ऐसा ही है । वर्द्धमान जिले के मंगलकोट थाने के शंकरपुर गाँव के नेंगटेश्वर नाम से परिचित शिवमूर्त्ति का वर्णन इस प्रकार है — काले पत्थर से बनी साढ़े तीन फुट की मूर्त्ति के चारों ओर ६ साथियाँ के अवयव खुदे हैं । वे दिगम्बर हैं एवं लिंग दृश्यमान है । पादपीठ के पद्म पर एक मृगमूर्त्ति ध्यान देने योग्य है । इनके भी भक्तों की संख्या कम नहीं है । मृग तो शान्तिनाथ का प्रतीक है जैसा कि पुरूलिया के बागमुण्डी थाने के देउली ग्राम के शान्तिनाथ मन्दिर में देखा गया । फिर भी 'पश्चिम बंग के पूजा-पार्वन और मेला' ग्रन्थ के पंचम खण्ड के बत्तीसवें पृष्ठ में उल्लिखित शंकरपुर के नेंगटेश्वर को भोलानाथ परमेश्वर के रूप में ही घोषित किया गया । इसी प्रसंग में बताता हूँ जैन अभिधान कार हेमचन्द्र ने एक श्लोक में २४ तीर्थंकरों के जिन प्रतीकों का निर्देशन किया है वे क्रमशः है---वृष, हस्ती, अश्व, प्लवग या वनमानुष, क्रौंच, पद्म, स्वस्तिक, शशि, मकर, श्रीवत्स, गैंडा, महिष, शूकर, श्येन, बज्र, हरिण, बकरा, नन्दावर्त, घट, कच्छप, नीलोत्पल, शंख, सर्प, सिंह । अब पूर्व कथित शिव रूप में पूजित दोनों नग्न विग्रह १६ वें शान्तिनाथ तीर्थंकर (हरिण प्रतीक) हैं या नहीं देखना असम्भव नहीं है । पूरे बंगाल में जहाँ प्राचीन खुदे प्रस्तर-खण्ड, शिव या लोक-देवता के रूप में पूजित है उन्हें गहन रूप में पर्यवेक्षण

करते ही असली रहस्य प्रकाशित हो जाता है । अपने सूक्ष्म अनुसन्धान के आधार पर ही कहता हूँ दुर्गापूर के विभिन्न स्थानों में देव-देवी रूप में जो सब प्रस्तर खण्ड या मूर्त्तियाँ हैं उनमें अधिकांशतः या तो जैन तीर्थंकर मूर्त्तियों के भग्नांश हैं या वे जैन प्रभावयुक्त हैं । बाँकुड़ा के रानीबाँध थाना के अम्बिकानगर की अम्बिका देवी, राईपुर थाना के राईपुर की महामाया, खातड़ा थाना की केचन्दार अम्बिका देवी, शिमलापाल थाने की जोड़सा और गोतड़ा की अम्बिका देवी जैन धर्म से सम्बन्धित हैं । ये सब लौकिक देवी रूप में ही पूजी जाती हैं । छान्दाड़ के निकटवर्त्ती पांचाल ग्राम की वृहद् परशा पुष्करिणी के साथ पार्श्वनाथ का सम्बन्ध होना विचित्र नहीं है । श्रद्धेय माणिकलाल सिंह द्वारा संग्रहीत इन तथ्यों के अतिरिक्त चुपामनसा के कपिलेश्वर शिव का गाजन और स्थानीय मनसापूजा के समय तीर्थंकर मूर्त्ति खुदी एक जैन मन्दिर की प्रतिकृति की पूजा उल्लेखनीय है । यह घटना बड़जोड़ा थाना के मेटेली में भी देखी जाती है । पत्थर की इस क्षुद्राकार मन्दिर की प्रतिकृतियों में आदिनाथ, पार्श्वनाथ शान्तिनाथ और महावीर मूर्त्तियाँ खुदी हैं ऐसा समझा जाता है ।

आश्चर्य का विषय है कि इन सब पर किसी की भी दृष्टि विशेष रूप से नहीं पड़ी। मुझे तो यही ठीक लगता है कि दामोदर तटवर्ती आज के दुर्गापुर सन्निहित विस्तीर्ण अरण्यमय अंचल ही जैन ग्रन्थों में वर्णित राढ़ अंचल है जहाँ गोशालक मंखलीपुत्र और प्रेममय महावीर ने एक साथ रहकर छः वर्ष व्यतीत किए थे और स्थानीय अधिवासियों के कठोर यातना देने पर भी पवित्र जैन धर्म का वहाँ प्रचार किया था। हो सकता है आर्य पूर्व संस्कृति के म्लेच्छ और दस्युओं में अनेकों ने एक समय जैन धर्म का आनुगत्य स्वीकार किया हो । अतः कहा जा सकता है यही वह 'पणिय भूमि' है। अजय नदी के तट पर 'पाण्डुराजा की ढिवी' व दामोदर के तट पर 'भरतपुर' के उत्खनन से प्राप्त पुरातत्व वस्तुओं के सृष्टा १५०० से ५०० खृीष्ट पूर्व काल के राढवासियों के सम्मुखीन हुए हों महावीर ?

प्रश्न हो सकता है जैन धर्म ने इस प्रकार अन्य धर्म के साथ (मूलतः ब्राह्मण) हाथ क्यों मिलाया? लगता हैं यह कोई धर्म समन्वय कार्य नहीं है । यह है एक प्रकार की धर्म प्रतियोगिता का फल । जैन मन्दिर व विग्रह को हिन्दू मन्दिर व विग्रह कहकर बताना कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं है । द्वादस शतक या मान सकते हैं पाल काल में बौद्ध धर्म का अभ्युत्थान और

सेन राज्य में ब्राह्मण धर्म के पुनर्जागरण के फलस्वरूप कभी व्यापक रूप से प्रचलित जैन धर्म सीमित क्षेत्र में आबद्ध होकर सराक सम्प्रदाय के मध्य ही रह गया। जैन धर्म विरोधी प्रवाह में अरण्यमय राढ़ बंग की जैन मूर्त्तियाँ और मन्दिरों न क्रमशः नवधर्म प्रेमी मनुष्यों की निर्मम छेनी और हथौड़ी के आघात से हिन्दू संस्कृति के रूप को प्राप्त किया। फलतः विभिन्न लौकिक देवताओं के मध्य जैन धर्म ने आत्म-गोपन किया। मनसा या भैरव की बात ही से अथवा शिव तो हैं ही। समस्त दुर्गापुर अंचल में एक सी ही घटनाएँ घटित हुई हैं। किन्तु हाँ, शोध का बहुत समय तो निकल गया।

ग्रन्थ ऋण :

नीहार रंजन राय, 'बांगालीर इतिहास' आदि पर्व, १३८२।

अमियकुमार बन्ध्योपाध्याय, 'बाँकुडा जेलार पुराकीर्त्ति', १६७१।

बिनय घोष, 'पश्चिम बंगेर संस्कृति', विभिन्न खण्ड, १६८०।

तारापद साँतरा सम्पादित 'कौशिकी' मासिक पत्र की विभिन्न संख्याएँ।

अशोक मित्र सम्पादित 'पश्चिम बंगेर पूजा पार्वन ओ मेला', ५म् खण्ड।

प्रवोध चट्टोपाध्याय, 'दुर्गापुरेर इतिहास', १६८४।

डा° त्रिपुरा बसु की अप्रकाशित गवेषणा निबन्ध 'हारानो इतिहासेर वृत्ते आजकेर दुर्गापुर'।

गणेश ललवानी सम्पादित 'श्रमण' पत्रिका के १३८६ बंगाब्द की विभिन्न अंकों में प्रकाशित अमुल्यचरण विद्याभूषण, युधिष्टिर माजी और डा° रवीन्द्रनाथ सामन्त के प्रबन्ध।

माणिक लाल सिंह, 'पश्चिम राढ़ तथा बाँकुड़ा संस्कृति', १३८४।

१. बौद्ध ग्रन्थ दिव्यवदान अनुसार पुण्ड्रवर्धन में १८,००० निग्रन्थों की हत्या का उल्लेख हैं।

* नाम की यह तालिका वर्तमान अवसर्पिणी के तीर्थंकरों के नाम की तालिका नहीं है, पूर्ववर्ती उत्सर्पिणी के तीर्थंकरों के नाम की तालिका है। जैनों की धारणा है कालचक्र में प्रति उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के तृतीय एवं चतुर्थ आरे में चौबीस तीर्थंकर जन्म ग्रहण करते हैं। परवर्ती उत्सर्पिणी के चौबीस तीर्थंकरों के नाम की तालिका भी जैन साहित्य में पायी जाती है। अतः वर्तमान अवसर्पिणी के तीर्थंकरों के नाम तालिका परिवर्तित हो गयी है। लेखक ने जो लिखा है वह भ्रम प्रसूत है। — सम्पादक

बंगाल के जैन पुरातत्व की शोध में पाँच दिन

श्री भंवरलाल नाहटा

बीसों वर्षों से श्री ताजमलजी बोथरों के साथ बंगाल के सराक क्षेत्रों में पुरातत्व शोध के हेतु भ्रमण करने का विचार चल रहा था, परन्तु काल-परिपाक के विना संभव न हो सका । अभी जब समय आया तो न जेठ महीने की कड़ी धूप की और न साधन सामग्री की ही अपेक्षा की गई और निकल पड़े एक सीमित समय और क्षेत्र की परिधि में भ्रमणार्थ । हमारे साथ थे अंग्रेजी 'जैन जर्नल' बंगला 'श्रमण' के सम्पादक श्री गणेश जी ललवानी । हम सर्वप्रथम ता॰ २३ मई की रात्रि में रवाना होकर ता॰ २४ के ऊषाकाल में विष्णुपुर पहुँचे । गाड़ियों के लेट चलने से हमें काली रात्रि नहीं ऊषाकालीन प्रकाश अनायास ही उपलब्ध हो गया । हम लोग रिक्शों द्वारा सीधे श्री रामपद मण्डल नामक सराक भाई के यहाँ पहुँचे । शौच स्नानादि से निवृत होकर रिक्शों पर हम लोग द्वारकेश्वर नदी के लम्बे कछार को पार कर धरापात नामक स्थान में पहुंचे । मार्ग में कई शिवालयादि देव मन्दिरों का समूह दृग्गोचर हुआ जो केवल एक गर्भगृह -शिखरी थे और उनके प्रवेश द्वार की चौड़ाई अत्यन्त संकरी रखने की प्रथा देखने में आई । धरापात में हमें जो मन्दिर देखना अभीष्ट था, देव प्रतिमा से विहीन और एक ब्राह्मण ठाकुर (पुजारी) का आश्रय-स्थान-सा हो रहा था । प्रस्तुत मन्दिर के बाह्य भाग में तीनों ओर ताकों में विशाल प्रतिमाये विराजित थीं जिनमें पृष्ठ भाग वाली में भगवान ऋषभदेव-आदिनाथ, वामपक्ष से प्रदक्षिणा करते प्रथम शन्तिनाथ भगवान और अन्त में तीसरे आले में जेनेतर प्रतिमा लगी हुई थीं । ये दोनों जिन प्रतिमायें लगभग हजार-बारह सौ वर्षों जितनी प्राचीन अवश्य ही थीं । इन मन्दिर के ठीक पीछे सडक के पास एक और मन्दिर था जिसमें भगवान पार्श्वनाथ की एक सप्तफण मण्डित खड्गासन प्रतिमा विद्यमान थी । इन क्षेत्रों में जहाँ भी जिन प्रतिमाये हैं, उन्हें कही नेंगटेश्वर शिव, कहीं भैरव और कहीं अन्यान्य नामों से पुकारते हैं । इन सभी प्रतिमाओं में मूलनायक तीर्थंकर में मूलनायक तीर्थंकर लांछन एवं परिकर में अन्य प्रतिमाएँ उत्कीर्णित हैं । पहले की दोनों प्रतिमाओं के परिकर में चौबीस तीर्थंकर उभयपक्ष में

अवस्थित है जबकि भगवान पार्श्वनाथ के परिकर में बाद में महाप्रातिहार्यों के अतिरिक्त विष्णु प्रतिमा निर्माणार्थ दो हाथ और खोद कर बना दिये हैं।

धरापात से लौटकर हम लोग विष्णुपुर आये और भोजनोपरान्त बस द्वारा औंधा पहुंचे । वहाँ उतरने के लिए पूछने पर नाम साम्य से भ्रान्त सहयात्रियों के कहने पर हम कई मील आगे चले गये, जहाँ से एक दूसरे गाँव 'बेलारा' जाने का मार्ग था । रेलवे क्रॉसिंग पर प्रतिक्षा करते दूसरी गाड़ी के आने पर हमलोग वापस औंधा आए। वहाँ हमें दो रिक्शे मिले जिन्हें मुँहमाँगे चौदह रूपयों में भाड़ा करके हमलोग बहुलारा गाँव की ओर बढ़े व वृक्षों के झुरमुट वाले गाँव के बाहर एक बहुत ही ऊँचे शिखर वाले कलापूर्ण मन्दिर के विशाल अहाते में पहुँचे । यहाँ का शिल्प प्रशंसनीय है और स्थापत्य शैली को देखकर भुवनेश्वर आदि उत्कल प्रान्तीय मन्दिरों की स्मृति ताजी हो जाती है । इसके आस-पास कभी छोटे-छोटे दूसरे मन्दिर भी थे जो अब ध्वंस्त हो चुके हैं । नीचे की तरफ कुछ चौरस और गोल चौकियाँ वनी हुई हैं जो किन्हीं ध्वंस्त स्तूपों के प्रतीक हों ऐसा अनुमान किया जा सकता है । इस मन्दिर मे चतुर्दिक शिल्पाकृतियां उत्कीर्णित हैं । मन्दिर के मध्य में शिव मूर्त्ति है । सामने वेदी पर तीन प्रतिमायें हैं । मध्यवर्त्ती प्रतिमा भगवान पार्श्वनाथ की है जिसे वहाँ वालों ने 'अनन्तदेव' की प्रतिमा बतलायी। मालूम होता है कि कभी वहाँ अनन्तदेव गोत्रिय सराकों की बस्ती रही होगी । यह पार्श्वनाथ प्रतिमा अष्ट महाप्रातिहार्य और धरणेन्द्र पद्मावती युक्त है । ऊपर सप्तफण और पृष्ठ भाग में भी सर्पाकृति है । परिकर में उभयपक्ष में अष्टग्रह की प्रतिमायें स्पष्ट निर्मित हैं । बंगाल और बिहार की सहस्राब्दि पूर्ववर्ती मूर्तिकला में नव ग्रहों के आकार स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । राजगृह वैभारगिरि के खण्डहर स्थित प्रतिमा के परिकर में ऐसी ही नवग्रह प्रतिमायें हैं जिनकी वेशभूषा हमें कुषाणकालीन समय तक ले जाकर खड़ा कर देती हैं, जबकि परवर्त्ती काल में पश्चिम भारत में वे केवल सूक्ष्म चिह्न मात्र पंचतीर्थियों में अवशिष्ट रह गये थे । भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा के निम्न भाग में धरणेन्द्र पद्मावती है और मूर्त्ति-निर्मापक दम्पति-युगल की चैत्यवन्दना करती हुई प्रतिमायें प्रायः सभी तीर्थंकर प्रतिमाओं में उपलब्ध हैं । यह मन्दिर पुरातत्व विभाग के अधीन है ।

बहुलारा से वापस आते औंधा होकर विष्णुपुर पहुँचते-पहुँचते भगवान

अंशुमाली अस्ताचल पर जा खड़े हुए । हमने रात्रि में रामपद मण्डल के घर में विश्राम कियां और प्रातःकाल विष्णुपुर के ऐतिहासिक स्थानों की शोभा देखने के लिये निकल पड़े ।

विष्णुपुर इस समय बाँकुड़ा जिले में है । मध्यकाल में यह स्थान मल्लभूमि की राजधानी थी और आज भी दुकानों के साइनबोर्डो में अनेकशः यह नाम देखा जाता है । हम सर्वप्रथम पुरातत्व विभाग के अधीन 'रासमंच' नामक स्थान में गये । कहा जाता है कि रास के विशेष अवसर पर समस्त मन्दिरों के विग्रह यहाँ लाये जाते थे, परन्तु इस 'रासमंच' स्थान की निर्माण शैली ऐसी विचित्र है कि इतने विशाल पिरामिड आकृति वाले इस स्थान में स्तम्भ वाहुल्य तीन जगती के अन्तराल में सर्वत्र दर्शन दुर्लभ होते हैं । इसका सन् १५८७ ई० के आस-पास वीर हम्मीर नामक मल्ल राजा ने निर्माण करवाया था । इस मन्दिर के सामने एक अहाते में दल-मादल नामक विशालकाय अद्‌भुत तोप रखी है जो सन् १७४२ की बनी हुई है । इस कमान का वजन ३०० मन है और यह साढ़े बारह फुट लम्बी है । इसका मुहाना १ फुट का है और बनाने में एक लाख रूपये लगे थे । सन् १७४२ में जब मल्ल राज्य पर मराठों ने आक्रमण किया तव यही तोप उनकी रक्षा में काम आती थी।

विष्णुपुर के अनेक मन्दिर वड़े ही सुन्दर शिल्पाकृति वाले बंगाल की अद्‌भुत कला-शैली से युक्त हैं । जिस प्रकार आवू के जैन मन्दिरों में प्रस्तर भास्कर्य अपनी सूक्ष्मता की पराकाष्टा के प्रवल प्रतीक हैं उसी प्रकार यहाँ के मन्दिर अपने टाली भास्कर्य निर्माण के लिये वेजोड़ और अद्‌भुत है । राधा-माधव का मन्दिर सन् १७२७ में राजा कृष्णसिंह की पत्नी रानी चुड़ामणि देवी ने बनवाया था । यहाँ से लाल बाँध नामक विशाल जलाशय को देखने गये । इसके पास सर्वमङ्गला देवी का मन्दिर है । जब स्वामी रामकृष्ण परमहंस यहाँ दर्शन करने आये, तव उन्हें भाव समाधि हो गई थी । लाल वांध से आते समय एक टेकरी पर 'गुमगढ़' नामक स्थान दृष्टिगोचर हुआ जो गवाक्ष-द्वारादि से विहीन विचित्रता युक्त था । कहा जाता है कि मल्ल राजा लोग लूट का माल इसी स्थान में सुरक्षित रखते थे ।

श्यामराय का मन्दिर सन् १६४३ ई० में रघुनाथ सिंह ने निर्माण कराया था । आश्चर्य तो यह है कि इतने विशाल मन्दिर में कहीं इँच भर भी जगह शिल्पाकृति से रिक्त नही छोड़ा । जोड़ा शिव मन्दिर–कृष्ण वलराम मन्दिर

रघुनाथ सिंह द्वितीय द्वारा स्थापित है। जोड़ बंगला मन्दिर भी प्रशस्त कोरणी युक्त है। इसकी छत का निर्माण दो संलग्न दुचालों वाले बंगले की भाँति है। राधा-श्याम मन्दिर सन् १६५८ में राजा चैतन्य सिंह द्वारा प्रतिष्ठापित है। विभिन्न पौराणिक और अवतार चरित्रादि की शिल्प समृद्धि अत्यन्त प्रेक्षणीय है। सन् १६५८ में लाल जी मन्दिर की प्रतिष्ठा राजा श्री वीरसिंह ने करवाई थी।

सतरहवीं शती के उत्तरार्द्ध में राजा वीरसिंह ने पत्थरों द्वारा प्रवेशद्वार का निर्माण करवाया, दुर्ग-प्रवेश के लिये पूर्वकाल में यही एक प्रवेश द्वार था। आगे चलने पर एक प्रस्तरमय तिमंजिला रथ आता है। प्रस्तरमय रथ की प्रथा बंगाल, बिहार, उड़ीसा के अतिरिक्त सुदूर मैसूर राज्य के हम्पी तक में पाई जाती है। हम्पी का रथ वड़ा ही सुन्दर है और इसी प्रकार कोणार्क का भी। रथयात्रा की प्रथा एक ऐसी प्राचीन प्रथा है जिसमें लोगों को घर वैठे भगवान के दर्शन हो जाते थे। वसुदेव हिण्डी नामक प्राचीन महत्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में इसे अति प्राचीन काल से चली आयी परम्परा बतलाया गया है।

मदनमोहन मन्दिर की प्रतिष्ठा सन् १६९८ में राजा दुर्जनसिंह ने करवाई थी। यह भी बंगाल की तत्कालीन टाली की कोरणी (Terracota) का सुन्दर नमूना है। मल्लेश्वर शिव मन्दिर का निर्माण भी सन् १६२२ में वीर हम्मीरसिंह ने करवाया था।

विष्णुपुर में शंख-शिल्पियों का काम भी खूब जोरों पर है। सैंकडों घर इसी व्यापार-उद्योग से अपने परिवार का पालन करते हैं। शंख को प्रस्तर-शिलाओं पर घिस कर अर्द्ध-चन्द्रकार क्रकच (करोत) से अंगूठी, सांखा, चूड़ी आदि विविध प्रकार की वस्तुएँ तैयार करते हैं। शंख का करोत विरहिणी के विरह की भाँति जाते-आते दोनों तरफ काटता ही रहता है। विष्णुपुर के ताँती लोग वस्त्र बुनते हैं। ठठेरे-कसेरे वर्तन वनाते हैं। यहाँ सराक बन्धुओं के लगभग ३० घर होंगे। सराकों के घरों में खड्डियाँ लगी हैं और वे सूत-वस्त्रादि का व्यवसाय करते हैं।

विष्णुपुर से ता० २५ शुक्रवार को हम लोग बस द्वारा बाँकुड़ा आये। जिले का मुख्य नगर होने से बाँकुड़ा एक बहुत बड़ा नगर हैं। सुख-सुविधापूर्ण मारवाड़ी धर्मशाला, नूतनगंज में ठहरे और बीकानेर के ही एक अनुभवी सहृदयी व्यासजी के सुप्रवन्ध में दो दिन रहे। भोजनोपरांत जीप लेकर वहाँ

से हम हाड़मासरा गये । वहाँ गाँव के अन्त में एक पत्थर का शिखरयुक्त छोटा मन्दिर देखा जिसमें वल्मीक के ढ़ेर के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था । इनके पीछे जंगल में एक पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा खड़ी थी, जिस पर ग्राम्य-जन कभी-कभार सिन्दूर आदि की टीकी लगा देते होंगे । पर आश्चर्य है कि एक दुकानदार ने हमें जैन मन्दिर बतलाते हुए इस स्थान पर पहुँचा दिया । वहुलारा वाली प्रतिमा की भाँति इस प्रतिमा के परिकर में अष्टग्रह, महाप्रातिहार्य, धरणेन्द्र-पद्मावती और बिम्ब निर्माता युगल की सुरूचिपूर्ण कलाभिव्यक्ति प्रेक्षणीय थी। हाड़मासरा से हम लोग जीप में तत्काल लौट आये ।

दूसरे दिन ता॰ २६ को प्रातः काल हम रिक्शा द्वारा बाँकुड़ा धर्मशाला से 'इकतेश्वर' महादेव गये । वहाँ इसकी वड़ी ख्याति है । मन्दिर के बाहर नारियल, प्रसाद, मिष्ठान्न की दुकानें हैं और पण्डे लोग खड़े रहते हैं । मन्दिर में कुछ सीढ़ियाँ उतरने पर तल घर में जमींन पर रहे हुए एक स्वाभाविक त्रिकोण से लम्बे पाषाण-खंड के दर्शन हुए । कहा जाता है कि यहाँ भगवान शंकर का यही रूप है । इस चमत्कारी स्थान पर भक्त लोग 'धरणा' देकर सो जाते है और अपने कार्यसिद्धि का वरदान पाकर ही लौटते हैं, ऐसा भी कहा जाता है ।

बाँकुड़ा से बस द्वारा हम गौराबाड़ी गये । वहाँ से कंसावती नदी के तट पर बंधे हुए बांध के पास पारसनाथ नामक गाँव था । गाँव के स्थान पर सरकार की ओर से बांध का काम चालू था, इसीलिए गाँव वालों के कथनानुसार हमें आशा थी कि वहाँ जाने के लिये सरकारी ट्रकों द्वारा जाने-आने की सुविधा मिल जायेगी पर जव हम गौराबाड़ी की कालोनी में उतरे, सभी आफिस शायद शनिवार या अन्य किसी कारण से बँन्द थे । हमें एक विद्यार्थी और एक महिला का अच्छा साथ मिल गया जो अपने-अपने गाँव जा रहे थे । हम पैदल ही उनके साथ चल पडे । मध्याह्न का समय था । विद्यार्थी ने हमें तीन चार मील साथ चलकर जहाँ बाँध का सरकारी आफिस था, पहुँचा दिया और उसने अपने गाँव का मार्ग पकड़ा ।

बाँध के पास पहाड़ी टीले पर सरकारी आफिस था । पारसनाथ गाँव का तो नाम शेष हो गया पर वहाँ आफिस के पृष्ठ भाग में हमने एक शिव मूर्त्ति, नन्दी और कुछ प्रस्तर खण्ड देखे । इसी पहाड़ी पर भगवान पार्श्वनाथ

की एक विशाल प्रतिमा के बारे में जो दो टुकडों में विभक्त थी, वहाँ वालों ने हमें बतलाया । यह प्रतिमा परिकर में चौबीसी प्रतिमायें, बिम्ब निर्माता युगल और धरणेन्द्र-पद्मावती युक्त थी । सिंहासन में सिंह और हंस के आकार भी परिलक्षित थे । वहाँ के आफिसरों के साथ उस प्रतिमा के फोटो लिये और एक मार्ग बताने वाले मजदूर को साथ लेकर हमने अम्बिका नगर का मार्ग पकड़ा । जाते समय तो कड़कड़ाती धूप में कहीं-कहीं ही क्षणिक वादलों की छाया मिल पाती थी किन्तु लौटते समय सारा आकाश मेघाच्छन्न हो गया और जोरों से तूफान चलने लगा । हम तूफान की शीतल हवा का आनन्द लेते हुए शीघ्र गति से चलते रहे पर जब वर्षा प्रारम्भ हुई तो हमें सड़क के पास ही एक ग्राम्य स्कूल का बरामदे वाला खाली कमरा मिल गया, जिसमें हमने तत्काल आश्रय ग्रहण कर लिया । पाँच दस बटोही और भी आकर बैठ गये । यह तो संतोष की बात थी । यदि जंगल में यह स्थान न मिलता तो बड़ी दुर्दशा होती, अस्तु । जब वर्षा तूफान बन्ध होकर आसमान साफ हो गया तो हम लोग कंसावती और कुमारी नदी के संगम पर बसे अम्बिकानगर में नदी को पार कर जा पहुँचे ।

अम्बिकानगर, अम्बिका देवी के मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है । मन्दिर के पुजारी महोदय को हमने बुलवा कर मन्दिर खुलवाया । इसके शिलालेख से विदित हुआ कि इस मन्दिर का जीर्णोद्धार सन् १३२० में ता॰ १६ फाल्गुण को राजा राइचरण धवल ने रानी लक्ष्मीप्रिया देवी की स्मृति में कराया था । वस्त्र परिधान युक्त देवी के स्वरूप प्रतिमा लक्षणादि का हम ठीक-ठीक आंकलन न कर सके पर यह खड़ी हुई मूर्त्ति है और जैन शासनदेवी अम्बिका मूर्त्ति से अभिन्न कदाचित् भिन्न शैली की परिलक्षित हुई ।

अम्बिकानगर में अम्बिका मन्दिर के पृष्ठ भाग में एक जैन मन्दिर अवस्थित है, जिसमें थोड़ा अन्धेरा पड़ता था पर उसमें प्रतिष्ठित-अवस्थित भगवान आदिनाथ-ऋषभदेव स्वामी की सपरिकर प्रतिमा अत्यन्त सुन्दर है । प्रभु के पृष्ठ भाग में तोरण हैं जो समवसरण के तोरण का प्रतीक है और प्रभामण्डल भी कलापूर्ण है । भगवान के मस्तक पर जटा केशविन्यास अत्यन्त सुन्दर है । सिंहासन के नीचे वृषभ लांछन स्पष्ट है । प्रभु प्रतिमा प्रायः करके अखण्ड और अत्यन्त मनोज्ञ है । अम्बिका मन्दिर के दाहिनी ओर चौकी पर कुछ शिल्पाकृति-गोवर्द्धन और कुछ लिपि वाला प्रस्तर भी पड़ा था । हमें जल्दी

लौटना था अतः अम्बिकानगर के मिष्ठान्न भण्डार से कुछ मिष्ठान्न और जल लेकर हम नदी पार होकर बाँकुड़ा जाने वाली बस में आकर बैठ गये। यथासमय बाँकुड़ा पहुँचकर धर्मशाला में निवास किया।

बाँकुड़ा की धर्मशाला बड़ी विशाल है। रहने की सब प्रकार की सुविधाएँ है। सोने के लिये खटिया उपलब्ध हो जाती है, जिसकी आमदनी से पारावत-कबूतरें दाना चुगते हुये निर्माताओं, अनुमोदकों, व्यवस्थापकों की पुण्य वृद्धि करते हैं। धर्मशाला की दीवारों पर सैकडों सुभाषित और शिक्षाप्रद दोहे श्लोक लिखे हुये हैं जो बड़ी प्रेरणादायक सुरूचिपूर्ण पद्धति में है।

बाँकुड़ा से दूसरे दिन प्रातःकाल रवाना होकर हम रेल द्वारा इन्द्रबीला पहुँचे और स्टेशन से अनतिदूर स्थित महाल कोक नामक गाँव में गये। यहाँ हमारे पूर्व परिचित जयहरि श्रावक का निवास स्थान है। ये सराक भाई सुसंस्कृत और जैन शिक्षा-दीक्षा से सुपरिचित होने के साथ-साथ राजस्थान, बंगाल, बिहार, महाराष्ट्र, गुजरात और उत्तरप्रदेशादि के सभी जैन तीर्थों में घूमे हुए हैं और जैन धर्म के प्रचार कार्य व साधुजन सेवा में ही इनकी रूचि रही है। कई वर्ष पूर्व जब यहाँ से निकटवर्ती तालाजुड़ी गाँव में भगवान आदिनाथ स्वामी की पद्मासनस्थ प्रतिमा तालाब के पाल पर प्रगट हुई थी, उस समय में श्री ताजमल जी साहब बोथरा के लघु भ्राता श्री हनुमानमल जी बोथरा के साथ यहाँ आया था और इन्हीं के यहाँ प्रेमपूर्ण वातावरण में ठहरकर तालाजुड़ी जाकर प्रभु दर्शन किये। अब यह प्रतिमा श्री ताजमल जी बोथरा एवं अत्रस्थ सराक बन्धु के प्रयत्न से कलकत्ता आ गई है और बड़े मन्दिर में विराजमान है। महाल कोक में कुल ३० घरों की छोटी-सी साफ-सुथरी बस्ती है जिसमें १२ घर सराकों के हैं। यहाँ एवं इधर के कई गाँवों में हिन्दूओं के घरों की दीवार पर चारों ओर एक काली-सी धारी-पट्टी दृष्टिगोचर होती है जो रोहण-मनसा पूजा का प्रतीक बतलाया जाता है। सराक लोग जैन धर्माचार विस्मृत होकर बंगाल के देवी पूजा आदि को मान्य करने लगे हैं पर शताब्दियाँ बीत गई, जैन सम्पर्क छूट गया फिर भी खान-पान में शब्द निरामिष भोजी संस्कार आज भी विद्यमान है।

हमारा उद्देश्य था कि भाई जयहरि को साथ लेकर पाकविड़रा आदि उधर के प्राचीन जैन खण्डहरादि स्थानों में घूम कर जैन-अवशेषोंका अध्ययन करें पर वे स्वयं उस तरफ गए हुए नहीं थे, अतः उन्हें कष्ट न देना उचित समझ हम उनके यहाँ एक दिन और एक रात्रि का आतिथ्य ग्रहण कर रेल

ऋषभनाथ मानभूम

महावीर पाकविरा

शान्तिनाथ, पुरुलिया 11वीं शताब्दी

देउलविघा, बाँकुरा

द्वारा आद्रा आये । रेल लेट होने से पूंचा जाने वाली बस निकल चुकी थी अतः तीन घन्टों की प्रतिक्षा कर दूसरी बस में बारह बजे 'पूंचा' गाँव आये। यहाँ से दो-ढाई मील दूर पाकविड़रा है । हमें तो वहाँ जाकर तत्काल लौटना था, क्योंकि ढाई बजे की बस निकल जाने से हमें फिर एक अहोरात्र वहीं रहना पड़ता । अतः अपना सामान वहीं सुनील ठाकुर नामक सज्जन की दुकान में रख कर शीघ्र गति से पाकविड़रा पहुँचे । उस दिन वहाँ मेला होने से ग्राम्य-जन सैकड़ों की संख्या में एकत्र थे । मदोन्मत स्त्री-पुरूषों के समूह अपने गले में ढोल-ढक्कादि वादित्र बजाते हुए नाच रहे थे । वे लोग जिनेश्वर भगवान की प्रतिमाओं को भैरव मानकर पूजते थे । पाकविड़रा की सभी प्रतिमायें और भग्नावशेष एक ही अहाते में रखे हुए थे, जिसमें प्रविष्ट होने पर आसानी से दर्शन किया जा सकता था । इसमें अवस्थित सभी जिन प्रतिमायें अव्यवस्थित ढङ्ग से पड़ी थी । ७ फुट ऊँची खड्गासन स्थित श्री पद्मप्रभु स्वामी की प्रतिमा—जिसका परिकर नहीं था, केवल उभयपक्ष में चामरधारी इन्द्र अवशिष्ट थे, प्रभु लांछन भी पूजन-सामग्री से ढक जाने से दृष्टिपथ लुप्त था—के दर्शन किये जो ग्राम्य-जनों के पूजनकेन्द्र थे ।

पाकविड़रा के इस स्थान में तीन चार मन्दिर आज भी खड़े हैं पर वे खाली पड़े हैं और अखण्डित-खण्डित सभी अवशेष इसी अहाते में लाकर रख दिये गये हैं । यहाँ कतिपय विभिन्न शैली और विधाओं की प्रतिमायें दृष्टिगोचर हुई । भगवान आदिदेव, ऋषभ प्रभु की पाँच प्रतिमायें हैं जिनमें दो चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमा परिकर युक्त हैं । एक पंचतीर्थी परिकर युक्त और दो खण्डित हैं । जिसमें से एक के तो दो खण्ड हुए पड़े हैं । भगवान महावीर की दो प्रतिमायें हैं जिनमें एक पंचतीर्थी परिकर, तोरण, भामण्डलादि प्रातिहार्य युक्त है । यहाँ की प्रतिमाओं के तोरण ऊपरि भाग में न होकर प्रभु के पृष्ठ भाग में सांची तोरण की भाँति हैं । अम्बिका नगर की ऋषभदेव प्रतिमा का तोरण इसी प्रकार का है । दूसरी प्रतिमा के परिकर में अष्टग्रह प्रतिमायें विद्यमान हैं । अम्बिका देवी की एक खड़ी हुई प्रतिमा है एवं तीन प्रतिमाएँ वृक्ष युक्त हैं । जिनमें एक में ऊपरि भाग में जिन प्रतिमा, वृक्ष के नीचे यक्ष-यक्षिणी और निम्न भाग में सप्त ग्रह मूर्त्तियाँ हैं । दूसरी प्रतिमा के निम्न भाग में सिंहासन के नीचे दो कलश बने हुए हैं । जिनकी रचना शैली बंगाल के कलशों से अभिन्न है । तीसरी प्रतिमा भी वृक्ष तल में यक्ष-यक्षिणी वाली

है । एक शांतिनाथ स्वामी की खण्डित प्रतिमा है जिसमें प्रभु का लांछन हरिण स्पष्ट परिलक्षित है । एक तीर्थंकर प्रतिमा और एक चतुर्विंशति तीर्थंकर प्रतिमा है । एक चौमुख मन्दिर सर्वतोभद्र और एक चतुर्मुख स्तूप भी इन प्रतिमाओं के मध्य में विद्यमान हैं ।

यहाँ मैंने जिन यक्ष-यक्षिणी प्रतिमाओं का उल्लेख किया है वस्तुतः यह निर्णय नहीं, कई विद्वानों ने इन्हें भगवान के माता-पिता और कइयों ने यक्ष-यक्षिणी माना है पर मेरे विचार में यह विधा अभी विचारणीय है अतः स्त्री-पुरूष जोड़ी कह सकते हैं। माता-पिता की प्रतिमा वृक्ष के नीचे हो और वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा हो । यह वात तर्कसङ्गत नहीं लगती । भगवान की माताओं की मूर्त्तियाँ 'चतुर्विंशति जिन मातृ पट्टक' बोकानेर, जैसलमेर आदि अनेक स्थानों में विद्यमान हैं पर उनमें माता की गोद में बालक भगवान को दिखाया गया है । लगभग ३१ वर्ष पूर्व क्षत्रियकुण्ड लछुवाड़ की धर्मशाला में मैंने एक काली पाषाण की लेख सहित पन्द्रह सौ वर्ष से भी प्राचीन प्रतिमा त्रिशला माता और गोद में भगवान महावीर की देखी थी जो कुछ दिन वाद ही वहाँ से गायव हो गई । शिल्प शास्त्र और मूर्त्ति विज्ञान के विद्वान इस पर विशेष प्रकाश डाले । जंवू वृक्ष, शाल्मलि वृक्ष आदि पर शाश्वत जिन बिम्बों का उल्लेख है, जिनके भी शास्त्रों में वर्णन मिलते हैं । हमारे संग्रह में एक-दो सौ वर्ष प्राचीन सुन्दर चित्र में वृक्ष पर अर्हन्त प्रतिमा और सामने चतुर्विध संघ, पूजोपकरण लिये भक्तादि दिखाये हैं, पर वह भाव भी किस हेतु का हैं, विचारणीय है ।

वस्तुतः बंगाल का प्राचीन धर्म ही जैन धर्म था । बंगाल में यत्र-तत्र-सर्वत्र जैन अवशेष ही पाये जाते हैं । हमें इन स्थानों में कहीं भी बौद्ध प्रतिमाये दृष्टिगोचर नहीं हुई । इन विभिन्न शैली और कलात्मक प्रतिमाओं का अध्ययन समय सापेक्ष है । हम तो वहाँ केवल पन्द्रह मिनट ही एक सके थे । जिन प्रतिमा निर्माण शैली का प्रवाह सर्वत्र व्याप्त था । ऐसी प्रतिमाये बिहार में भी देखने में आई है ।

पाकविड़रा से हम दो बजे पूंचा पहुँच गये और बस में बैठकर सीधे पुरूलिया स्टेशन आ पहुँचे । यद्यपि श्री ताजमल जी साहब और भी स्थानों में चलना चाहते थे और तीर्थाधिराज श्री सम्मेद शिखर जी की यात्रा करने की प्रबल भावना भी थी पर मौसम और मार्ग-प्रतिकूलता ने हमें कलकत्ता लौटने को बाध्य कर दिया ।

उड़ीसा में जैन धर्म

उड़ीसा के साथ जैन धर्म का सम्पर्क कितने दिनों का है ? इस प्रश्न का उत्तर होगा तेहसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के समय से । किन्तु यदि प्राचीन किम्बदन्तियों पर विश्वास किया जाए तो कहना होगा यह सम्पर्क अठारवें तीर्थंकर अरनाथ के समय से है । कारण त्रिषष्टि-शलाका पुरूष चरित्र में कहा गया है दीक्षा लेने के बाद उन्होंने प्रथम भिक्षा राजपुर में ग्रहण की । महाभारत में राजपुर को कलिंग की राजधानी कहा गया है । जो भी हो पार्श्वनाथ के साथ तो कलिंग का घनिष्ठ सम्बन्ध था ही यह तो बहुत से जैन ग्रन्थ में उल्लिखित है । क्षेत्र समास के अनुसार भगवान पार्श्वनाथ धर्म प्रचार के लिए बंगलादेश के ताम्रलिप्त से होकर उड़ीसा के कोपकटक में गए थे। कोपकटक में धन्य नामक एक गृहस्थ के घर में रहे । प्राच्य-विद्या-महार्णव नगेन्द्रनाथ बसु कहते हैं यह कोपकटक बालेश्वर जिला का आधुनिक कुपारी ग्राम है । ईसा की अष्टम शताब्दी के एक ताम्रफलक से ज्ञात होता है उस समय भी कुपारी कोपारक नाम से परिचित था । भवदेव सूरि के पार्श्वनाथ चरित्र में आया है कि कलिंग को यवनों के हाथों से मुक्त करने के पश्चात् कुशस्थल की राजकुमारी प्रभावती के साथ पार्श्वनाथ का विवाह हुआ । रानी गुम्फा के एक अपहरण दृश्य को बहुत से लोग इसी कहानी का चित्रण समझते हैं । जैन कथा साहित्य में भी कलिंग राज्य का उल्लेख है । चित्रसेन और पद्मावती चरित्र में कहा गया है राजपुत्र चित्रसेन कलिंग के वसन्तपुर पत्तन के राजा वीरसेन का पुत्र था । करकण्डुचरिउ करकण्डु के जीवन का आश्चर्यजनक विवरण देता है । वह पार्श्वनाथ के बाद और महावीर के पूर्व कलिंग का राजा था । इसलिए बहुत लोग उसे पार्श्वनाथ की परम्परा का बतलाते हैं । उत्तराध्ययन सूत्र के अठारहवें अध्ययन में इसका विवरण है । इस विवरण से जाना जाता है कि जब वह कलिंग में राज्य करता था तब पांचाल में द्विमुख, विदेह में नमि और गान्धार में नग्गई राज्य करते थे । वहीं यह भी कहा गया है कि इन नर-वृषभों ने स्वपुत्र को राज्य देकर श्रमण दीक्षा ग्रहण कर ली थी । बौद्ध कुम्भकार जातक में करकण्डु को प्रत्येक बुद्ध के रूप में स्वीकार किया गया है और राजधानी दण्डपुर बतायी गयी है । इन समस्त कारणों से

यही ज्ञात होता है कि कलिंग में जैन धर्म का प्रवर्तन भगवान पार्श्वनाथ ने ही किया। उस प्राचीन काल में कलिंग में जैन धर्म प्रचलित था यह महाभारत के इस कथन से भी समर्थित होता है कि "अनार्य कलिंग वासियों से दूर रहो कारण वे न वेद मानते हैं न यज्ञ, यहाँ तक कि देवता भी उनके हाथों से बलि ग्रहण नहीं करते।" वौधायन धर्मसूत्र में भी कलिंग को अनार्य देश कहकर अभिहित किया गया है।

ईसा पूर्व छठी शताब्दी में महावीर ने जैन धर्म को एक नवीन रूप प्रदान किया। उनके साथ भी उड़ीसा का घनिष्ठ सम्बन्ध था। आवश्यक सूत्र की हरिभद्रीय वृत्ति में कहा गया है कलिंग के राजा महावीर के पिता के मित्र थे। उन्होंने महावीर को कलिंग आकर धर्म प्रचार करने का आह्वान किया था। महावीर ने कलिंग मे धर्म प्रचार किया यह आवश्यक सूत्र द्वारा भी समर्थित है। उसमें कहा गया है उन्होंने तोषली और मोषली में धर्म प्रचार किया। कहते हैं तोषली में बहुत से धर्म प्रचारक आए थे और वहाँ की जिनमूर्त्तियों की रक्षा तोषली के राजा द्वारा होती थी। स्व० डॉ० जायसवाल ने भी कहा है कि सम्राट खारवेल की हाथी गुम्फा शिलालेख की चौदहवीं पंक्ति भी यह संकेत करती है कि महावीर कलिंग आए और कुमारी पर्वत पर स्थित रहकर वहीं से धर्म प्रचार किया। विभिन्न गुम्फाओं के स्तम्भशीर्ष पर अंकित सिंहमूर्त्ति से भी उन्हें लगता है कि ये दोनों पर्वत उनके चरण स्पर्श से धन्य हुए हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि चम्पानगरी में पालित नामक एक वणिक रहता था। वह भगवान महावीर का शिष्य था। वह श्रावक रूप में निर्ग्रन्थ धर्म का ज्ञाता था। एक बार वह वाणिज्य के लिए जहाज द्वारा पिथुण्ड नगरी में गया। पिथुण्ड कलिंग का एक प्रमुख बन्दर और जैन धर्म का केन्द्र था। इसी पिथुण्ड का उल्लेख खारवेल की हाथी गुम्फा के शिलालेख में भी जैन तीर्थ के रूप में किया गया है।

नन्द राजाओं के समय कलिंग मगध साम्राज्य के अन्तर्गत था। हाथी गुम्फा लेख की छठी और १२वीं पंक्ति में दो बार नन्द राजाओं का उल्लेख हुआ है। ये नन्द राजा कौन थे इसे लेकर पार्थक्य होने पर भी सम्भवतः वे पुराणों में उल्लिखित कलिंग विजेता सर्वक्षत्रान्तक महापद्म नन्द थे। कलिंग को पराजित कर वे विजय स्मारक के रूप में कलिंग जिन को मगध ले गए

थे । कलिंग जिन कौन थे यह आज बताना कठिन है । के० पी० जायसवाल और आर० डी० बनर्जी उन्हें तीर्थंकर शीतलनाथ कहते हैं, ए० सी० मित्तल महावीर । किन्तु डॉ० एन० के० साहु नें उन्हें ऋषभदेव कहा है । जो कुछ भी हो इससे लगता है पार्श्वनाथ प्रवर्तित और महावीर द्वारा परिपुष्ट जैन धर्म उस समय उड़ीसा के राष्ट्रीय धर्म में परिणत हो गया था । नन्दराजा का कलिंग जिन को मगध ले जाना और खारवेल के समय तक उसे नष्ट न कर उपासना करने से यह भी लगता है कि नन्दराज भी जैनधर्मावलम्बी था ।

चन्द्रगुप्त मौर्य जैन थे । उनका साम्राज्य बहुविस्तृत होने पर भी कलिंग उसके अन्तर्गत नहीं था । नन्दवंश के दुर्बल हो जाने पर लगता है कलिंगवासी पुनः स्वाधीन हो गए और चन्द्रगुप्त कलिंगवासियों के स्वधर्मी होने के कारण आक्रमण से विरत रहे। उनके पौत्र अशोक ने कलिंग जय किया । वह युद्ध कितना भयानक हुआ था यह उनके १३वें शिलालेख में विवृत है । इस शिलालेख से यह भी जाना जाता है कि उस समय वहाँ ब्राह्मण और श्रमण रहते थे । ये श्रमण जैन थे । लगता है उस समय अशोक भी जैन था । कारण कलिंगवासी स्वधर्मियों की दुर्दशा से हृदय द्रवीभूत होने पर भी मगध पूजित कलिंग जिन को वह उन्हें लौटा न सका । जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में सम्प्रतिकालीन कलिंग का उल्लेख है । कलिंग उन्ही २५.५ देशों के अन्तर्गत था जहाँ जैन साधु बिना किसी बाधा के विचरण कर सकते थे ।

महामेघवाहन खारवेल के समय को कलिंग का स्वर्णयुग कहा जाता है । स्टार्लिंग द्वारा आविष्कृत और बहुत से पण्डितों द्वारा आलोचित हाथी गुम्फा का शिलालेख खारवेल के सिंहासनारोहण के १३ वर्ष तक का उनके जीवन और कृतित्व का परिचय देता है । उनके समय के विषय में भी पण्डितों का भिन्न-भिन्न मत है । कोई उन्हें ईसा पूर्व चतुर्थ, कोई तृतीय, कोई द्वितीय, कोई प्रथम शताब्दी का सोचते हैं । किन्तु शिलालेख की भाषा, तत्कालीन शिल्पकला आदि की दृष्टि से यदि उसे हम ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी का माने तो कोई अधिक भूल नहीं होगी । तिवस सत को ३०० वर्ष मानकर महापद्मनन्द के समय से काल गणना करने पर भी वह समय ठीक बैठता है ।

इस शिलालेख से हम जान पाते हैं कि जैन धर्म खारवेल का व्यक्तिगत धर्म था और उनके समय में जैन धर्म ने कलिंग में यथेष्ट प्रगति की थी । यह शिलालेख तो प्रारम्भ ही होता है अर्हत् और सिद्धों के नमस्कार से ।

अर्हत् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु को लेकर ही जैन पंच परमेष्ठि या नमस्कार मंत्र है । खारवेल जैन होने पर भी युद्ध से कभी परान्मुख नहीं हुए। तभी तो अपने राज्याभिषेक के आठवें वर्ष में उन्होंने मथुरा से यवनों को विताड़ित कर जैन धर्म की महती सेवा की । उत्तर भारत में उस समय मथुरा जैनों का एक प्रमुख केन्द्र था । विजयी होकर मथुरा के कल्पवृक्ष का एक पौधा भी वे कलिंग ले आए । राज्याभिषेक के ग्यारहवें वर्ष में गधे द्वारा जोते जाने वाले हल से पिथुण्ड का उद्धार किया । (बैल आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का लांछन होने के कारण लगता है उन्होंने उसका व्यवहार नहीं किया) । राज्याभिषेक के बारहवें वर्ष में नन्दराजा द्वारा अपहृत कलिंग जिन को ३०० वर्षों के पश्चात वहाँ से लाकर कलिंग तथा कलिंग के जैन धर्म की गौरव वृद्धि की । मंचपुरी गुम्फा में तीर्थंकर की उपासना निरत राजा रानी की जो मूर्त्ति उत्कीर्ण है सम्भवतः वह खारवेल और उनकी पत्नी है । खारवेल जैन श्रावकों के अणुव्रत का पालन करते थे । अतः युद्धयात्रा, पराजितों से शुल्क ग्रहण करने और नृत्यगीत आदि में उन्हें कोई बाधा नहीं थी, किन्तु जैसे-जैसे दिन व्यतीत होते गए वैसे-वैसे उनकी आध्यात्मिक चेतना जागृत होती गयी। राज्याभिषेक के तेरहवें वर्ष में खारवेल का जो रूप हम देखते हैं वह शिलालेख में उत्कीर्ण भिक्षुराज व धर्मराज का रूप है । यह परिवर्तन सम्भवतः मथुरा विजय के पश्चात् घटित हुआ है । लगता है जीवन के अन्तिम दिनों में वे महाव्रतों का पालनकर साधुओं-सा जीवन यापन करते थे। उनकी स्वधर्मो भक्ति और दानवीरता भारत के विभिन्न प्रान्त से जैन आचार्य और पण्डितों को कलिंग में आकृष्ट कर लायी थी । कलिंग में उन्होंने धर्म संगीति (गोष्ठी) का आयोजन भी किया जहाँ ग्रन्थ संकलन आदि का काम भी हुआ था । ऐसा लगता है श्रमण श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे कारण वे श्वेत वस्त्र भी (वास सितानि चिन वातानि) दान करते थे । अर्हत् भक्ति के लिए उन्होंने और उनके परिवार के लोगों ने उदयगिरि और खण्डगिरि में श्रमणों के निवास के लिए ११७ गुम्फाओं का निर्माण करवाया । रानी सिंहपथा के अनुरोध पर उन्होंने एक मन्दिर का निर्माण भी करवाया था ।

स्वधर्म के प्रति उग्र प्रीति रहने पर भी खारवेल ने अन्य धर्मों का आदर कर अपनी उदारता का परिचय दिया है । उन्होंने हिन्दु देव-देवियों के लिए भी मन्दिरों का निर्माण करवाया था और यति-ऋषि एवं तापसों के निवास

की भी व्यवस्था की थी । इसलिए सब उन्हें पाखण्ड पूजक, सकल धर्मोपासक, सब देवायतनों के संस्काराराधक नाम से अभिहित करते थे ।

हाथी गुम्फा के लेख और खण्डगिरि की मूर्त्तियों से तत्कालीन जैन धर्म का एक सुन्दर आलेख भी मिलता है । वद्धमंगल, स्वास्तिक, नन्दीपत और वृक्ष चैत्य पूजा ने जैन धर्म में प्रवेश कर लिया था । दोनों ओर गज सहित लक्ष्मी भी मंगलों में गिनी जाने लगी थी । वद्ध मंगल के अनुरूप चित्र जूनागढ़ के जैन गुफाओं के दरवाजे पर भी खुदे हुए देखने में आते हैं । खारवेल के परवर्ती महाराज कुदेवसिरि और कुमार वडुख के समय जैन धर्म ने और भी उन्नति की । उन्होंने मंचपुरी गुम्फा में नीचे की गैलरी तथा पार्श्ववर्ती कक्ष का निर्माण करवाया ।

खारवेल के पश्चात् कई सदियों के लिए उड़ीसा का इतिहास अन्धकाराच्छत्र हो गया । उस समय वहाँ जैन धर्म की क्या स्थिति थी कहना कठिन है । ईसा की तीसरी सदी की महाराजाधिराज धर्मदास धर की एक स्वर्णमुद्रा शिशुपालगढ़ को खोदते समय मिली थी । डा० आल्तेकर का मत है कि वे कोई मुरण्ड वंशीय जैन राजा थे । मुरण्डगण जैन धर्मावलम्बी थे ।

बौद्ध दाठा वंश से हमें ज्ञात होता है कि कलिंगराज गुहशिव ने (ईसा की चौथी सदी) जैन धर्म परित्याग कर बौद्ध धर्म ग्रहण किया और निर्ग्रन्थ जैनों को कलिंग से विताड़ित कर दिया । विताड़ित होकर वे पाटलिपुत्र के राजा पाण्डु की शरण में चले गए । इस बात से हम जान पाते हैं कि उभय धर्मों के विवाद के कारण किस प्रकार जैन हीनबल हो गए और बाद में शैव और वैष्णव धर्म जनप्रिय होने के कारण जैन धर्म की और भी अवनति हो गयी । किन्तु इतना होने के वावजूद भी जैन धर्म पूर्णतः लुप्त नहीं हुआ । साधारण मनुष्यों के मध्य वह जीवित रहा । कारण सातवीं सदी में चीनी परिव्राजक हेनसांग जब भारत भ्रमण के लिये आए तब भी उसने कलिंग में बौद्धों को छोड़कर अन्य धर्मावलम्बियों में निर्ग्रन्थों की संख्या ही अधिक पायी । शैलोद्भव राजा धर्मराजा के वाणपुर ताम्रफलक में (ईसा के सातवीं सदी) कहा गया है कि उनकी पत्नी रानी कल्याण देवी ने धर्म कार्य के लिए एक-शाटक जैन मुनि प्रबुद्धचन्द्र को कुछ भूमि दान की थी । प्रबुद्धचन्द्र नसीचन्द्र अर्हताचार्य के शिष्य थे । एक-शाटक अर्थात् एक वस्त्रधारी । यह अनुदान केवल शैलीद्भव राजाओं की उदारता ही नहीं बताती है बल्कि इससे यह भी

जाना जाता है कि उस समय जैनाचार्य राज्याधिकारियों से भी सम्मानित होते थे । तभी तो राज्य धर्म के परिवर्तित होने पर भी खण्डगिरि और उदयगिरि जैन धर्म के केन्द्र रूप में जनप्रिय थे । नवमुनि गुम्फा में उद्योत केशरी का एक शिलालेख (ईसा की ग्यारहवीं सदी) कुलचन्द्र के शिष्य क्षुल्लक शुभचन्द्र का उल्लेख करता है जो देशीगण के गृहकुल के आचार्य थे । जैन गुरूओं के रूप में शुभचन्द्र और कुलचन्द्र का उल्लेख कल्याणी चालुक्य और देवगिरि के यादवों के लेख में भी मिलते हैं यद्यपि वे नवमुनि गुम्फा के कुलचन्द्र और शुभचन्द्र नहीं है । ललाटेन्दु केशरी गुम्फा के उद्योत केशरी के एक और लेख में भी कहा गया है कि उद्योत केशरी के राज्य के पंचम वर्ष में कुमारी पर्वत पर जीर्ण सरोवर और जीर्ण मन्दिर का पुनरूद्धार किया गया एवं वहाँ चौवीस तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ स्थापित की गयी । सोम स्वामी शासक के राज्यकाल में जो मुक्तेश्वर मन्दिर निर्मित हुआ उसके वर्हिप्राकार के ऊपर खुदी हुयी तीर्थंकर मूर्त्तियों के द्वारा ही उनके धार्मिक औदार्य का परिचय मिलता है । बालासोर से प्राप्त एक लेख में कुमार सेन नामक एक जैन साधु का नाम ज्ञात होता है जो कि ईसा की १०-११ वीं सदी में वर्तमान थे । श्रीनन्द शिष्य उग्रादित्य के त्रिकलिंग देश के रत्नगिरि पर्वत पर रचित कल्याण कारक स्तोत्र वीर सेन, सिद्ध सेन, दशरथ गुरू और पत्र-स्वामी के साथ एक कुमार सेन का उल्लेख करता है । ईसा की अष्टम शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में जैन धर्म का पुनरभ्युदय हुआ वह उड़ीसा के विभिन्न स्थानों से प्राप्त तीर्थंकर मूर्त्तियों को देखकर कहा जाता है । यह पुनरभ्युदय राष्ट्रकूटों के प्रभाव के कारण हुआ क्योंकि वे जैन धर्म के प्रवल समर्थक थे। राष्ट्रकूट राजा तृतीय गोविन्द ने कलिंग, बंग और भद्रक को जीता था ऐसा दावे के साथ कहा जाता है । किन्तु जैन धर्म का यह पुनरभ्युदय दीर्घकाल तक स्थायी नहीं रहा। कारण परवर्ती काल में वैष्णव धर्म और जगन्नाथ उपासना के प्रादुर्भाव से जैन धर्म और अधिक क्षीण हो गया । धौली पहाड़, वाणी वक्रेश्वर आदि स्थान में ईसा की १२ वीं सदी के शेष भाग में गंगा राजा मदन महादेव ने जैन और बौद्ध श्रमणों की हत्या की ऐसा उल्लेख जगन्नाथ मन्दिर के इतिहास मादला पांजी में मिलता है ।

बंगाल में जैन संस्कृति जिस प्रकार सराक सम्प्रदाय में पायी जाती है उसी प्रकार उड़ीसा में भी जैन संस्कृति सराकों में ही वची हुयी है । बालेश्वर

जिले के जितने जुलाहा श्रेणी के लोग रहते हैं जिन्हें अश्विनी तांती कहा जाता है, ये धर्म से सराक हैं । अतः इन्हें सराकी तांती भी कहा जाता है । बालेश्वर जिले में करीबन ५४ हजार सराक रहते हैं । यह संख्या पश्चिम बंगाल के सराकों की संख्या से बहुत अधिक है ।

उड़ीसा के कुछ अंचलों में नाथ सम्प्रदाय के मध्य जैन प्रभाव अत्यधिक पाया जाता है । यही नाथ पन्थी दूरवर्ती काल में आरक्षित दास पन्थी और महिमा पंथी इन दो भागों में विभक्त हो गए । बालेश्वर जिले के अघोरी भी शायद पहले सराक थे । धलभूम के महल्या ग्राम से दो मील दूर एक अंचल में बहुत से सराक रहते थे । वर्तमान में ये विभिन्न सम्प्रदायों में मिल गए हैं ।

उड़ीसा के सराकों की विभिन्न प्रकार की पदवियाँ हैं । जैसे—महापात्र, पात्र, दत्त, सांतरा, वर्द्धन, माहात्र, देवता, प्रामाणिक, आचार्य, वेहारा, दास, साओ, मंडल, नायक, सेनापति आदि । इन सब पदवियों में पात्र, नायक, मण्डल आदि पदवी पश्चिम बंग के सराकों मे भी पायी जाती है । पश्चिम बंगाल के सराक सम्प्रदाय की भाँति उड़ीसा के सराक सम्प्रदाय में भी किसी प्रकार के ब्राह्मण पुरोहित नहीं है । रंगीनी तांती, सराकी तांती स्वयं को ब्राह्मणों से भी अधिक ऊँची जाति का कहते हैं । अतः वे ब्राह्मणों के हाथ का जल भी नहीं पीते । पश्चिम बंगाल के सराकों की तरह उड़ीसा के सराक भी डुमुर में कीड़ा रहता है इसलिये डुमुर नहीं खाते ।

उड़ीसा के सराकों के ब्राह्मण पुरोहित नहीं है । इसलिए वे समय-समय पर स्वयं ही जनेउ पहन कर पुजा व विवाहादि सामाजिक अनुष्ठानों का संचालन करते हैं । बहुत से लोग विवाह अनुष्ठानों की समाप्ति पर खण्डगिरि अंचल में जाते हैं ।

उड़ीसा के सराकों का मुख्य पेशा पश्चिम बंग के सराकों की तरह तांत ही है । ये प्राचीनकाल से तांत बुनने के काम में लिप्त हैं ऐसा नहीं है । सम्भवतः जीवन निर्वाह के लिए ही इन्होंने इस शिल्प को ग्रहण किया है ।

सराकी तांती उड़ीसा के बालेश्वर, कोरापुट आदि के अतिरिक्त विभिन्न स्थानों में इधर-उधर बसे हुए हैं । कटक जिले का आसिया पहाड़, छतिया पहाड़, चान्दोर, जाजपुर, रत्नगिरि, उदयगिरि आदि अंचलों में प्रचुर मात्रा में सराक रहते हैं । इसके अतिरिक्त तिगिरिया, बडम्बा, वांकी और पुरी

जिलेके पिगलि आदि अंचलों में भी ये निवास करते हैं ।

जैन पुरातत्व की चर्चा करने पर प्रथम उदयगिरि-खण्डगिरि की ही चर्चा होती है । उड़ीसा के विभिन्न स्थानों में बिखरे जैन पुरातत्वों में खण्डगिरि गुम्फा की मूर्त्तियाँ सबसे प्राचीन लगती हैं । हाथी गुम्फा, जय-विजय गुम्फा आदि अपने शिल्प के लिए विश्व-विख्यात् हैं । गुम्फा के द्वार पर कहीं प्रागैतिहासिक युग के हाथी हैं तो कहीं निरावरण सुन्दर नारी...या कहीं कहानी चित्र खुदे हुए हैं । यह सब मूर्त्तिकला व शिल्पकला खण्डगिरि की प्राचीन गुम्फाओं की शिल्प उत्कर्षता और गुरूत्व को बढ़ा देती हैं ।

खण्डगिरि उदयगिरि के अलावा कोरापुट जिले के जयपुर, नन्दनपुर और भैरव सिंहपुर में बहुत सी जैन मूर्त्तियाँ पायी गई हैं । केओनझाड़ और मयूरभंज के विभिन्न स्थानों में पार्श्वनाथ, ऋषभदेव और महावीर स्वामी की मूर्त्तियाँ संग्रहित हैं । उड़ीसा के स्टेट म्युजियम में वालासोर जिले के चारम्पा ग्राम से प्राप्त चार तीर्थंकर मूर्त्तियाँ हैं। कटक के जैन मन्दिर में भी मध्य युग की बहुत सी प्राचीन मूत्तियाँ संग्रहित हैं । इनमें एक ही फलक में ऋषभनाथ और महावीर हैं, अन्य फलक में भरत बाहुबली आदि शंत पुत्रों सहित पद्मासन स्थित ऋषभदेव की मूर्त्ति विशेष उल्लेख योग्य है । मयूरभंज के बडसाही से दो क्षुद्राकृति चौमुख पाया गया है जिसके चारों ओर चार तीर्थंकर मूर्त्तियाँ हैं । मयूरभंज के खिंची, वारिपदा, भीमापुर आदि ग्रामों में भी बहुत सी जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं । कटक जिले के जाजपुर में अखण्डलेश्वर मन्दिर और मातृका मन्दिर में बहुत सी जैन मूर्त्तियाँ सुरक्षित हैं ।

इसी शहर के नारायण चौक स्थित मन्दिर में अनन्त वासुदेव के रूप में पूजित पार्श्वनाथ खूब सुन्दर हैं । मातृका मन्दिर में कायोत्सर्ग स्थित शान्तिनाथ की त्रिछत्र मूर्त्ति है जिसकी लम्बाई और चौडाई ३२" १६.५" हैं । इस मूर्त्ति के दोनों और २४ तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं । दोनों ओर दो चामरधारी और एक ओर दो कलश दूसरी ओर एक उपासक है, मध्य में लांछन है । क्लोराइट पत्थर से बनी यह मूर्त्ति जैन शिल्पकला का एक उत्कृष्ट निदर्शन है । एक और शान्तिनाथ मूर्त्ति है (४५" २२.५") जो कि अखण्डलेश्वर मन्दिर के कम्पाउण्ड में रक्षित है । यह भी वैसी ही सुन्दर है । खडगासन स्थित इस मूर्त्ति के दोनों ओर ४-४ ग्रह खुदे हुए हैं । केतु की मूर्त्ति नहीं है । मूर्त्ति के दोनों ओर चामरधारी और ऊपर दो उड्डीयमान विद्याधर हैं । पादपीठ पर

केवल लांछन ही नहीं बांयी ओर दो हस्तियों द्वारा अभिषिक्त कमल में खड़ी लक्ष्मी भी उत्कीर्ण है । इसके दाहिनी ओर एक आदमी खड़ा है और तीन स्त्रियाँ बैठी हुयी उपासनारत हैं । इन मूत्तियों को देखकर कहा जा सकता है कि आज जहाँ शैव क्षेत्र है कभी वह प्रमुख जैन केन्द्र था । प्राची अधित्यका के अतसपुर, लताहरण आदि गाँवों में बहुत सी जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं।

उड़ीसा के प्राचीन साहित्य और संस्कृति पर भी जैन धर्म का असीम प्रभाव है। आज वहाँ जैन धर्म के लुप्त हो जाने पर भी जैन संस्कृति का प्रभाव विभिन्न रूपों में देखा जाता है । मध्ययुग में उड़ीसा के विभिन्न प्रदेशों में भंज वंशीय राजाओं का शासन था । इन राजाओं में कोई वैष्णव था तो कोई शैव्य । किन्तु उनपर भी जैन संस्कृति का अक्षुण्ण प्रभाव था । इस वंश का एक ताम्र शासन केन्दुआ जिले के उखुण्डा ग्राम में पाया गया है जिसमें भंज वंश के पूर्वजों की उत्पत्ति कोट्टाश्रम नामक स्थान में मयूर के अण्डे से हुयी ऐसा उल्लेख है । यह कोट्टाश्रम जैन हरिवंश पुराण में वर्णित कोटि शिला है । सम्भवतः यहाँ असंख्य मुनि निवास करते थे इसीलिए इसका यह नाम पड़ा हो । मयूर के अण्डेसे (मयूराण्ड भित्वा) वीरभद्र आदि भंज रूप में उत्पन्न हुए ऐसा कहा जाता है । यह मयूर निश्चय ही साधारण मयूर नहीं है, कारण उससे मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती थी एवं वह मान्य भी नहीं होती । सोलहवीं सदी में विद्यमान कणिका राजवंशीय हरिचन्दन ने स्वरचित संगीत मुक्तावलि में अपने वंश के परिचय प्रसंग में लिखा है हमारा वंश श्रुतिमयूरिका से उत्पन्न है । यह श्रुति श्रुतदेवी अर्थात् जैन सरस्वती है । जैन परम्परा में सरस्वती का वाहन हंस नहीं, मयूर है । भंज वंश पर जैन प्रभाव का यह एक निदर्शन है ।

उपरोक्त ताम्र शासन मे वीरभद्र को गणदण्ड कहा गया है गणदण्ड जैन शास्त्रों में प्रयुक्त गणधर, गणी, गणेन्द्र शब्द का पर्यायवाची है ।

उत्कल का उत्तरी भाग किसी समय तोषली कहलाता था । इसी तोषली में शैलपुर नामक एक जैन तीर्थस्थल था । विपुला नामक पर्वत वेष्टित इस शैलपुर की कथा जैन साहित्य में भी मिलती है । इसका नामकरण शैलपुर राजगृह के अनुकरण पर किया गया है । यह शैलपुर कहाँ है इतिहासकारों ने यह अनुसन्धान नहीं किया फिर भी केन्दुझर जिले के आनन्दपुर से ८ मील दूर पोडासिंगिगड़ी नामक जो ग्राम है उससे चिह्नित किया जा सकता

है । कारण यहाँ एक वर्ग एक मील परिमित क्षेत्राकार भूमि वहुला पर्वत श्रेणी द्वारा वेष्टित है । अन्य भाग ध्वंस्त प्रत्नावशेषों से पहचाना जाता है। यहां सौ से अधिक तीर्थंकर एवं यक्ष-यक्षिणियों की मूर्त्तियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी है। कोई उत्तरानशायी तो कोई अर्द्धभग्न है । पर्वत पर चढ़ने की सीढ़ी है । वहाँ एक विशाल तीर्थंकर मूर्त्ति है । वह मूर्त्ति महावीर की है । यह स्थान तोषली के अन्तर्गत है । अतः निःसन्देह इसे तोषली का शैलपुर कहा जा सकता है । राजगृह शैल वलयवेष्टित होने से राजगृह शैलपुर है । यह स्थान भी इसी प्रकार शैल वेष्टित है । राजगृह के चारों ओर की पर्वतमाला का नाम है विपुला । यहाँ के पर्वत का नाम है बहुला । राजगृह के द्वार देश पर स्थित पर्वत गोलाकार है । यहाँ भी पर्वत वैसा ही गोलाकार है ।

इसी से लगता है महावीर का प्रधान धर्म प्रचार केन्द्र राजगृह के अनुकरण पर इस स्थान का नाम शैलपुर रखा गया है । इससे भी उड़ीसा में जैन धर्म की प्राचीनता व प्रभाव का अनुमान सहज ही हो जाता है ।

ऐतिहासिक तथ्यों के अतिरिक्त साहित्यिक तथ्य भी उत्कल में जैन धर्म की प्राचीनता और प्रभाव घोषित करते हैं ।

उडीसा के आदिवासियों में 'क्रीडा पद्म तोला' गीत गाया जाता है । उस गीत में कहा गया है कंस की पत्नी पद्मावती ने धनित्री ओषा व्रत किया था उसके लिए शतदल कमलकी आवश्यकता थी । कृष्ण को उस कमल को लाने के लिए कालिन्द हृद में प्रवेश करनेपर कालीय नागने उन्हें डंस लिया। कृष्ण ने तब उसका मर्दन किया । यह कहानी जैन हरिवंश पुराण से ली गयी है । क्योंकि ऐसी कहानी ब्राह्मण विष्णु पुराण या हरिवंश आदि पुराणों में नहीं मिलती । इसी से जाना जाता है कि जैन हरिवंश पुराण का प्रभाव उड़ीसा के लोक साहित्य में कितना है । यहाँ तक की रसकल्लोलकार दीनकृष्ण ने जैन प्रभावित लोक साहित्य का अवलम्बन लेकर लिखा है—

कुंज विहारी विहरन्ते गोपनगर
कंश आज्ञा आसि लागिला नन्दकु देव कमल शतभार ।

केवल लोक साहित्य में ही नहीं उड़ीसा की अति प्राचीन पुस्तक सरला महाभारत में (१४-१५ शतक ?) द्रोपदी स्वयंवर में घूमते हुए चक्र की सन्धि में राधा लक्ष्य भेद करने की जो कथा है वह भी जैन हरिवंश पुराण की है। संस्कृत महाभारत में राधा शब्द का कोई उल्लेख नहीं है ।

मध्ययुग में श्री चैतन्य देव के प्रभाव से बंगाल और उड़ीसा में बहुत से ग्रन्थ रचित हुए । इन सब ग्रन्थों में भागवत का स्थान सबसे ऊपर है । उड़ीसा के जगन्नाथ दास की भागवत में ऋषभनाथ की कथा है । इस ग्रन्थ के पंचम अध्याय में ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रों को जो उपदेश दिया उसमें श्रमण संस्कृति को ही पकड़ा है—

श्री श्रीऋषभदेव उवाच–
जो पुत्रमाने सावधान
शुण हे आमार वचन ।
जे प्राणी जे कार्यमान
निरते करे आचरण
से प्राणी व्यर्थ ए संसारे
पड़े नरक महाघीरे ।

केवल जगन्नाथ दास की भागवत ही नहीं चैतन्य दास विरचित विष्णु गर्भ पुराण में भी ऋषभदेव और भरत का चरित्र है । यह पुस्तक अलेख धर्म का एक प्रमुख ग्रन्थ है । वहाँ कहा गया है ऋषभदेव के भरतादि दस पुत्रों ने उनसे अलेख धर्म की दीक्षा ली । इन ग्रन्थ में ऋषभदेव का महत्व ही अधिक प्रतिपादित है । भागवत में जिस प्रकार ऋषभदेव की उपदेश वाणी से जैन तत्व प्रस्फुटित होता है, विष्णुगर्भ पुराण में भी उसी प्रकार ऋषभदेव की हितवाणी से जैन तत्व प्रस्फुटित होता है । उड़ीसा का अलेख धर्म जैन धर्म की परिणति रूप में ही अभिव्यक्त है ।

उड़ीसा में बउला गाय का उपाख्यान बहुत प्रचलित और लोकप्रिय है। उस उपाख्यान में कहा गया है बउला नामक एक गाय अपने बछड़े को छोडकर वन में घास की खोज में गयी । वहाँ उसे एक भूखे बाघ ने पकड़ लिया । बउला ने बाघ से कहा तुम मुझे एक बार छोड़ दो । मैं अपने बछड़े को दूध पिलाकर आऊँगी तब तुम मुझे खाना । बाघ बोला तुम यदि नहीं लौटी तो ? उसने उत्तर दिया मैं सत्य का पालन करती हूँ । अतः तुम मेरे वचन पर विश्वास कर सकते हो । तब बाघ ने उसे छोड़ दिया । बउला भी अपने बछड़े को दूध पिलाकर तुरन्त लौट आयी । बाघ उसकी सत्यता पर मुग्ध हो गया और अहिंसक बनकर उसे उसके बछड़े के पास जाने दिया। जैन धर्म का अहिंसा तत्व यहाँ बडी सुन्दरता से उभरा है–

महायोग वृक्षरे अहिंसा तहिं शाखा
विवेक कुसुम मुक्तिफल देइ देखा ।
त्रिविध ताप रे जे तापित सर्व प्राणी
यज्ञ तरूबरंकु अहिंसा कला जाणी ॥

उड़ीसा में जो कहानी लोक कथा, रूप कथा या जातीय कहानी रूप में प्रचलित है वह चित्रसेन और पद्मावती की आख्यायिका है । चित्रसेन और पद्मावती पूर्व जन्म में हंस और हंसी थे । वे चम्पक वन के एक सरोवर के तट पर रहते थे । एक दिन वहाँ एक सौदागर आया और सरोवर तट पर विश्राम करने लगा । आहार के पूर्व वह किसी अतिथि की प्रतीक्षा करता है। उसी समय एक मास के उपवासी श्रमण वहाँ आए । सौदागर उन्हें आहार देकर कृतकृत्य हो गया । हंस और हंसी सौदागर को मुनि को आहार देते देखकर खुश हुए और उस दान की प्रशंसा की । इसी अतिथि दान की प्रशंसा के कारण बाद के जीवन में वे राजपुत्र और राजकन्या के रूप में जन्मे । चित्रसेन और पद्मावती की विचित्र कहानी को विवृत करने का यहाँ स्थान नहीं है । फिर भी कलिंग की इस लोक कथा के राजारानी दमसार मुनि से दीक्षा ग्रहण करते हैं और अन्त में मोंक्ष को प्राप्त करते हैं ।

वर्तमान में उड़ीसा के लोक व्यवहार में जैन धर्म का कितना प्रभाव है यह कल्पवृक्ष की पूजा से ज्ञात होता है । प्राचीन जैन साहित्य में मिलता है कि मानव सभ्यता के आदियुग में जब कि कृषि आदि लोक व्यवहार को मनुष्य नहीं जानता था, उस समय उसकी सारी आवश्यकताएँ कल्पवृक्ष से ही पूरी होती थीं । कालान्तर में जब कल्पवृक्ष नष्ट होने लगे तब वह अपनी क्षुधा निवारण कैसे करे यह चिन्ता का विषय बन गया था । तभी ऋषभदेव का आविर्भाव हुआ । उन्होंने कृषि, पशुपालन, व्यवसाय आदि की शिक्षा दी। इस दृष्टि से कल्पवृक्ष की पूजा जैनों का एक वृहद् अनुष्ठान है । इसी के अनुकरण पर हिन्दू धर्म में कामधेनु की कल्पना की गई है । इसी कामधेनु या सुरभि गाय के लिए ही विश्वमित्र ने वशिष्ठ के आश्रम पर आक्रमण किया । अन्त में वे तापस बन गए । जैनों के इसी अनुष्ठान ने हिन्दुओं को प्रयाग स्थित कल्पवृक्ष की प्रेरणा दी है । इतना ही नहीं इसी कल्पवृक्ष से कूद कर प्राण त्यागने की जो प्रथा प्रचलित हुयी वह भी लगता है जैनों की संलेखना द्वारा अनुप्राणित है ।

प्रयाग के कल्पवृक्ष की कहानी से लगता है जैन धर्म की विचार धारा ने हिन्दू धर्म को गंभीरता से प्रभावित किया है। इस कल्पवृक्ष से मानता कर के आज भी लोग कृत कृत्य होते हैं। कल्पवृक्ष को लेकर हिन्दू पुराण में बहुत सी कहानियाँ रची गयीं। उड़ीसा में भी कल्पवृक्ष का महत्व कम नहीं हैं।

यहाँ के लोग वटवृक्ष की पूजा करते हैं। वटवृक्ष से जो जटाएँ निकलती हैं उसे शिव जटा कहते हैं। शिव पुराण में कहा गया है ऋषभ शिव के अवतार हैं। जैनों के कल्पवृक्ष से प्रभावित होकर पुरी-भूवनेश्वर आदि स्थानों के मन्दिर में कल्पवृक्ष की स्थापना कर उसकी पूजा करते हैं।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव हिन्दू पुराण में विष्णु व शिव के अवतार हैं। वे अपने अन्तिम समय में मुखपर पत्थर रखकर कैलाश शिखर पर रहते थे। उसी समय वाँस-वन में आग लगी और वे उसी आग में दग्ध हो गए। यह घटना फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन घटी थी। जैन भी उस दिन को ऋषभदेव का निर्वाण दिवस मानते हैं। और इसको कल्याणक रूप में पालते हैं। कालक्रम से हिन्दुओं ने भी इस निर्वाण कल्याणक को व्रत विशेष रूप में स्वीकार किया जो कि आज शिव चतुर्दशी या जागर चतुर्दशी के रूप में भारत प्रसिद्ध है। इसका आधुनिक रूप जो भी हो यह एक जैन पर्व है और उसी रूप में ओतप्रोत होकर हिन्दुओं के व्यवहार में घुलमिल गया है।

उड़ीसा के प्रत्येक गाँव व शहर में शिव मन्दिर है। इन समस्त मन्दिरों में ब्राह्मणेतर जाति के लोग पूजा करते है। शिव चतुर्दशी उड़ीसा की ग्रामीण जनता का भी एक प्रमुख पर्व है। सुदूर अतीत की जैन धर्म की इस परम्परा को उड़ीसा के लोगों ने भी अपनी संस्कृति में परिणत कर लिया है।

पहले जो वटवृक्ष की कथा कही गयी है उसकी पूजा उड़ीसा में आज भी प्रचलित है। उडीसा भाषा में रचित विचित्र रामायण एक ग्रामीण काव्य है। उस काव्य में प्रयोजन नहीं होने पर भी कवि ने वट प्रार्थना नाम देकर एक प्रार्थना सीता के मुख से कहलायी है–

बाँछ वट धेन धेन मो मिनति वट श्रेष्ठ–
विकल होइण वट मूले शिरे कर जोडि सीता बोले।
चतुर्दश लोके ख्यात होइ अछ घर उपकारे ए संसारे॥
शाश शशुर मो निश्चिन्तरे सर्वे शुभे थान्तु अयोध्या रे।
आदि आदि

यह प्रार्थना जैनों की सर्वे भवन्तु सुखिनः के अनुरूप है ।

उड़ीसा और अन्यत्र शिव मन्दिर में त्रिशूल देखा जाता है । वह त्रिशूल जैनों के त्रिरत्न चिह्न के जैसा है । (कंकाली टीला, मथुरा के आयाग पट्ट में अंकित त्रिरत्न चिह्न देखें ।) त्रिशूल और वृष जैसे शिव का है वैसे ही ऋषभदेव का है । ऋषभ भी वृषभ का पर्यायवाची है ।

पुरी के जगन्नाथ मन्दिर के बेढ़े में कोइली बैकुण्ठ है । यह कोइली शब्द तमिल कोएल (देवस्थान) से आया है या जैन कैवल्य से ?—यह सोचने का है । डा० लक्ष्मी नारायण साहु कहते हैं कि यह जैन कैवल्य से आया है । कारण प्राचीन हिन्दुग्रन्थों में कैवल्य शब्द मोक्ष के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है।

तीर्थंकरों का गर्भाधान, जन्म, दीक्षा, बोधि और मोक्ष जिस जिस तिथि को होता है उस दिन इन्द्रादि देव स्वर्ग में उत्सव करते हैं । इसीलिए उस दिन उनके अनुयायी मृत्युलोक में भी चैत्य यात्रा करते हैं । चैत्य यात्रा अर्थात् रथ यात्रा । चैत्यरथ में जिन प्रतिमा को बैठाकर नगर परिक्रमा कराना ही इस उत्सव की विधि है । यह रथ यात्रा सुसज्जित हाथी, घोड़ा, नृत्य-गीत वाद्यादि के साथ निकलती है । जैन साहित्य में इस यात्रा का विशेष विवरण मिलता है । चित्रसेन व पद्मावती की कहानी में भी रथयात्रा का विवरण है ।

उड़ीसा के पुरी और भुवनेश्वर में आषाढ शुक्ला दूज और चैत्र शुक्ला अष्टमी को रथ यात्रा निकलती है । ये दोनों तिथियाँ विशेष तथा सर्वश्रेष्ठ तिथि रूप में स्वीकृत है । यहाँ तक कि उस दिन नक्षत्रों का विचार किए बिना ही पुण्य कार्य किया जा सकता है । इसलिए इसे कल्याणक दिवस कहा जाता है । स्मृति शास्त्र में केवल पुष्या नक्षत्र युक्त द्वितीया तिथि को राम और भद्रा सहित जगन्नाथ को रथ में बैठाकर यात्रोत्सव करने का विधान है। किन्तु वार नक्षत्रादि का विचार किए विना शुभ कार्य का विधान नहीं है। इसलिए स्मृतिशास्त्र इसे कल्याणक दिवस के रूप में ग्रहण नहीं करता । जो स्मृतिशास्त्र में विहित नहीं फिर भी देश में प्रचलित है वह निश्चित समाज और लोक व्यवहार सम्मत है । अतः थोड़ी खोज करने से ही इन दोनों का मूल जैन है यह प्रमाण मिल जाएगा । चैत्र शुक्ला अष्टमी ऋषभदेव का जन्म कल्याणक दिवस है । इसीलिए भुवनेश्वर में उस दिन रथ यात्रा निकलती है। जगन्नाथ ऋषभ के प्रतीक हैं ऐसा बहुत से लोगों का मानना है । इसीलिए

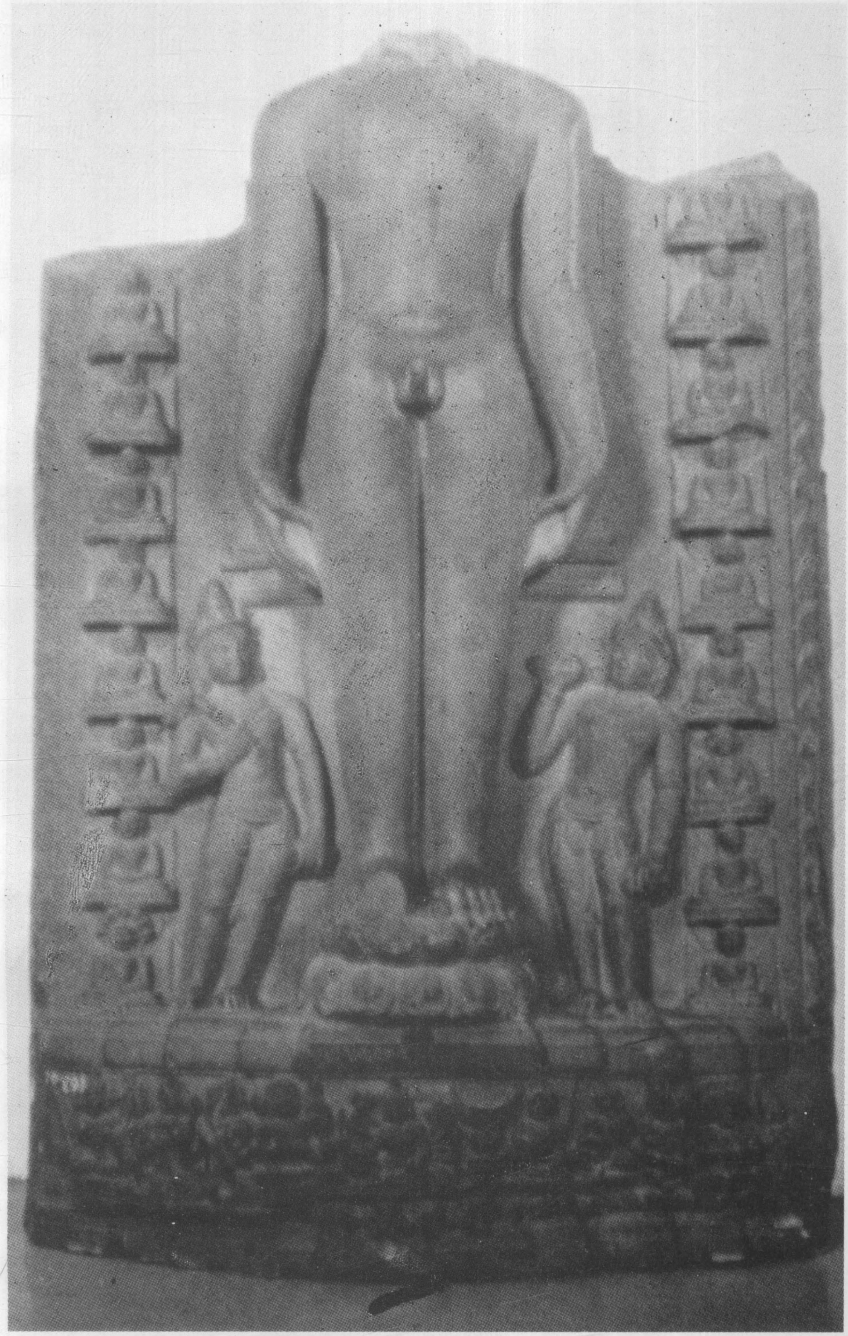

चन्द्रप्रभु दिनाजपुर

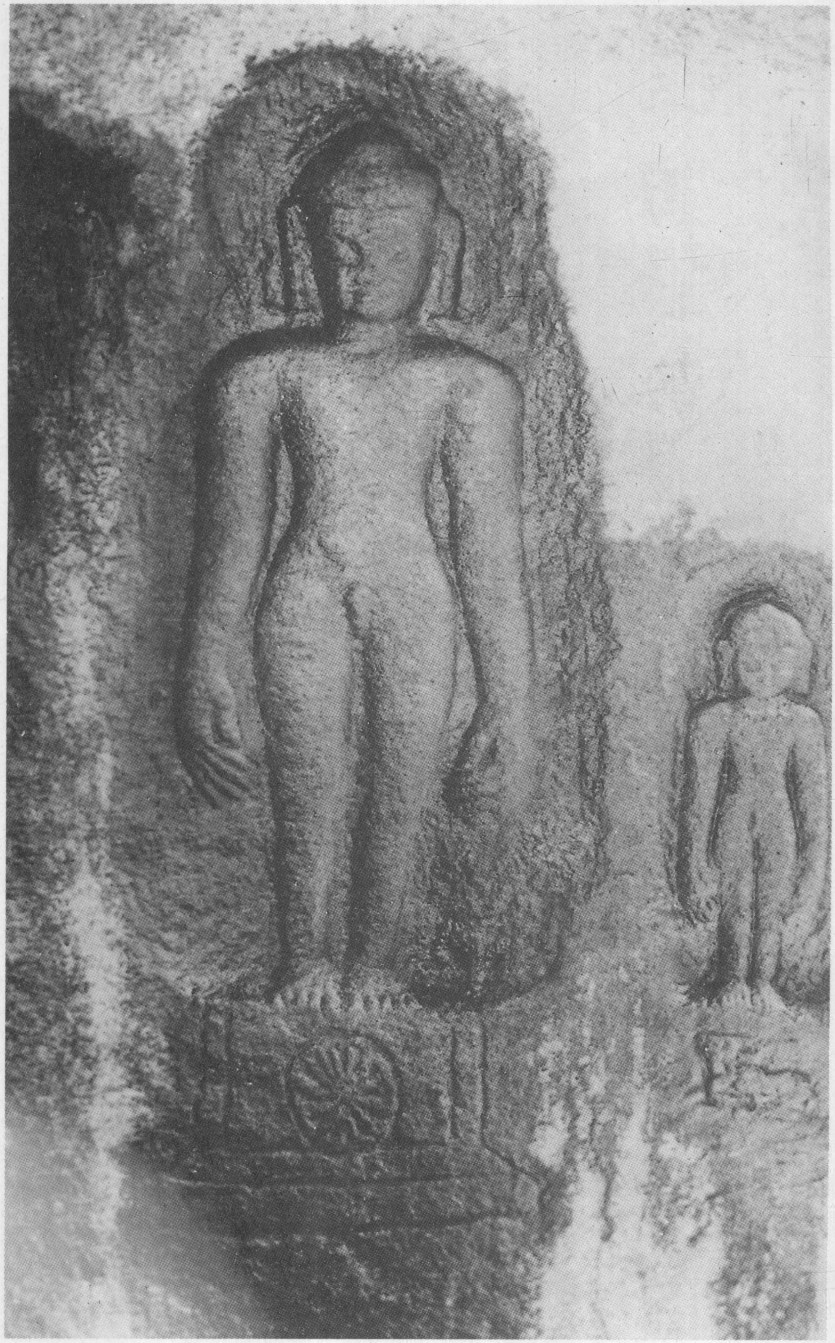

जैन मूर्ति, सूर्यपहाड़, आसाम

उस दिन जगन्नाथ का रथ यात्रा उत्सव होता है । संस्कृति साहित्य में अशोकाष्टमी को रथयात्रा निकालने का कोई उल्लेख नहीं है, केवल शोक रहित होने के उद्देश्य से पुनर्वसु नक्षत्र में जल के साथ ८ अशोक कलि पीने का विधान है । एतदर्थ जैन सम्मत रथ यात्रा के साथ ही इसकी संगति है।

जगन्नाथ की स्नान यात्रा भी जैन स्नात्रपूजा की तरह ही है । छत्र चामर वाद्य यंत्र के साथ आठ कलश द्वारा जिन प्रतिमा का अभिषेक किया जाता है । विशेषतः प्रतिमा के नेत्रों को तुलिका से फिर से रंग करने की जो विधि जैन शास्त्र में पायी जाती है उसी के अनुकरण पर जगन्नाथादि मूर्त्तित्रय की स्नान यात्रा के पश्चात् पीला (हल्दी जैसा) रंग लगाकर नवयौवन आदि किया जाता है । नेत्रों का नवीनीकरण लक्ष्य करने लायक है । जगन्नाथ के गोलाकार नेत्रों के अतिरिक्त और कुछ रंगा नहीं जाता है । जगन्नाथ मूर्त्ति चक्षुप्रधान है । जगन्नाथ शब्द भी मूलतः जैन शब्द है । जिनेश्वर अर्थात् आदिनाथ ऋषभ का द्वितीय नाम है ऐसा अभिधान राजेन्द्र में उल्लिखित है। अतः ऋषभदेव के रथोत्सव का रूपान्तर यह जगन्नाथ यात्रा है । जगन्नाथ की रथ यात्रा श्री कृष्ण की घोष यात्रा नहीं है कारण घोष यात्रा में प्रत्यावर्तन नहीं होता । किन्तु इसका प्रत्यावर्तन होता है ।

ऋषभदेव के साथ कल्पवृक्ष की स्मृति जुड़ी हुई है । जगन्नाथ धाम का कल्पवृक्ष जगन्नाथ ही ऋषभ हैं इस धारणा को पुष्ट करता है । ऋषभ ने धर्मचक्र प्रवर्तन किया था । ऋषभ का धर्मचक्र ही जगन्नाथ का नीलचक्र है । ऋषभ की पूजा भारत के जिस-जिस क्षेत्र में होती है उसे चक्र क्षेत्र कहा जाता है । आबू पर्वत का क्षेत्र चक्र क्षेत्र है। उड़ीसा के केन्दुझर जिले के आनन्दपुर सब डिवीजन में पहले जहाँ ऋषभ पूजे जाते थे उसे भी चक्र क्षेत्र कहा जाता है । इसी प्रकार पुरी को जो चक्र क्षेत्र कहा जाता है आज उसे वैष्णव रूप देने पर भी मूलतः ऋषभ पूजा का केन्द्र रूप ही है । इसलिए कहा जाता है कि जगन्नाथ अनुष्ठानिक रूप में जैन हैं । जगन्नाथ की जो आकृति है वह जैन प्रतीक बद्धमंगल और नमीपद का संयुक्त रूप है—यह लक्ष्य करने योग्य है ।

असम में जैन धर्म

ईसा की सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग (चीनी यात्री) भारत भ्रमण के लिए आए थे । इसी सिलसिले में पुण्ड्रवर्द्धन की यात्रा कर एक वृहद् नदी (करनोया) अतिक्रम कर कामरूप राज्य (वर्तमान गोहाटी अंचल) में गए थे। वहाँ की स्थिति का वर्णन करतेहुए वे लिखते हैं—"कामरूप में सभी देवोपासक हैं । वहाँ एक भी संघाराम नहीं है । जो बौद्ध वहाँ रहते हैं वे अपनी धर्मोपासना छिप कर करते हैं ।" जैन धर्म के विषय में उन्होंने कुछ नहीं लिखा ।

कामरूप से दक्षिण की ओर यात्रा कर वे समतट पहुँचे । समतट यानि श्रीहट्ट व त्रिपुरा अंचल । वहाँ की स्थिति के विषय में लिखते हैं—"यहाँ ३० बौद्ध संघाराम हैं, जिनमें दो हजार से अधिक भिक्षु निवास करते हैं । परन्तु संख्या निर्ग्रन्थों की ही अधिक हैं ।"

पुण्ड्रवर्द्धन और समतट में जब जैनों की संख्या अधिक थी तब कामरूप में एक भी जैन नहीं था ऐसा हो नहीं सकता । शायद उनकी संख्या अल्प होगी । इसलिए ह्वेनसांग ने उनका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा ।

इतने दिनों तक हम भी इस विषय में कुछ नहीं कह सकते थे किन्तु अब ग्वालपाड़े से १४ किलोमीटर पूर्व में अवस्थित सूर्य पहाड़ पर जैन पुरातत्व सामग्री प्राप्त हुयी है। अतः हम अब दृढता के साथ यह कह सकते हैं कि सुदूर अतीत काल में असम में भी जैन धर्म का अनुप्रवेश हुआ था ।

सूर्य पहाड़ पर छोटी-बडी सात टूकें हैं । अतः स्थानीय अधिवासी इसे संताली पर्वत कहते हैं, इस संताली या सूर्य पहाड़ पर एक गुफा में दो तीर्थंकर मूर्त्तियाँ उत्कीर्णित हैं एक है भगवान पद्मप्रभु की दूसरी भगवान ऋषभदेव या भगवान शान्तिनाथ की । इसके बगल की दूसरी गुफा में अन्य देव-देवियों के साथ बारह भुजावाली एक देवी प्रतिमा है, यह प्रतिमा सम्भवतः ऋषभदेव की शासन देवी चक्रेश्वरी देवी की है । अनुसन्धान या उत्खनन करने पर शायद यहाँ और भी जैन पुरातत्व की सामग्री प्राप्त हो सकती है।

इस पहाड़ के २ किलोमीटर आगे मरन और कोदालधोवा नामक दो गाँव हैं जहाँ छोटे-बड़े बहुत से पोखर देखे जाते हैं । मरन गाँव की

२ किलोमीटर परिधि के भीतर पुरातत्व की बहुत सी सामग्री बिखरी पड़ी है। 'पवित्र असम' ग्रन्थ से जाना जाता है कि किसी समय यहाँ विजली राजाओं की राजधानी थी । विजली राजाओं के साथ सूर्य पहाड़ स्थित जैन पुरातत्व का कोई सम्बन्ध है या नहीं यह तो हम नहीं जानते परन्तु राजधानी के अत्यन्त निकट होने के कारण उसकी देख-भाल वे करते थे ऐसा प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त अन्य कोई पुरातत्व वस्तु या साहित्य आज भी अनुपलब्ध है ।

❖❖❖

"जैन धर्म सदृश महान धर्म को पाकर मै धन्य हूँ । मैं प्रतिदिन स्वाध्याय करता हूं । आत्मानुशासन मेरा जीवन-साथी बन गया है ।"

— श्री अल्फ्रेड हडसन, हेडनेस फोर्ड

जैन धर्म और बंग देश

क्षितिमोहन सेन

ब्राह्मण यात्रा के मध्य श्रेष्ठ है धर्म और संस्कृति के प्रचारार्थ निःस्वार्थभाव से विदेश यात्रा करना । बंगाल से अति प्राचीन काल से ही बहुत से जैन और बौद्ध गुरू विभिन्न देशों में गए थे । बंगला देश जो कि एक समय बौद्ध धर्म की बाढ़ में प्रवाहित हो गया था यह सभी जानते हैं । पूराने कथा साहित्य, ग्रन्थ, काव्य, मूर्त्तियाँ, मन्दिर आदि सभी इसके साक्षी हैं । आज भी बंगाल में इन बौद्ध मूर्त्तियों, मन्दिरों के अनेक अवशेष पाए जाते हैं । चीनी पर्यटक, श्रावक आदि भी इसकी गवाही देते हैं । इस बौद्ध धर्म के पूर्व बंगला देश था जैन धर्म स्थल । विशेष रूप से पुण्ड्रवर्द्धन अर्थात् उत्तर बंग में जैनों का ही प्राधान्य था । पहाड़पुर भी पहले से ही जैन भूमि था ।

क्रमशः बंगला देश में जैन धर्म क्षीण होकर बौद्ध धर्म बढ़ने लगा । किन्तु बौद्ध युग में भी जैन धर्म सम्पूर्णतयाः समाप्त नहीं हुआ । ह्वेनसांग ने बहुत से जैन और आजीवकों को उस समय बंगला देश में देखा था । असल में बाहरी लोगों की दृष्टि में जैन और आजीवकों में पार्थक्य खूब कम था । भगवती सूत्र के मत से पुण्ड्रपति महापद्म आजीवकों के भक्त थे । आजीवक और निर्ग्रन्थ जैनों में इतना सादृश्य था कि इन दोनों नामों को लेकर प्रायः गड़-बड़ हो जाती है । बंगला देश में आजीवक और निर्ग्रन्थ जैन दोनों ही सम्प्रदाय वर्तमान थे ।

बंगला देश के ही समीप हिमालय के पाददेश स्थित शाक्य राज्य में बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि थी । इसके पूर्व ही जैन साधना भी बंगाल के आस-पास फैल रही थी, इनकी जानकारी बहुत दिनों तक विदेशी पण्डितों को नहीं थी । कोई-कोई कहते हैं बौद्ध ग्रन्थ में उल्लिखित 'निर्ग्रन्थ नातपुत्त' और कोई नहीं जैन महागुरू महावीर ही हैं । उनके मत में अति प्राचीन निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को शिक्षा और साधना से विशुद्ध और युगोपयोगी कर वर्द्धमान महावीर ने इस धर्म को स्थापित किया ।

इनका धर्म अत्यन्त प्राचीन होने पर भी इनके शास्त्र बहुत दिनों तक

कण्ठस्थ रूप में चलते रहे । वहुत दिनों पश्चात् वे लिपिबद्ध हुए । अनेकों के मत से बौद्ध धर्म लिपिबद्ध होने के बाद जैन धर्म के शास्त्रों का लिपिबद्ध होना प्रारम्भ हुआ ।

जैन धर्म की धारा अत्यन्त प्राचीन है । बहुतों के मत से यह धारा वेदों से भी प्राचीन है ।[1]

इनका आदि शास्त्र है 'चतुर्दश पूर्व' या प्राचीन तत्व । तीर्थंकर महावीर ने अपने शिष्यों को इसी शास्त्र की शिक्षा दी । किसी-किसी के मत से उनके छः पीढ़ी बाद चन्द्रगुप्त के राज्य काल में आचार्य भद्रबाहु हुए जैन संघ के गणनायक । देश में भीषण दुर्भिक्ष होने की संभावना देखकर भद्रबाहु संघ के एक भाग को लेकर कर्नाटक की ओर चले गए । संघ का शेष भाग देश में ही रहा । उनके नेता हुए आचार्य स्थूलभद्र ।

भद्रबाहु समस्त शास्त्रों को अर्थात् चतुर्दश पूर्व को यथावत जानते थे । उनके विदेश चले जाने पर शास्त्रों को ठीक-ठीक रखना कठिन हो गया । अतः स्थूलभद्र के नायकत्व में पाटलीपुत्र में महासभा बुलायी गयी । चतुर्दश पूर्व में से ग्यारह अंग संग्रहीत हुए और विभिन्न स्थानों के विभिन्न प्रकीर्ण अंशों को जोड़कर द्वादश अंग पूरा किया गया । इस जोड़े-तोड़े द्वादश अंगों को लेकर प्रचण्ड मतभेद प्रारम्भ हो गया ।

दुर्भिक्ष के कारण परिव्रजनरत भद्रबाहु कर्नाटक के श्रवण बेलगोल तीर्थ में स्वर्गस्थ हुए । क्रमशः द्वादश वर्ष व्यापी दुर्भिक्ष का अवसान होने पर भद्रबाहु का दल देश लौट आया । बीच में इतना बडा दुर्भिक्ष बीता इसलिए और बहुत दिनों तक एक-दूसरे से दूर रहने के कारण एवं अन्यान्य विभिन्न कारणो से भद्रबाहु और स्थूलभद्र के दलों मे अनेक प्रकार के प्रभेद पाये गए । भद्रबाहु के शिष्य तब भी दिगम्बरत्व आदि संन्यास-आश्रम की प्राचीन सब विधियों का पूर्ण रूप से निर्वहन कर रहे थे, किन्तु स्थूलभद्र के शिष्यों ने श्वेत वस्त्र पहनना प्रारम्भ कर दिया था अतः वे लोग श्वेताम्बरी कहलाने लगे । भद्रबाहु के दिगम्बर साधुओं ने स्थूलभद्र परिचालित पाटलीपुत्र की महासभा में श्वेताम्बरों द्वारा संग्रहीत शास्त्रों को स्वीकार नहीं किया । दिगम्बर-श्वेताम्बर का यह विभेद आज भी नहीं मिटा है । अव तो तीर्थ-तीर्थ में इनके विरोध होते ही रहते हैं। सम्मेत शिखर या पार्श्वनाथ पर्वत के लिए उभय दलों के मामला-मुकदमा में जो विपुल अर्थ व्यय हुआ है उससे तो रौप्यमय एक

पार्श्वनाथ पर्वत तैयार किया जा सकता था। कुछ दिन पूर्व सन् १९१७ के मई महीने में राजस्थान के केशरियाजी तीर्थ में एक पुरानी ध्वजा संस्कार के उपलक्ष में दोनों दलों में दंगा हो गया जिसमें कितनों के प्राण गए ।

श्वेताम्बरों के जो द्वादश शास्त्र संग्रहीत हुए थे क्रमशः उनके भी नष्ट और लुप्त होने की संभावना हो गयी । ईसा की छठी शताब्दी के आदि भाग में राजा ध्रूवसेन की सहायता से गुजरात के वल्लभी नगर में एक महासभा बुलायी गयी । इस बार सभा का नायकत्व किया गणि (गणगुरू) आचार्य देवर्द्धि ने । आचार्य क्षमाश्रमण नाम से भी वे अभिहित होते थे ।

उस समय मात्र ग्यारह अंग प्रचलित थे । द्वादसवाँ अंग नष्ट हो गया था । अतः लोगों को जो भी स्मरण था उसे ही पुनः संग्रहीत कर लिखा गया और यथायथ रूप से रक्षा की गयी । इसके बाद से श्वेताम्बर जैन शास्त्र उसी तरह चला आ रहा है । विशेष कोई परिवर्तन नहीं हुआ ।

पहले ही कहा गया है— बंगला देश में बौद्ध धर्म के पूर्व जैन मत का ही प्राधान्य था । बाँकुड़ा, मानभूम, मेदिनीपुर आदि जिलों में अर्थात् राढ़ देश में जैन मूर्त्तियाँ सर्वत्र पायी जाती हैं । पुरूलिया से पाँच मील दूर छररा ग्राम में १९१८ ईस्वी में चूनीबाबू और डा० ए० जी० बनर्जी शास्त्री ने अनेक मूर्त्तियों को खोज निकाला था । दामोदर नदी के तट पर बाँकुड़ा जिले के सीमान्त स्थित तेलकूपी ग्राम मे खूब बड़ी-बड़ी अनेकों जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं । शायद वहां कोई जैन बिहार या तीर्थ स्थान था । मानभूम के पातकूम में नदी तट पर चारों ओर देखी जाती है केवल पाषाण मूर्त्तियाँ । उनमे अधिकांश ही जैन तीर्थंकरों की हैं ।

पंचकोट राज में बहुत जैन मूर्त्तियाँ हिन्दू देवताओं के रूप में पूजी जाती है । उसके पूजक सब ब्राह्मण हैं पर किसी-किसी मूर्त्ति के नीचे तो जैन लेख भी वर्तमान हैं । स्वर्गीय राखालदास बन्द्योपाध्याय महाशय इसीलिए दो एक मूर्त्तियाँ वहाँ से उठा भी लाए थे— जिसकी चर्चा उन्हीं के निकट सुनी थी । फिर भी उन्होंने कम ही जैन मूर्त्तियाँ देखी थी ।[2]

अनेक स्थानों में ये मूर्त्तियाँ भैरव नाम से परिचित है । कहीं-कहीं जैन मूर्त्तियों के सामने पशुबलि भी दी जाती है । प्रवासी सम्पादक श्री रामानन्द बाबू से भी उनके देश की बहुत-सी जैन मूर्त्तियों के विषय में सुना है ।

६२वें अब्द में (कोन अब्द?) राढ़ के जैन साधु के अनुरोध से मथुरा में जैन मूर्त्ति स्थापित हुई ।[3]

४७९ ख्रीष्टाब्द का एक जैन लेख और कुछ प्रस्तर मूर्त्तियाँ पहाड़पुर में भी पायी गयी हैं ।[4]

वट गोहाली बिहार के अर्हत मन्दिर में धूप-दीपार्थ एक ब्राह्मण दम्पति को भूमिदान करते हुए देखा गया है । इसके विहारपति थे निर्ग्रन्थ गुरू गुहनन्दी ।[5]

पहाड़पुर तो जैन धर्म का केन्द्रस्थल ही लगता है ।[6]

बंगला देश में प्राप्त जैन मूर्त्तियों में अधिकांश ही दिगम्बर हैं । बंगला देश में जैन मूर्त्ति निर्माण की प्रणाली भी कुछ स्वतन्त्र है । शायद उनका ध्यान और विधि की कुछ विशेषता थी । (प्रमोदलाल पाल, इण्डियन कल्चर, भाग-३, पृ० ५२९-५३०) यहाँ जैन मूर्त्तियों में पालयुग के शिल्प का प्रभाव ही लक्षित होता है ।

'वसन्त विलास' के अनुसार चालुक्य राजा वीर धवल के मन्त्री बसन्तपाल की तीर्थ यात्रा के समय उनके साथ जितने संघपति थे उनमें कोई गौड़बंग के संघी या संघपति भी थे । इससे लगता है तेरहवीं शताब्दी में भी बंगाल में यथाविधि जैन-संघ था । पहाड़पुर बिहार पहले जैन विहार था बाद में बौद्ध विहार हो गया ।

विख्यात ज्योतिर्विद पण्डित मल्लिकार्जुन सूरि, गणपति, विष्णु आदि को नमस्कार करने पर भी नाम से ही जाना जाता है ये जैन थे । द्वादश शताब्दी में वे बंगला देश में जीवित थे ।[7]

राढ़ देश के अतिरिक्त वरेन्द्र भूमि में एवं मध्य और पूर्व बंग में बहुत जैन मूर्त्तियाँ पायी गयी हैं । यहाँ तक कि सुन्दरवन के मध्य भी काँटाबेड़े ग्राम में एक पार्श्वनाथ की मूर्त्ति पायी गयी हैं । कुलपी थाने के अन्तर्गत घण्टेश्वरी ग्राम में आदिनाथ की मूर्त्ति और मन्दिर के सन्धान पाए गए हैं । श्रीयुक्त कालिदास मित्र महाशय ने सुन्दरवन में प्राप्त दस मूर्त्तियों का उल्लेख किया है ।[8]

सुन्दरवन में मथुरा थाना की ३९ नं० तौजी में २४ नं० लाट में रायदीघि की नदी से दो हाथ ऊँची दिगम्बर मूर्त्ति पायी गयी है । यहाँ ई प्लट में

इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ की मूर्त्ति पायी गयी है । मूर्त्ति श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है । घण्टेश्वरी ग्राम में आदिनाथ मूर्त्ति पायी गयी है । इसी खाड़ी मण्डल में पार्श्वनाथ मूर्त्ति भी है । इसके अतिरिक्त बहुत सी बौद्ध मूर्त्तियाँ भी वहाँ पायी गयी हैं ।[9]

अब प्रश्न उठता है कि बंगला देश में जैन मूर्त्तियों की इतनी अधिकता क्यों? निश्चय ही एक समय इस देश में जैन मत का विशेष प्रभाव था । इन सब विषयों पर मैंने बहुत समय पूर्व मेरे द्वारा लिखित 'जैन धर्म की प्राणशक्ति' प्रबन्ध में आलोचना की है । यहाँ कुछ नवीन तथ्यों सहित उसी प्रबन्ध की कुछ बातें पुनः उपस्थित की है।

पाल राजाओं के समय जैन धर्म क्षीण हो गया था व बौद्ध-धर्म प्रबल था । बंगाल की अधिकांश मूर्त्तियों में पालयुग की शिल्प-प्रणाली परिलक्षित होती है ।

पारसनाथ पर्वत का जैन नाम है सम्मेत गिरि । यहाँ जैनों के २४ तीर्थंकरों में २० तीर्थंकरों का निर्वाण हुआ है । प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण स्थल है कैलास, बारहवें वासुपूज्यका भागलपुर के चम्पापुरी में, बाइसवें नेमीनाथ का गिरनार अर्थात् रैवतक पर्वत पर व चौवीसवें तीर्थंकर महावीर का राजगृह, बिहार के निकट पावापुरी में । शेष बीस तीर्थंकर इस प्रकार है— अजितनाथ, सम्भवनाथ या शम्भुनाथ, अभिनन्दन या अभयानन्द, सुमतिनाथ, पद्मनाथ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, सुविधि या पुष्पदंत, शीतलनाथ, श्रेयांसु या श्रेयांसनाथ, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ या मल्लनाथ, सुव्रतनाथ, नेमिनाथ व पार्श्वनाथ । इन सबका निर्वाण तीर्थ है सम्मेत गिरि । शेष तीर्थंकर पार्श्वनाथ के नाम से यह तीर्थ अब पार्श्वनाथ पर्वत कहलाता है ।

समस्त जैनमत पर विचार कर अनेकों ने निर्णित किया कि महावीर का निर्वाणकाल ४६७ ख्रीष्ट पूर्व होना चाहिए । यद्यपि पूर्ववर्त्ती अनेकों के मत से ५४५ ख्रीष्ट पूर्व होना चाहिए । परन्तु अब अनेकों ने इसे अस्वीकार किया है ।[10]

पार्श्वनाथ का जन्म तो उनसे भी २५० साल पहले हुआ । पूर्ववर्त्ती तीर्थंकर तो और भी प्राचीन है । सहज ही समझा जा सकता है कि सम्मेत शिखर कितना प्राचीन जैनतीर्थ है । यहीं से आरम्भ होकर राढ़ मेदिनीपुर

प्रभृति जिलों से होते हुए जैन धर्म ने उड़ीसा में प्रवेश किया। भुवनेश्वर के खण्डगिरि की नाना गुफाएँ मन्दिर और शिलालिपियों से जाना जाता है कि ख्रीष्ट पूर्व पंचम शताब्दी से खृष्टीय छठी शताब्दी पर्यन्त जैन प्रभाव कलिंग देश में प्रतिष्ठित था।[11]

आलोचना के अभाव में एवं परम्परा नष्ट होने से बाँकुड़ा, मानभूम, वर्द्धमान, वीरभूम आदि जिलों के बहुत से स्थानों में अब भी अति प्राचीन जैन मूर्त्तियाँ लोक नेत्र के अन्तराल में पड़ी हुई हैं।

अभी भी उन मूर्त्तियों के विषय में समुचित अनुसंधान नहीं हुआ है। कितनी मूर्त्तियों का संधान पण्डितों ने पाया है? शायद दो-चार मूर्त्तियों की ही मात्र खोज-खबर हुई है।

आचारांग सूत्र में देखा जाता है तीर्थंकर वर्द्धमान ने जो बारह वर्ष तक तपस्या की थी उसमें उन्हें राढ़ देश के जंगल के मध्य बहुत कष्ट (उवसग्ग) उठाना पड़ा था। "लाढ़ की वज्जभूमि और सब्बंभूमि तृणों, मक्खी-मच्छरों से भरा है। रास्ते नहीं थे—कु-शय्या में कु-आसन पर उन्हें दिन व्यतीत करने पड़े।"[12]

"वहाँ के लोगों ने उनपर आक्रमण किये ओर उसी कठोर देश में जहाँ लोग धर्म मानते थे वहाँ भी उनपर कुत्तों का आक्रमण हुआ।"[13]

"अनेको ने इन कुत्तों को रोकने की अपेक्षा छुक-छुक कर उन्हें उकसाया और उनके पीछे लगा दिया।"[14]

"इसीलिए वज्जभूमि के भिक्षु कठिन खाद्य के अभ्यस्त हैं और आत्मरक्षा के लिए लाठी एवं नली व्यवहार करते हैं।"[15]

"प्राणियों के प्रति दण्ड-व्यवहार के त्यागी अनगारिक भगवान ने नाना भाव के ग्राम कण्टक (कुव्यवहार, कुवाक्य आदि) को सहा था।"[16]

"इसी लाढ़ देश के किसी-किसी ग्राम में प्रवेश करने लगे तो प्रवेश ही नहीं करने दिया (अलंक पुव्वो)।"[17]

इस लाढ़ को कोई गुजरात का दक्षिण भाग कहते हैं। कोई राढ़ कहते हैं। जैकोबी कहते हैं—यह वंगला का राढ़ देश था।[18] इस वर्णन के वाद लोभ के वशीभूत होकर दावा करने जैसा कुछ नहीं है।

आज भी वंग देश के आचार-व्यवहार के मेल-वेमेल में जैनों के बहुत

से आचार व मत का परिचय मिलता है । जन्म के पश्चात् जातक के छठवें दिन जो षष्ठी देवी की पूजा होती है उसमें बंगाल की माताएँ यह सोचकर कि देवी आकर सन्तान के कपाल पर उनका भविष्य लिखेंगी उनकी प्रतीक्षा करती रहती है । जैनों में इस आचार का विलक्षण प्रचलन है ।[19]

श्रमण बेलगोल की लिपि में भी नन्दी गच्छ का उल्लेख है ।[20] गुप्तिगुप्त के शिष्य मेघनन्दी नंदी संघ के प्रतिष्ठाता थे ।[21] दिगम्बर पत्र 'जैन सिद्धान्त भास्कर' के मत से इस संघ के गुरूओं की उपाधि प्रायशः नन्दी, चन्द्र, कीर्ति और भूषण है ।

इस गण के मध्य ये नाम उल्लेखनीय हैं—

नन्दी	४३५	ख्रीष्ट	पूर्व
मेघनन्दी	१७	,,	,,
देवनन्दी	२५	ख्रीष्ट	अब्द
जयनन्दी	२९६	,,	,,
गुणनन्दी	३०७	,,	,,
वज्रनन्दी	३२९	,,	,,
कुमारनन्दी	३६०	,,	,,
भानुनन्दी	४५१	,,	,,
नयननन्दी	४६८	,,	,,
बसुनन्दी	४७४	,,	,,
बीरनन्दी	५०४	,,	,,
रत्ननन्दी	५२८	,,	,,
माणिक्यनन्दी	५४४	,,	,,
विष्णुनन्दी	६६९	,,	,,
श्रीनन्दी	७०८	,,	,,
धर्मनन्दी	७५१	,,	,,
विद्यानन्दी	७८३	,,	,,

इनके अतिरिक्त और भी १० नन्दी हैं ।

सेन उपाधिधारी गुरूओं के नाम हैं—

जयसेन	२९८	ख्रीष्ट	पूर्व

नागसेन	२८०	,,	,,
कृष्टिसेन	२४८	,,	,,
विजयसेन	२३२	,,	,,
धर्मसेन	१८४	,,	,,
ध्रुवसेन	९३	,,	,,

इसके अलावा सेन गण में जिनसेन, रविसेन, रामसेन, कनकसेन, बन्धुसेन, विष्णुसेन, मल्लिसेन, भवसेन, अजितसेन, गुणसेन (प्रथम), सिद्धसेन, वीरसेन (प्रथम), जिनसेन (द्वितीय), नमिसेन, छत्रसेन, आर्यसेन, ब्रह्मसेन, सूरसेन, दुर्लभसेन, धर्मसेन (द्वितीय), श्रीसेन, लक्ष्मीसेन, सोमसेन, धरसेन भी हैं ।

इनके अलावा और भी १५ व्यक्ति इस सेनगण में हैं ।

तदुपरान्त 'जैन सिद्धान्त भाष्कर' में प्रकाशित काष्ठ संघ के २३ सेन नामधारी गुरूओं का परिचय मिलता है ।

दिगम्बरों के मूल और अन्यान्य ग्रन्थों में चन्द्र और भद्र उपाधिधारी भी हैं । चन्द्रनामधारी तो असंख्य गुरू हैं । शुभचन्द्र की एक शाखा ही है । जिनचन्द्र (प्रथम) (८० ख्री° पूर्व), प्रभातचन्द्र, नेमीचन्द्र, मेघचन्द्र, श्रीचन्द्र, रामचन्द्र, अभयचन्द्र, नवचन्द्र, नागचन्द्र, हरिचन्द्र, महीचन्द्र, माघचन्द्र, लक्ष्मीचन्द्र, गुणचन्द्र, लोकचन्द्र, भवचन्द्र, महीचन्द्र व अन्य २४ गुरूओं के नामांश में चन्द्र मिलता है ।

भद्रनामांशधारी भी है, यथा–यशोभद्र (३९ ख्री पूर्व), समन्तभद्र, गुणभद्र, समन्तभद्र (द्वितीय), इत्यादि । इन सब तालिकाओं को भलीभाँति देखना हो तो पूरणचन्द्र नाहर कृत 'ऐन एपिटम आफ जैनिज्म' पुस्तक के अन्त में देख सकते हैं ।

बंगालियों में नाम के मध्यांश में 'चन्द्र', 'नाथ' आदि जो मिलता है वह शायद जैनों का ही प्रभावजात है ।

भारतवर्ष में बंगालियों के नाम ही अर्थयुक्त व सुन्दर है । अनेको का मत है कि यह जैन प्रभाव जन्य है ।

आदिनाथ, पार्श्वनाथ नाम बंगाल में बहुत दिनों से ही चला आ रहा है । इसका भी मूल जैन धर्म है ।

बंगाल में प्रचलित पद्मपुराण की बेहुला की कहानी के लिए कुछ लोग कहते हैं यह कहानी जैनों से ही ली गयी है । जैनों में भी पद्मपुराण है ।

उसके ग्यारहवें सर्ग में श्री पार्श्वनाथ चरित में पाया जाता है 'सर्पो' के अधिपति पद्मावती के साथ आकर उपस्थित हुए ।

पद्मावत्या समं देवम् उपतस्थौ फणीश्वरः ।

— श. ११, श्लोक ७७

फिर कुछ कहानियाँ जैनों के कथा-कोष में भी ऐसी ही नाग देवताओं की कहानियाँ मिलती हैं ।

अन्तिम जैन तीर्थंकर महावीर का निर्वाणकाल किसी के मत से ४६७ ख्रीष्ट पूर्वाब्द है । कोई-कोई कहते हैं ४८० से ४९० ख्रीष्ट पू° में उनका निर्वाण हुआ (जैनिज्म इन नार्दर्न इण्डिया, पृ° ३१) । कोई कहते हैं उनके तीन शिष्य थे । उन्हें तीर्थंकर न कहकर केवली अर्थात् पूर्णज्ञानी कहा गया है । इनके बाद हुए पाँच श्रुत केवली । अन्तिम श्रुत केवली हुए भद्रबाहु । अर्थात् महावीर से आठवें । किन्तु यह बात उनकी अपनी रची कल्पसूत्र के आधार पर ही गलत हो जाती है ।[22]

भद्रबाहु थे सम्राट चन्द्रगुप्त के समसामयिक व उनके गुरू । चन्द्रगुप्त सहित भद्रबाहु दक्षिण की यात्रा को गए और श्रमण बेलगोल आकर अपना अन्तिम समय निकट जानकर वहीं मृत्यु की प्रतिक्षा में रह गए एवं शिष्य विशाखाचार्य के तत्वावधान में भिक्षु संघ को महीशूर के पुन्नाटधाम में भेज दिया । यह बात सभी जानते हैं ।[23]

श्रुत केवली भद्रबाहु

स्थानकवासी श्वेताम्बरी कहते हैं—चन्द्रगुप्त के समय उत्तर भारत में भयंकर दुष्काल पड़ा । इस दुर्भिक्ष की सूचना पहले ही मिल जाने के कारण चन्द्रगुप्त के गुरू भद्रबाहु बोले—यदि हम यहाँ रहेंगे तो गृहस्थों को क्लेश होगा । हम परिव्राजक हैं । देशान्तर गमन में हमें कोई बाधा नहीं है अतः दक्षिण देश की यात्रा करें । दुष्काल अन्त होने पर हम लौट आएँगे । संघ का अर्द्धभाग अर्थात् १२ हजार भिक्षु इस पर तैयार हो गए । शेष अर्द्धभाग आचार्य स्थूलभद्र के नेतृत्व में वहीं रह गए । दुर्भिक्षकाल में भिक्षा प्राप्ति में विभिन्न प्रकार की बाधाओं के कारण भिक्षुगण वस्त्रादि पहनने लगे एवं और भी कई प्रकार की शिथिलताएँ आ गयीं । दुर्भिक्ष के पश्चात् इन नियमों की पुनः प्रतिष्ठापना नहीं हो पायी । अतः भद्रबाहु का दल दिगम्बर रह गया और स्थूलभद्र का दल श्वेताम्बर हो गया ।[25] (क) पूर्व ही इस दक्षिण यात्रा

की बात कह आया हूँ । दिगम्बरी लोग कहते हैं महावीर की आठवीं पीढ़ी पर भद्रबाहु के समय नियमादि शिथिल हो जाने से अर्द्धफालक मत का उद्‌भव हुआ । क्रमशः इसी से श्वेताम्बर मत चल पड़ा ।

स्थानकवासियों के मत से भी भद्रबाहु की अनुपस्थिति में स्थूलभद्र के दल ने एक महासभा का आह्वान कर प्राचीन शास्त्र संग्रह में प्रवृत्त हुए । उससे एकादश अंग संग्रहीत हुए । द्वादसवाँ अंग का संन्धान नहीं मिला । स्थूलभद्र ने उस द्वादसवाँ अंग को पूरा कर दिया । किन्तु जब भद्रबाहु का दल लौटा तो उसने इस द्वादस अंग को प्रामाणिक नहीं बताया । इसी से मतभेद हो गया ।

जैनों के सकल शास्त्र सब दलों द्वारा स्वीकृत नहीं है । श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय कुछ अंशों को बराबर मानते हैं । कुछ अपने-अपने सम्प्रदाय में आदृत हैं । १४ पूर्व, १२ अंग, १२ उपांग, १० पेन्न या प्रकीर्ण, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र एवं २ स्वतन्त्र नंदी और अनुयोगद्वार सूत्रों को श्वेताम्बरी स्वीकार करते हैं दिगम्बरी नहीं करते ।

आचार्य विण्टरनिट्‌ज कहते हैं आचारांग सूत्र के द्वितीय भाग का बहुत सा अंश परवर्त्ती है । इसके विभिन्न अंश चुलाएँ अर्थात् परिशिष्ट कही जाती है । इससे ही समझा जा सकता है ये सब मूल शास्त्र में बाद में जोड़ी गयी है । तृतीय चूलिका में महावीर के जीवन के जो सब उपादान हैं भद्रबाहु के कल्पसूत्र में वही सब काम आई है ।[26] (क)

अभिधान राजेन्द्र के मत से भी चूला का अर्थ उत्तर तन्त्र दिया हुआ है।

विण्टरनिट्‌ज के मत से कल्पसूत्र के तीनों अंश एक ही व्यक्ति की रचना नहीं हो सकती ।

कल्पसूत्र का तृतीय अंश समाचारी यतियों के पज्जूसनकालीन नियमावली है । लगता है यही इस ग्रंथ का प्राचीनतम अंश है । पज्जूसन अर्थात् वर्षाकालीन पर्यूषण के उत्सव में कल्पसूत्र का पाठ किया जाता है अतः इसका नाम पज्जूसन कल्प है । पर्यूषण के साथ तृतीय अंग की ही संगति है । कहते हैं पहले कल्पसूत्र जैन शास्त्र के अर्थात् सिद्वान्तों के अन्तर्गत नहीं था । देवर्द्विगणि ने इसे सिद्धान्तभुक्त कर लिया । यह बात असंगत नहीं है ।

जैनाचायों के मत से एक भद्रबाहु ही विस्मृत सब पूर्वों को जानते थे । नवम पूर्व से ही तृतीय, चतुर्थ छेद सूत्र उन्होंने संकलित किया था । 'दशाओ'

उन्हीं की रचना है । नियुक्तियाँ है छन्दोवद्ध संक्षिप्त टीका । वह भी भद्रबाहु की रचना के रूप में ही प्रसिद्ध है ।

भद्रबाहु संहिता जैनों का एक प्रख्यात् स्मृति शास्त्र ग्रन्थ है । इसमें बारह हजार श्लोक हैं । एक सम्पूर्ण ग्रन्थ झाला के पाटन ग्रन्थ संग्रह में है । जे० एल० जैनी महाशय ने सम्पति विभाग सम्बन्ध में दो प्रकरण उससे लेकर पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित किया है । आरा जैन ग्रन्थ प्रचारमाला से वह प्रकाशित हुआ है ।

दिगम्बर और श्वेताम्बर मतों के सम्बन्ध में दोनों में ही विभिन्न प्रकार की इतनी किंवदन्तियाँ है कि जिसका अन्त नहीं है ।

स्थानकवासी कहते हैं ८३ इसाई में एक दुर्बलचित्त बज्रसेन नामक राजा थे । उसी के समय यह विच्छेद हुआ । श्वेताम्बर लोग कहते हैं— शिवभूति नामक एक भिक्षु को राजा ने रत्न-कम्बल दिया । अन्य साधुओं ने कहा— भिक्षुओं को ऐसा बहुमूल्य कम्बल ग्रहण नहीं करना चाहिए । अतः उन्होंने कम्बल फाड़कर टुकड़े-टुकड़े कर डाले । और उन टुकड़ों को धूल झाड़ने के रूप में व्यवहार करने लगे । शिवभूति दुःखी होकर बोले— यदि इस कम्बल का व्यवहार करना अन्याय है तो कुछ भी व्यवहार मत करो । ऐसा कहकर वे वस्त्र त्यागकर दिगम्बर हो गए । यही दिगम्बरों की आदि कथा है ।

इस विषय को लेकर इतना साम्प्रदायिक मतभेद और तर्क है कि हमलोगों के लिए आदि से अन्त तक इसकी आलोचना करना सम्भव नहीं है । जैनों में भी कोई-कोई प्राचीन सम्प्रदाय लुप्त हो गये हैं । वे सम्प्रदाय अव दिखलाई नहीं पड़ते । जायसवाल कहते हैं— कर्नाट लिपि में यापनीय संघ का उल्लेख मिलता है जो कि एक ऐसा ही संघ था ।[26]

रत्न नंदी ने अपने भद्रबाहु चरित्र में भी इसका उल्लेख किया है ।[27]

भद्रबाहु का चरित्र ही अभी हमारा असली लक्ष्य है । पहले ही कह आया हूँ महावीर के बाद जो महापुरूष हुए वे या तो केवली थे या श्रुतकेवली। श्रुत केवलियों में अन्तिम महापुरूष यही भद्रबाहु थे । उनके रचित कल्पसूत्र जैनों का प्रसिद्ध ग्रन्थ है । पहले ही कहा गया है चातुर्मास के पर्यूषण उत्सव में इसको अति श्रद्धा के साथ पढ़ा व सुना जाता है ।

इसके पाँच अध्याय में महावीर चरित्र लिखा गया है । उसके वाद पार्श्व

और अरिष्टनेमि चरित्र है । उसके वाद है मध्यवर्त्ती तीर्थंकरों के युग का वर्णन । तत्पश्चात् है ऋषभ चरित्र और इसके बाद स्थविरावली की एक सुदीर्घ तालिका । सबके अन्त में समाचारी अर्थात् यति धर्म का वर्णन है । यह बहुत कुछ बौद्ध भिक्षुओं के विनय शास्त्र जैसा है ।

सिद्धान्त शास्त्र का चौथा भाग है छेदसूत्र । छेदसुत्र का ही अंग है यह कल्पसूत्र । असल में छेदसूत्र में ही यतियों के सब नियम लिखे हुए हैं । छेदसुत्र के मध्य कल्प और व्यवहार सूत्र भद्रबाहु का है । आचार्य विन्टरनिट्ज आदि के मत से छेदसूत्र का अनेक अंश अत्यन्त प्राचीन है । 'आचार दशाओं' के रचयिता भद्रबाहु हैं ।[28]

स्टिवेन्सन कहते हैं दशाश्रुत स्कन्ध अष्टमाध्ययन एवं प्रत्याख्यान की नौ शाखाओं का अवलम्बन लेकर भद्रबाहु ने इस कल्पसूत्र की रचना की ।

मत विशेष में भद्रबाहु यद्यपि महावीर की आठवीं पीढ़ी में थे फिर भी उनकी स्वरचित थेरावली या स्थविरावली के अनुसार वे महावीर की छठी पीढ़ी में थे । उनके मत से

काश्यप गोत्रीय तीर्थंकर	महावीर	उनके शिष्य
अग्निवेशायन गोत्रीय आर्य	सुधर्मा	उनके शिष्य
काश्यप गोत्रीय आर्य	जम्बू	उनके शिष्य
कात्यायन गोत्रीय आर्य	प्रभव	उनके शिष्य
वास्तगोत्रीय आर्य	सय्यंभव	उनके शिष्य
तुंगिकायन गोत्रीय आर्य	यशोभद्र	उनके शिष्य
प्राचीन गोत्रीय आर्य	भद्रबाहु एवं	
माठेर गोत्रीय आर्य	सम्भूत विजय	उनके शिष्य

यहाँ संशय होता है थेरावली क्या उनकी रचना है, होने से क्या वे स्वयं को आर्यों के मध्य रख सकते थे ? और इसके बाद भी बहुत लम्वी परवर्ती वंशावली दी गयी है यह क्या उनके लिए देना सम्भव था ? उनकी थेरावली में ही संक्षिप्त और विस्तृत जो दो प्रकार की धारा है यदि यह उनकी अपनी रचना होती तो यह संगत भी नहीं होता, संभव भी नहीं होता ।

भद्रबाहु के सम्बन्ध में हमारे कौतूहल का कारण क्या है ?

दिगम्बर जैन रत्न नन्दी का जो भद्रबाहु चरित्र मिलता है उसमें उनके

मत से भद्रबाहु का जन्म पौण्ड्रवर्द्धन में अर्थात् उत्तर बंग में हुआ । रत्न नन्दी का भद्रबाहु चरित्र ही अधिक प्रचलित है । विशेषतः जबकि अनेकों के मत से भद्रबाहु के दलके साथ मतभेद होने से यहाँ श्वेताम्बर मत का उद्भव हुआ ।

मेरे परम मित्र श्वेताम्बर मतावलम्बी संन्यासी मुनिश्री जिन विजयजी ने खरतरगच्छ की जो पट्टावली संग्रह इस शान्ति निकेतन से ही प्रकाशित करवायी थी उसमें देखता हूँ गुरू भद्रबाहु ने सकल सूत्र समूहों की निर्युक्ति रचना की थी एवं उन्होंने ही संघ के कल्याणार्थ उपसर्गहर स्तोत्र की रचना की थी ।[29]

पट्टावली (१) तालिका में देखता हूँ—'भद्रबाहु स्वामी उपसग्गहरं कर्त्ता वीरात १७०' (पृ° ८) । अर्थात् वे उपसर्गहर स्तोत्र के रचयिता थे । महावीर से १७० वर्ष पश्चात् उनका स्वर्गारोहण काल है ।

पट्टावली (२) तालिका में लिखे भद्रबाहु स्वामी प्राचीन गोत्रीय थे, प्रतिष्ठानपुरवासी थे, उपसर्गहर स्तोत्र की रचना द्वारा महोपकारी थे, चतुर्दश 'पूर्व' विद् थे, कल्पसूत्र आवश्यक निर्युक्ति आदि बहुत से ग्रन्थ रचे थे । वे ४५ वर्ष तक गृहस्थवास में, १७ वर्ष तक सामान्य व्रती रूप में, १४ वर्ष तक युगप्रधान पदपर रहकर ७६ वर्ष की उम्र में महावीर के १७० वर्ष पश्चात् स्वर्ग गमन किया (पृ° १६-१७) । याद रहे कि यह सब पट्टावलियाँ बहुत बाद की हैं ।

दिगम्बर पट्टावली के अनुसार कुन्दकुन्दाचार्य प्रथम शताब्दी में हुए थे । कहा जाता हैं कि उनके गुरू भद्रबाहु थे, परन्तु पट्टावली के अनुसार वे भद्रबाहु की पाँचवीं पीढ़ी में थे । भद्रवाहवी संहिता नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ के रचयिता भी कोई भद्रबाहु हैं । जिन्होंने कि बहुत समय पश्चात् जन्म ग्रहण किया था । तो क्या भद्रबाहु एक से अधिक थे ? कारण स्टिवेन्सन कहते हैं ४११ ख्रीष्टाब्द में गुजरातपति ध्रुवसेन के समय एक भद्रबाहु जीवित थे ।[30]

असल में आदि भद्रबाहु चन्द्रगुप्त के समय जीवित थे यही ठीक है । जैन शास्त्रों के मत से उनकी मृत्यु ३५७ ख्रीष्ट पूर्वाब्द में हुई । ध्रुवसेन के समय (छठी शताब्दी का प्रथम भाग) देवर्द्धिगणी ने शास्त्रों का संग्रह किया । उसी से भद्रबाहु के ग्रन्थ और काल आदि निर्णित हुए थे ।[31]

प्राचीनकाल में भाद्रशुक्ला पंचमी को कल्पसूत्र पाठ आरम्भ होता था ।

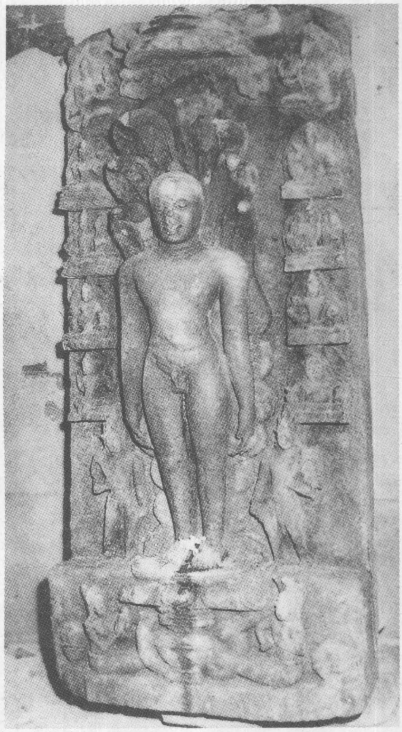

पार्श्वनाथ बांकुरा पश्चिम बंगाल

पाड़ा का प्राचीनतम सराक जैन मन्दिर

पार्श्वनाथ बर्द्धुवान

भिक्षुओं के नियम भंग अपराध स्वीकार कर लेने के बाद यह पढ़ा जाता । अन्य सब साधुगण बैठकर सुनते । ध्रुवसेन के समय इस नियम में कुछ परिवर्तन आया । उसके पुत्र की मृत्यु हो जाने से वह शोकार्त्त हो गया अतः कुछ नियम अदल-बदल हुए और नौ पाठों में यह पाठ समाप्त किया गया ।

पन्द्रह से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य कल्पसूत्र की चार टीकाएँ रची गयीं । यशोविजयजी ने संस्कृत में टीका रची और तीन टीकाकार देवीचन्द्र, ज्ञानविमल और सामय ने सरल भाषा में टीका लिखी ।

जैन साधुओं में जो नियम भंग अपराध स्वीकृत होता उसी से लगता है ख्रष्टीय कनफेसन की प्रथा प्रचलित हुई ।[32]

बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियों के मध्य भी यही अपराध स्वीकार करने की प्रथा विलक्षण रूप में प्रचलित थी । प्रतिमोक्ष ग्रन्थ ही उसका प्रमाण हैं ।

आचार्य जैकोबी कहते हैं भद्रबाहु के पश्चात् जैन मत अधिक कुछ परिवर्तित नहीं हुआ ।

जैन शास्त्र रचना के साथ-साथ निर्युक्तियों (निज्जुति) की रचनाएँ भी हो रही थीं । देवर्द्धि के समय जो सब शास्त्र ग्रन्थ रचित हुए उसके पूर्व ही जैन भिक्षुओं ने टीका जैसी कितनी ही निर्युक्तियों की रचना आरम्भ कर दी थी । चतुर्थ कल्पसूत्र के 'पिण्ड' एवं 'ओघ निज्जुक्ति' शास्त्रवत् मान्य है यद्यपि ओघ निज्जुक्ति किन्हीं पूर्वो से गृहीत है । इसमें धर्म-जीवन की कथा और साधना के नियमादि आलोचित हुए हैं ।

इन सभी टीकाकारों में भद्रबाहु प्राचीनतम है । उन्होंने शास्त्रों के भिन्न-भिन्न विषयों पर दस निज्जुक्तियों की रचना की है । आचारांग, सूत्रकृतांग, सूर्यप्रज्ञप्ति, दसश्रुतस्कन्ध, कला, व्यवहार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित दस विषय है । बनारसीदास जैन के मत से उनकी आवश्यक निर्युक्ति ही पूर्व भव अर्थात् ऋषभदेव के पूर्व जन्म के प्राचीनतम प्रामाणिक ग्रन्थ है ।

१९१९ ख्रीष्टाब्द में निर्णय सागर प्रेस से वेणीचन्द्र शाह ने ओघनिर्युक्ति का एक पत्राकार संस्करण प्रकाशित किया । उसके मूख्य पत्र में लिखा है–

'श्रुतकेवली श्रीमद् भद्रबाहु विरचित निर्युक्ति श्रीमद् पूर्वाचार्य विरचित भाष्ययुतानवांगी वृत्तिशोधक निर्वृत्ति, कुलभूषण श्रीमद् द्रोणाचार्य सूत्रित वृत्तिभूषिता श्रीमती ओघनिर्यूक्ति ।'

श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्दार ग्रन्थ माला के ४१ नं० ग्रन्थ है, 'श्रीपिन्डनिर्युक्ति' । वह भी है श्री भद्रवाहु स्वामी प्रणीता, सभाष्या, श्रीमन्मलयगिर्याचार्य विवृता ।

'उवसग्गहर स्तोत्र' यदि भद्रवाहु द्वारा रचित है तो वह प्राचीनतम जैन स्तोत्र की रचना है । यह पार्श्व के उद्देश्य से रचित स्तोत्र है ।

पूर्व उल्लिखित ज्योतिष ग्रन्थ भद्रवाहवी संहिता लगता है और किसी भद्रबाहु की है । वराहमिहिर जैन ज्योतिषाचार्य सिद्धसेन के नाम करने पर भी भद्रबाहवी संहिता का नाम नहीं किया इससे लगता है यह किसी परवर्ती भद्रबाहु की रचना हैं ।

उनका जीवन चरित्र 'भद्रबाहु चरित्र' जैनों का विख्यात् ग्रन्थ है । किन्तु दिगम्बर मत के चरित्रकार रत्ननन्दी बहुत वाद में जन्में थे । उन्होंने गुजरात के लोकाशाह प्रवर्तित मूर्त्ति विरोधी ढूंढीय सम्प्रदाय का उल्लेख किया है ।[33] ढूंढीय सम्प्रदाय का समय है १४६० ईसाइ । शायद रत्ननन्दी उसी समय के है । कारण उनके लेखन में ढूंढीय मत के प्रति अत्यन्त आक्रमणकारी भाव हैं । रत्ननन्दी बहुत वाद में हुए हैं । लगता है उनका निवास स्थान पश्चिम भारत में था । पूर्व भारत के भौगोलिक संस्थानों से भी उनका परिचय नहीं था इतने दिनों के पश्चात् इतनी दूर की बात लिखने में रत्ननन्दी अनेक भूल तो करेंगे ही फिर भी उनके ग्रन्थ में देखते हैं कि देश के गाँव भी धन-धान्य पूर्ण जनाकीर्ण एवं गोमण्डल विमण्डित थे । यथा—

धनधान्यसमाकीर्णा गोमण्डलसमन्विताः ॥२३

जिस देश के सभी क्षेत्र नदी और बरसात के जल से समृद्ध थे और वहाँ की भूमि अभीष्ट शष्य प्रदान करने में चिन्तामणि सदृश थी ।

नदीमातृक-सदेवमातृक क्षेत्रमस्तिता ।
चिन्तामणीयते यत्र स्वेष्टशस्यप्रदा मही ॥२५
जहां भ्रमर सहित कमलों से सुशोभित सरोवर था ।
सरस्यो यत्र राजन्ते मालि वारिजलोचनैः ॥२६

सारांश यह है कि भद्रवाहु चरित्र ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद के २२-२९ श्लोकों में रत्ननन्दी ने पुण्ड्रवर्द्धन का एक ऐसा चित्र दिया है जिससे लगता है वह एक कल्पलोक था ।

इसी पुण्ड्रवर्द्धन देश में कोट्टपुर नामक एक नगर था । वह नगर एक स्वर्णखण्ड की तरह शोभायमान था । वृहद् उत्तुंग अट्टालिकाएँ, परिखा, प्राकार और गोपुरों के नगरद्वार द्वारा और उत्तुंग प्रासाद पंक्तियों से वह स्थान सुशोभित था ।

तत्र कोट्टपुर रम्य दयोतते नाकखण्डवत् ।
अगाधोत्तुंग साट्टालैः खातिका-शाल-गोपुरैः ॥
प्रोत्तुंग शिखरा यात्रात्वभुः प्रासाद पंक्तयः ॥३०-३१॥

पुण्ड्रवर्द्धन तो लगता है मालदह दिनाजपुर वरेन्द्र आदि गौड़ भूमि है । किन्तु यह कोट्टपुर नगर है कहाँ ? रत्ननन्दी कहते हैं—वहाँ निर्मल शुभ पुण्य-पिण्ड की तरह समुज्ज्वल भव्यजनों से सेव्य जिनालय विराजित थे ।

विशदाः पुण्यपिण्डाभा भव्यसेव्या जिनालयाः ॥३३
वहाँ के समस्त लोगों का जीवन धर्माचरण से दीप्त था ।
तत्रत्यास्तेत्खिला लोका रेजिरे धर्मवर्तताात् ॥३६

प्रथम परिच्छेद के ३०-३६ पर्यन्त सात श्लोकों में कोट्टपुर का लोकोत्तर ऐश्वर्य और महत्व का वर्णन दिया गया है ।

पुण्ड्रवर्द्धन के राजा थे पद्मधर । उन्होंने स्वतेज से अन्य सभी राजाओं को करद कर लिया था ।

तत्रवाजायते भूपः पद्मधराभिधः ।
करदीकृत निःशेष भूपाली निजतेजसा ॥३७

उनकें पुरोहित थे सोमशर्मा । (३९) वे विवेकी थे शुद्ध अन्तःकरण वाले वेद-विद्या-विशारद ।

विवेकी विशादस्वान्ती वेदविद्याविशारदः ॥४०
सबों ने उनके पुत्र का नाम रखा भद्रबाहु । (४८)

तीर्थयात्रा प्रसंग में श्री गोवर्द्धनाचार्य पौण्ड्रवर्द्धन में कोट्टपुर आए । (५५-५७)

प्रतिभाशाली भद्रवाहु को देखकर गोवर्द्धनाचार्य इतने प्रसन्न हुए कि उन्हें अपना शिष्य वनाना चाहा । (७४) पिता-माता ने भी आनन्दपूर्वक इसके लिए सम्मति दे दी । (७७) गोवर्द्धनाचार्य जैनाचार्य थे । भद्रबाहु ने भी जैन

दीक्षा ग्रहण कर ली ।

भद्रबाहु ने अपने गृह लौटकर स्वज्ञान द्वारा सबको पराजित कर जैन मत स्थापन किया (९५-९६) ।

राजा ने भी प्रसन्न होकर उन्हें पुरस्कृत किया । (९७) कुछ दिनों पश्चात् भद्रबाहु ने गोवर्द्धनाचार्य के निकट जाकर संन्यास दीक्षा ही ग्रहण कर ली । (११३-१४)

क्रमशः संघपति गोवर्द्धन ने भद्रबाहु को सकल गुण-सागर समझकर उन्हें अपने पद पर अर्थात् संघपति के पद पर प्रतिष्ठित किया ।

गोवर्द्धनो गणि ज्ञाता समग्र गुणसागरम् ।
स्वपदे योजयामास भद्रबाहु गणाग्रिमे ॥१२६॥

– चतुर्थ परिच्छेद, १५९

द्वितीय परिच्छेद में देखा जाता है कुछ दिनों पश्चात् गोवर्द्धनाचार्य ने तपस्या द्वारा देह-त्याग किया । (२) ऐसे समय में उज्जयिनीराज (रत्ननंदी ने स्थान-स्थान पर ऐसी भूलें की हैं) चन्द्रगुप्त ने एक दुःस्वप्न देखा । (१०-१७) इसका मर्म और कोई समझा नहीं सका । भद्रबाहु ने वह समझा दिया । उससे वैराग्य उदय होने से चन्द्रगुप्त ने पुत्र को अपना राज्य देकर भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण कर ली । (५३-५५)

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने नाना निमित्तों से समझ लिया कि मालव देश में भीषण दुष्काल आने वाला है । वह दुष्काल बारह वर्षों तक रहेगा । अतः साधुओं का अब यहाँ रहना उचित नहीं । (७०-७२)

इस पर कुबेर मित्र आदि श्रेष्ठी बोले— 'प्रभु, कोई भय नहीं है । हमलोगों के पास बहुत अर्थ संचित है । (७५-७६) किन्तु भद्रबाहु समझ गए, इससे चलेगा नहीं, अतः वे कर्नाट देश की यात्रा के लिए प्रस्तुत हो गए । (८६)

किन्तु रामल्यस्थ स्थूलाचार्यलभद्रादि साधुगण इनके साथ नहीं गए । वे श्रेष्टीगणों की बात मानकर देश में ही रह गए । (८८)

भद्रबाहु दक्षिण देश को चले । (९०) उनके साथ बारह हजार तपस्वियों ने भी यात्रा की ।

द्वादशर्षिसहस्त्रोण परीतो गणनायकः । (९९)

तृतीय परिच्छेद के वर्णन में है कि जाते-जाते भद्रबाहु समझ गए उनका

अन्तिमकाल सन्निकट है, एतदर्थ उन्होंने विशाखाचार्य को संघ को ले जाने का भार देकर उन्हें संघपति पद पर आसीन किया ।

विशाखाचार्य उन्हें छोड़कर अग्रसर होने को सम्मत नहीं हुए । उस समय उस संघ में दीक्षा ग्रहण किए हुए सम्राट चन्द्रगुप्त भी थे । गुरू के निषेध करने पर भी उन्होंने भद्रबाहु की सेवा का भार अंगीकार कर लिया और संघ को अग्रसर होने का अनुरोध किया ।

विशाखाचार्य संघ सहित चोलदेश में उपस्थित हुए । भद्रबाहु गुफा में रहकर तपस्या द्वारा देह-त्याग करने को उद्यत हुए । साथ में थे केवल चन्द्रगुप्त । उस समय उनका नाम था प्रभाचन्द्र ।

यह स्थान उत्तर कर्नाट के कटवप्र पर्वत के निकट है । यह स्थान ही है लोक प्रसिद्ध श्रवण बैलगोल तीर्थ । कलवप्पू पर्वत के ऊपर भद्रबाहु की समाधि अभी भी वर्तमान है । अब उस पर्वत का नाम है चन्द्रगिरि । यहाँ उनके एक मात्र साथी और अनुचर थे चन्द्रगुप्त या प्रभाचन्द्र ।

श्रवणबेलगोल तीर्थ जैनों का महान पूज्य तीर्थ है । जैनों का कहना है चाणक्य भी जैन थे । वृद्धावस्था में चाणक्य ने जैनों की भाँति ही संलेखना व्रत द्वारा प्राण-त्याग करने की चेष्टा की थी ।[34] जैकोवी एवं टॉमस एडवर्ड ने भी इसका समर्थन किया है ।[35]

कहा जाता है चाणक्य जीवन के अन्तिम दिनों में नर्मदा तट पर शुक्ल तीर्थ में जाकर रहे थे । बेलगोला का अर्थ ही है शुक्ल सरोवर ।

चन्द्रगुप्त के जैन धर्म ग्रहण की बात का जायसवाल भी विश्वास करते हैं ।[36]

हेमचन्द्र रचित त्रिषष्टि शलाका पुरूष चरित्र के परिशिष्ट में स्थविरावली चरित्र के अष्टम् सर्ग में चाणक्य और चन्द्रगुप्त कथा का एक सुन्दर उपाख्यान है । वह अन्य प्रकार का है । विस्तार भय से वह यहाँ नहीं दिया गया है ।

पहले ही कह चुका हूँ कि भद्रबाहु अपने भक्त शिष्य चन्द्रगुप्त को लेकर श्रवण बेलगोल रह गए एवं विशाखाचार्य के साथ संघ को महीशूर के दक्षिण पश्चिमांश के पुन्नाट क्षेत्र में भेज दिया ।

बारह वर्ष व्यतीत होने पर देश में सुभिक्ष आया । विशाखाचार्य देश लौटने के लिए उत्तर भारत की ओर उन्मुख होते हुए वहाँ पहुँचे जहाँ श्रुतकेवली

भद्रबाहु से उन्होंने विदा ली थी । वहाँ उन्होंने परलोक गत भद्रवाहु की समाधि के पास सेवारत चन्द्रगुप्त को देखा । विशाखाचार्य ने भी गुरू-समाधि की वन्दना की ।

चन्द्रगुप्त ने भी विशाखाचार्य को वन्दन कर सत्कार किया । किन्तु इस निर्जन प्रदेश में जैन गृहस्थों से रहित स्थान पर चन्द्रगुप्त ने भिक्षु धर्म का पालन कैसे किया होगा मन में यह संदेह कर वे उन्हें प्रतिवन्दना नहीं किए।

बाद में जब उन्होंने चन्द्रगुप्त के शुद्ध चरित्र और आचार को देखा तब उनकी प्रतिवन्दना की । तृतीय परिच्छेद के अन्त में भद्रबाहु के प्रति एक विलक्षण नमस्कार श्लोक दिया हुआ है :

सूर्य की तरह निरन्तर अनन्तगतात्मवृत्ति एवं दुर्बोधान्धकार समूह को दूर करने वाले विशुद्ध चरित्र भद्रबाहु को आकांक्षित आनन्द सिद्धि के लिए नमस्कार करता हूँ ।

निरन्तरामन्त गतान्तवृत्ति निरन्त दुर्बोधतमो वितानम् ।
श्री भद्रबाहुच्चकरं विशुद्ध विमंनमी मीहित शात सिद्धये ॥९९

चतुर्थ परिच्छेद में प्रधानतया विशाखाचार्य के संघ का स्वदेश प्रत्यावर्त्तन और स्थूलाचार्य आदि से मतभेद का वर्णन है । जिससे कि हमें कोई प्रयोजन नहीं है ।

चतुर्थ परिच्छेद के अन्तिम भाग में रत्ननंदी कहते हैं— 'महाराज श्रेणिक के प्रश्न पर वीर जिनेन्द्र ने जिस प्रकार भद्रबाहु चरित्र का वर्णन किया था उसी प्रकार जिन शास्त्रानुयायी मैंने भी भद्रबाहु चरित्र का वर्णन किया है ।'

श्रेणिक प्रश्नतोदु वोचद् यथा वीरजिनेश्वरः ।
तथोद्दिष्टं मयात्रोपि ज्ञात्वा भी जिनसूत्रतः ॥१७१

इससे मालूम होता है रत्ननंदी के पूर्व भी वीर जिनेन्द्र मुनि आदि का रचित और भी कोई भद्रबाहु चरित प्रचलित था ।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरूष चरित में ६३ महापुरूषों का चरित्र वर्णित है । उसके परिशिष्ट भाग में स्थविरावली चरित्र में भी भद्रबाहु का चरित्र वर्णित है । (षष्ठ पर्व, नवम् सर्ग) परन्तु वह अन्य प्रकार है । वहाँ पाते हैं भद्रबाहु नेपाल में थे । उनसे स्थूलभद्र ने दृष्टिवाद अर्थात् द्वादश अंग

की शिक्षा ग्रहण की थी ।

मनोरम श्री कोट्टपुर

चतुर्थ परिच्छेद के अन्तिम भाग में फिर उन्होंने भद्रबाहु के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित की है ।

अमरपुर से भी मनोरम कोट्टपुर में सोम शर्मा ब्राह्मण के घर सुन्दरी सोमश्री के गर्भ से अनेक गुणों के संग आकर पुत्र रूप में जिन्होंने जन्म ग्रहण कर योग्य गुरू का आश्रय लेकर निर्मल ज्ञान दुग्ध-जलधि को उत्तीर्ण किया वे गणनेता भद्र और महागुरू भद्रबाहु मेरे चित्त में दीप्यमान हीं ।

यः श्रीकोट्टपुरे जितामरपुरे सोमादिशर्मद्विजा
दासीदेकगुणाकरोत्ङगजवरः सोमश्रियां सुश्रियाम् ।
प्रोत्तीर्णोत्मलबोध दुग्ध जलर्धि श्रीत्वा गरीयो गुरू
भद्रोत्सौ सम भद्रबाहुगणषेः प्रद्योततां मानस ॥१७२

अन्त में रत्ननंदी ने अपना परिचय बिल्कुल भी नहीं दिया । केवल अपने गुरू का नाम बताकर विदा ले ली । मेरे शिक्षागुरू श्री ललित कीर्त्ति मुनीन्द्र को स्मरणकर मैं श्री रत्ननंदी मुनि ने इस अनघ चरित्र का वर्णन किया है ।

स्मृत्वा श्री ललितादिकीर्त्तिमनुषां शिक्षागुरूं सद्गुरूं ।
चक्रे चारू चरित्र मेतदनघं रत्नादिनन्दी मुनिः ॥१७५

ललितकीर्त्ति थे अनन्तकीर्त्ति के शिष्य ।

यहाँ यह कहना उचित है कि मैंने यह भद्रबाहु चरित्र दिगम्बर सम्प्रदाय के रत्ननंदी के ग्रन्थानुसार वर्णित किया है ।

श्रेणिक राजा के लिए वीर जिनेश्वरकृत जो भद्रबाहु चरित्र है उसमें भी भद्रबाहु का जन्म स्थान पौण्ड्रवर्द्धन है ।

सबसे पुराना भद्रबाहु चरित्र हम जो पाते हैं वह है हरिषेणकृत वृहद्कथाकोष ग्रन्थ में ।

वृहद्कथाकोष ग्रन्थ सिंघी जैन ग्रन्थमाला के सत्रहवें ग्रन्थ के रूप में श्रीयुत आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ है । इसके ३१७वें पृष्ठ पर १३१वें अध्याय में 'भद्रबाहु कथानकम्' अर्थात् भद्रबाहु

की कथा है । उसमें मिलता है :

अथास्ति विषये कान्ते पौण्ड्रवर्द्धननामनि ।
कोटीमतं पुरं पूर्व देवकोट्टं च साम्प्रतम् ॥१
तत्र पद्मरथो राजा नता शेष नरेश्वरः ।
वभूव तखता देवी पद्मश्री रतिवल्लभा ॥२
अस्यैव भूपते रासीत् सोमशर्माभिधे द्विजः ।
रूपयौवनसम्पन्ना सोमश्रीतत्प्रिया प्रिया ॥३
कुर्वानं सर्ववन्धुनां भद्रं भद्राशयो यतः ।
भद्रबाहुस्ततः ख्यातो वभूव तनयोऽनयोः ॥४
भद्रबाहुः समुज्जः सन् वहुतिर्व्रह्मचारिभिः ।
देवकोट्ट पुरान्तेएऽसौ रममाणो वितिष्ठते ॥५

अर्थात् पौण्ड्रवर्द्धन के पूर्व में कोटीपुर नामक एक नगर था । अब उस नगर का नाम है देवकोट्ट । वहाँ पद्मरथ (रत्ननंदी के मत से पद्मधर) नामक एक चक्रवर्ती राजा था । उनकी रानी का नाम था पद्मश्री । इसी राजा के आश्रित सोम शर्मा नामक एक ब्राह्मण था । उसकी स्त्री का नाम था सोमश्री । इन्हीं के पुत्र भद्रबाहु सबके कल्याण-साधन में रत थे । भद्रबाहु उपनयन के पश्चात् बहुत से ब्रह्मचारियों के साथ नगर-प्रान्त पर खेल रहे थे ।

ऐसे समय वर्द्धमान के बाद चौथे आचार्य श्रुत केवली गोवर्द्धन तीर्थयात्रा के लिए कोटि नगर आए ।

ऊर्जयन्तं गिरिं नेमिं स्तोतुकामो महातपाः ।
विहरन् क्वपि संप्राप कोटीनगरमुद्धजम् ॥१०

दिनाजपुर से थोड़ी दूर पर पूर्णभवा नदी के बाएँ तट पर देवीकोट की बात तवाकात्-ई-नासिरि के मध्य पायी जाती है । दिनाजपुर जिले का एक परगना है देवीकोट ।

उन्हें देखकर गोवर्द्धन बड़े ही तुष्ट हुए एवं उन्हें अपना शिष्य बना लिया। कालक्रम से भद्रबाहु ने गोवर्द्धन से दीक्षा ग्रहण की । इस प्रकार भद्रबाहु हुए पंचम श्रुत केवली । इसके बाद की कथा में रत्ननंदी के आख्यान में और हरिषेण लिखित आख्यान में कुछ अन्तर है । फिर भी उनका जन्म पौण्ड्रवर्द्धन

में हुआ यह बात ठीक है ।

यह देवकोट बंगलादेश के वरेन्द्र भू-भाग में था यह भी इस वृहद्कथाकोष में मिलता है ।

पूर्वदेशे वरेन्द्रस्य विषये धनभूषिते ।

देवकोट्ट पुरं रम्यं वभुव भूमि विश्रुतम् ॥— १६वाँ कथानक, पृ० ३०

अर्थात् धनभूषित पूर्व देश के वरेन्द्र विषय में जगद्विख्यात् रमणीय देवकोट नगर था ।

उस नगर में सोमशर्मा नामक एक चतुर्वेदज्ञ षडंगपारग ब्राह्मण निवास करता था । यथा—

सोमशर्मा भवद् विप्रश्चतुर्वेदषडंगधी ॥२

वह विष्णुदत्त से धन लेकर वाणिज्य के लिए विदेश गया । (५म श्लोक) दस्युओं द्वारा धन लूट लिये जाने पर दरिद्र सोमशर्मा को वैराग्य उत्पन्न हुआ । उसने भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण कर ली । किन्तु विष्णुदत्त ने धन के लिए जब पकड़ लिया तो दैवकृपा से वह ऋणमुक्त हुआ ।

इसी ग्रन्थ में ताम्रलिपि में धनी श्रेष्ठी धनदत्त की कथा है । (५६ नं कथानक)

१७०४ ईसाइ में आचार्य देवचन्द्र कर्नाट भाषा में राजावली कथा की रचना की । उसमें भद्रबाहु चरित्र है । वह बहुत-सा रत्ननंदि की कथा के ही अनुरूप है । उससे और भी कुछ तथ्य जाने जाते हैं । इससे पता चलता है भद्रबाहु का जन्म स्थान कोटिकष्ठुर में अर्थात् पौण्ड्रवर्द्धन की राजधानी में था । जैन महागुरू जम्बू स्वामी के समाधि स्थल पर तीर्थयात्रा के लिए ही गोवर्द्धनाचार्य वहाँ श्रुतकेवली विष्णु, नंदीमित्र, अपराजित एवं पाँच सौ शिष्यों सहित आए थे ।

कवि चिदानन्द ने १५४५ ईसाइ में कर्नाट भाषा में मुनिवंशोभ्युदय काव्य कीं रचना की । उसमें भी भद्रबाहु का चरित्र वर्णित है । विस्तार भय से यहाँ उसका वर्णन नहीं दिया है ।

श्रमण बेलगोला आदि दक्षिण के जैन तीर्थो में बहुत से लेखों में भद्रबाहु का नाम और चरित्र उत्कीर्ण है । भद्रबाहु गुफा में भी लेख हैं । उन लेखों को देखने पर इतिहास रसिकों को बहुत से तथ्य मिलेंगे ।

अतः इन विविध प्रकरणों को देखते हुए कहा जा सकता है कि भद्रबाहु पौण्ड्रवर्द्धन अर्थात् उत्तरी बंगाल के निवासी थे ।

भद्रबाहु बंगाली थे यह उनके कल्पसूत्र देखने पर भी कहा जा सकता है । उन्होंने अपने कल्पसूत्र के अन्तिम भाग में यतिधर्म निर्देशक समाचारी शास्त्र में लिखा है—जो साधु और साध्वियाँ स्वस्थ और सबल शरीरी हैं वे पर्युषणकाल में ये नौ वस्तुएँ ग्रहण नहीं करें : दूध, दही, नवनीत, घृत, तेल, शर्करा, मधु, मद्य और मांस ।

मांस तो जैन यतियों को विशेषतया निषिद्ध है । उन दिनों तव क्या वह चलता था ? अथवा मांसाहार के अभ्यस्त पौण्ड्रवर्द्धन के निवासी होने से उन्होंने अन्ततः पयूषणकाल में इस निषेध का विशेष रूप से उल्लेख किया है ?

क्षुद्र नदी की बात में उन्होंने इस प्रकरण में ही कुणाल के पार्श्ववर्त्ती इरावती नदी के बारे में मजाक से कहा है, जिसमें एक पैर डूबाकर, दूसरा पैर बिना डूवाए ही किनारे पर लिया जा सकता है । (१३)

पश्चिम भारत की छोटी-छोटी तथाकथित नदियों को देखने पर बंगला देश के लोगों को ऐसा ही अनुभव होता है ।

स्वास्थ्य विधि सम्बन्ध में भद्रबाहु बड़े ही सावधान थे । वे कहते हैं – पर्यूषणकाल में साधु और साध्वियाँ जिन स्थानों पर मल-मूत्र और थूक गिराते है उन स्थानों को पहले बार-बार अच्छी तरह देखें अर्थात् वे सब स्थान मलिन नही । (५५)

भद्रबाहु के कल्पसूत्र में है जातक के जन्म की छठी रात्रि को षष्ठी देवी आकर शिशु के ललाट पर भविष्य लिख देती है यह बंगाल का एक विशेष विश्वास है । इस संस्कार को महाराष्ट्र कर्नाट तक समग्र जैन देशों में क्या भद्रबाहु ने प्रचलित किया था ? इस संस्कार की बात भी पहले ही कह दी गयी है ।[37]

जैन प्राकृत और जैन अपभ्रंश का बंगला प्राकृत और अपभ्रंश के साथ सादृश्य है । इतना ही नहीं बंगाल की संस्कृति रचना में भी वह अनेक बार पाया जाता है ।

बंगाल के न्याय-शास्त्र और जैन सप्तभंगी न्याय में जो सम्बन्ध है उसकी

आलोचना और भी अच्छी तरह होना आवश्यक है ।

जैन कल्पसूत्र की स्थवरावली के मिलता है कि भद्रबाहु थे प्राचीन गोत्रीय । श्रुत केवली भद्रबाहु के इन चारों शिष्यों में एक का नाम था गोदास गणि । (६,९) गोदास गणि की शिष्य परम्परा की चार शाखाओं का उल्लेख भी यहीं मिलता है । इनकी प्रथम शाखा है 'तामलित्तिया' (ताम्रलिप्तिया), द्वितीय शाखा है 'कोडिवरिसिया' (कोटिवर्षीया), तृतीय शाखा का नाम है 'पौण्ड्रवद्धनियाँ' (पौण्ड्रवर्द्धनिया), चतुर्थ का नाम है 'दासी खव्वड़िया' ।

यहाँ उस समय के भूगोल गत तथ्यों के सम्बन्ध में जो लिखा है उसमें किसी-किसी का मतभेद है । अतः यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेपाल राजा के गुरू श्री हेमचन्द शर्मा ने अपनी सुलिखित काश्यप संहिता की भूमिका (१३७ पृ०) में लिखा है कि कोटिवर्ष हुआ वर्तमान काटोरा (कटवा) । शब्द साम्य से यह युक्तियुक्त लगने पर भी हम शासन लिपि में कुछ भिन्न पाते हैं ।

पार्जिटर साहब के मत से पुण्ड्र और पौण्ड्र भिन्न हैं । पुण्ड्र है गंगा के उत्तर में । पौण्ड्र देश गंगा के दक्षिण में वर्तमान वीरभूम जिले में ।

ताम्रलिपि का नाम सुविख्यात है । महाभारत में भीम की दिग्विजय-वर्णन में ताम्रलिपि के साथ कर्वट देश का नाम है ।

ताम्रलिपिं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ।

—सभापर्व, ३० अध्याय, २२४

अतः ताम्रलिपि के साथ ही कर्वट का नाम है । वराह मिहिर की वृहत् संहिता में देखते हैं—

व्याघ्रमुख सूमह कर्वट चान्द्रष्टपुराः । (१४५)

मार्कण्डेय पुराण में भी कर्वट शासन नाम से मानवाचल के पश्चात् ही चन्द्रशेखर का नाम है । (५८, ११) इससे लगता है कर्वट समूह और ताम्रलिप्त के आस पास है । मेदिनीपुर के निकट ही कर्वट देश था ।

कोटिवर्ष के विषय में हम पुरातन ताम्रपत्रों में बहुत उल्लेख पाते हैं ।

बंगलादेश के अनेकों ताम्रपत्रों में कोटिवर्ष का नाम पाते हैं । १८०६ ईसाइ में दिनाजपुर जिले के अन्तर्गत आमगाछी ग्राम के तृतीय विग्रहपाल देव का एक ताम्रपत्र मिलता है । इससे पता चलता है पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति के

अन्तर्भुक्त कोटिवर्ष विषय (२४ पंक्ति) था । दिनाजपुर के अन्तर्गत वाणगढ़ के ध्वंस स्तूपों में प्रथम महिपाल देव का एक ताम्रपत्र मिलता है । उससे पता चलता है परम सौगत राजा महिपाल देव अपने नवम राज्यांक में पौण्ड्रवर्द्धन भुक्ति के अन्तर्गत कोटिवर्ष विषय में (३०-३१वीं पंक्तियों) चूटपल्लिकावर्जित कुरट पल्लिका ग्राम बुद्ध भट्टारक के उद्देश्य से महाविष्णु संक्रान्ति के दिन कृष्णादित्य देवशर्मा को दान किया ।

१८७५ ईसाइ में दिनाजपुर जिले के मनहलि ग्राम में पुष्करिणी खोदते समय मदनपाल देव का एक ताम्रपत्र मिला था । परम सौगत राजा मदनपाल देव अपने अष्टम राज्यांक में महारानी चित्रमतिका देवी को महाभारत सुनाने की दक्षिणा रूप में चम्पाहट्टि ग्रामवासी बटेश्वर स्वामी शर्मा को पौण्ड्रवर्द्धन भुक्ति में कोटिवर्ष विषय में (३२ पंक्ति) इलावर्त्त मण्डल में कोष्टगिरि ग्राम में भूमिदान किया ।

१९३३ साल के इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली पत्रिका में प्रभासचन्द्र सेन महाशय ने कहा है कि बगुड़ा का महास्थान गढ़ ही पुराना पुण्ड्रवर्द्धन है।

यहाँ बहुत-सी जैन-मूर्त्तियाँ भी पायी गयी हैं । पहाड़पुर की बात भी कोई-कोई कहते हैं ।

देखते है पुण्ड्रवर्द्धन भुक्ति या प्रदेश के अन्तर्गत कोटिवर्ष एक विषय व जिला है । पुण्ड्रवर्द्धन में जैन समुदाय की एक शाखा रहने पर भी जब उसके अन्तर्गत कोटिवर्ष में और एक स्वतन्त्र शाखा की आवश्यकता हुई तो कह ही सकते हैं कि उत्तरबंग में उस समय जैन मत की प्रबलता कितनी अधिक थी।

ताम्रलिप्ति, पौण्ड्रवर्द्धन, कोटिवर्ष, कर्वट आदि नाम उस समय के विख्यात स्थानों के नाम हैं ।

मेरे श्रद्धा के पात्र परम मित्र मुनि जिन विजयजी ने १९३८ के २ अप्रेल को मुझे एक पत्र लिखा कि बंग देश में भद्रबाहु के बहुत शिष्य और बहुत से केन्द्रस्थान थे । अब भी सिंहभूम मानभूम मयूरभंज आदि प्रदेशों में जैन धर्म के बहुत अवशेष मिलते हैं ।

बंगला के अनेक शब्दों के साथ जैन शब्दों का विलक्षण सादृश्य है । जैन साहित्य में 'पल्लीग्राम' शब्द का व्यवहार प्रायः पाया जाता है ।[40]

जैन साधुओं के उत्तरीय को 'पछेड़ी' कहा जाता है । राढ़ में उत्तरीय

को प्राचीन लोग 'पाछुड़ी' कहते थे । गाँवों में अब भी यह शब्द लुप्त नहीं हुआ है । धूल झाड़ने के लिए (रजोहरणार्थ) जैन साधु जो झाड़ु व्यवहार करते हैं उसे वे लोग 'पीछी' बोलते हैं । पूर्व बंग में झाड़ु को 'पीछा' कहा जाता है । ऐसे ही बहुत से शब्द पाये जाते हैं । ढाका जिले का लौह जंघ नाम भी जैन तीर्थ कल्प में मिलता है ।[41]

नाम और उपाधि से जैन धर्म और बंग देश में सम्बन्ध था वह पूर्व ही कह आया हूँ ।

पुरानी बंगला लिपि के साथ जैन लिपि का जितना साम्य है उतना नागरी लिपि के साथ नहीं है । यह साम्य विशेष रूप में संयुक्ताक्षर देखने पर समझा जा सकता है । गुजरात-काठियावाड़ और राजस्थान के बहुत से जैन पंडित इस साम्य का क्या कारण है यह मुझसे पूछते हैं ।

१३३२ में श्री जिनप्रभ सूरि रचित विविध तीर्थकल्प में जैन तीर्थ पुण्ड्रवर्द्धन का नाम पाया जाता है । पुण्ड्र पर्वत की बात भी आती है ।[42] (क)

पुरातन प्रबन्ध संग्रह के जयचन्द्र प्रबन्ध में 'बंगाल देशे लखणावतीपुरी तत्र लखणसेनो राजा । तस्य दूर्गो दुर्गाह्मः' इत्यादि वाक्य है ।[43] (ख) ३८ नं श्री माता प्रबन्ध में देखते हैं लक्ष्मणावती नगरी के राजा लक्ष्मण सेन एक नारी का प्राण हरण करना चाहते हैं । क्योंकि उस स्त्री के पुत्र के राजा होने की बात थी । बाद में वही नारी प्राण लेकर भागी और उसकी पोती परम तपस्विनी हुई । वही थी श्रीमाता ।[44]

लक्ष्मणावती नगरी के राजा लक्ष्मण सेन और उनके मंत्री धर की कहानी मेरुतुंगाचार्य ने अपने प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ में बड़े सुन्दर ढंग से वर्णित की है । राजा के चण्डाल कन्या के प्रेम में आसक्त हो जाने पर उमापति धर जिस श्लोक द्वारा उन्हें सावधान करते हैं वह अत्यन्त सुन्दर ढंग से इस ग्रन्थ में वर्णित है ।[45]

प्रबन्धकोश में राजशेखर सूरि ने भी इस कथा को लिखा है । वहाँ मातंगी के प्रेम में आसक्त राजा आम को वप्पभट्टी ने श्लोक लिखकर सावधान किया है । दोनों ग्रन्थों मे नीति श्लोक एक ही है ।[46]

१३५० ईसाइ में राजशेखर सूरिकृत प्रबन्ध कोष में लक्ष्मणवती नगरी

की कथा है । वहाँ के राजा लक्ष्मण सेन हैं और दुर्ग दुर्ग्रह है ।[47]

जैनाचार्यों के अतिरिक्त भी राजपूताना के डिंगल साहित्य में लक्ष्मण सेन का नाम पहुँच गया था । १४५९ ईसाइ में कवि दामों ने लक्ष्मण सेन पद्मावती च उपर्हद नाम से काव्य रचना की । उसमें लक्ष्मण सेन और पद्मावती की प्रेम कहानी वर्णित है ।

प्रवन्ध कोष में लिखा है — गौड़ देश में लक्ष्मणावती नगर में धर्म नामक राजा थे । उनकी सभा में कविराज वाक्पति सभासद् थे । जैनाचार्य बप्पभट्टी की विद्या और गुणों से सन्तुष्ट होकर लक्ष्मणावती के राजा उनका वहुत सम्मान करते थे ।[48]

वप्पभट्टि राजा धर्म के आग्रह पर लक्ष्मणावती नगर में ही रह गए । गोपगिरि के राजा आम उन्हें लौटा लाने के लिए लक्ष्मणावती गए । आम ने राजा लक्ष्मण सेन की वार-स्त्री के घर ही रात्रि यापन की थी ।[49]

उस समय गौड़ लक्ष्मणावती नगर में एक असाधारण बौद्ध पण्डित थे । वप्पभट्टी ने उन्हें विद्यावल में अजेय जानकर कौशल से पराभूत किया ।[50]

राजा यशोधर्म ने लक्ष्मणावती जय कर राजा धर्म की हत्या कर डाली एवं वाक्पति कविराज को बन्दी बना लिया । बन्दीगृह में कविराज वाक्पति ने गौड़ वध काव्य की रचना की । वहाँ से मुक्त होकर वे वप्पभट्टी के पास गए और वहाँ के राजा आम को महामोह विजय नामक प्राकृत काव्य सुनाकर संतुष्ट किया । फलतः खूब पुरस्कृत हुए ।[51]

शायद वाक्पति पहले महाभारत काव्य-रचना में प्रवृत्त हुए थे किन्तु द्वैपायन ने आकर उन्हें भारत रचना और संस्कृत भाषा में रचना करना मना कर दिया ।

अतः उन्होंने गौड़वध नामक प्राकृत ग्रन्थ की रचना की ।[52]

पूर्व देश में लक्ष्मणावती नगर में लक्ष्मण सेन नामक प्रतापी और न्यायी राजा थे । उनके मंत्री थे प्रज्ञाविक्रमभक्तिसार कुमारदेव । वाराणसीराज गोविन्द चन्द्र के पुत्र जयचन्द्र के लक्ष्मणावती पर आक्रमण करने पर कुमारदेव के वुद्धवल से लक्ष्मण सेन के साथ जयचन्द्र की शत्रुता मित्रता में बदल गयी ।[53]

यहाँ तक कि १७४४ ईसाइ में बंगाल के वर्द्धमान में जैनाचार्य चित्र सेन ने चित्र चम्पू ग्रन्थ की रचना की ।[54]

जैन ग्रन्थों के विषय में ऐसे बहुत से आख्यान हैं जिसमें गौड़ लक्ष्मणावती आदि का उल्लेख मिलता है ।

प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र के जीवन में मिलता है कि जब वे तीर्थयात्रा को निकले थे तो ताम्रलिपि आए थे ।[55]

इन सब कारणों से लगता है कि उस समय जैनों के साथ गौड़ बंगाल का घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

फिर सबसे बडा प्रमाण है पूर्व बंग में जैन व्याकरण कातंत्र का इतना विस्तृत प्रचार । मुझे मेरे बन्धुवर मुनिश्री जिन विजय जी ने लिखा था— 'कातन्त्रव्याकरण की बात मैं जोर देकर नहीं कह सकता, शायद यह बौद्धों का व्याकरण भी हो सकता हैं ।' कातन्त्र व्याकरण के सम्बन्ध में मैंने एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखा है । उसी से सबकुछ जाना जा सकता है । अभी गुजरात आदि देश में इसका उतना प्रचलन नहीं है अतः मुनि जिन विजय जी इसके सम्बन्ध में ठीक से कुछ नहीं कह सके इसमें आश्चर्य की बात नहीं है ।

बंगाल में महाभाष्य के अनुयायी व्याकरण व्याख्याता हैं भागवृत्तिकार । श्रीपति दत्त के कातन्त्र परिशिष्ट में भागवृत्तिकार का नाम है विमलमति (१,१४२) । सम्भवतः भागवृत्ति की रचना नवमी या दसमी शताब्दी में हुई है । पद्म पुराण में आया है गौड़ के राजा थे नरसिंह ।[56] उनके समय में महाभाष्य को फणीश्वर ने पुनरूज्ज्वल किया था ।[57] पुरी गोवर्द्धन मठ के पाठ में फणीश्वर के स्थान पर मुनिश्वर है । अन्यत्र यह विषय आलोचित हुआ है ।

पूर्व बंग के अन्यान्य भागों में भी जैन मूर्त्ति आदि का अभाव नहीं है। राढ़देश में मानभूम आदि में जैनों के जो सब बड़े-बड़े स्थान थे उनके विषय में तो पहले ही कहा जा चुका है । अब भी सम्मेत शिखर आदि उसी प्रदेश में अवस्थित हैं । वाँकुड़ा, मानभूम, हजारीबाग आदि प्रदेशों में जैन मूर्त्तियों के अतिरिक्त सराक जाति नाम से जो जाति है वह जैन श्रावकों के ही वंशज है । उड़ीसा के वारम्वा राज्य में बहुत से सराक रहते हैं । उनकी पूजा-अर्चना उनके आचार्य ही करते हैं । उन्हें ब्राह्मणों की आवश्यकता नहीं पड़ती । विवाह में केवल होम करने के लिए ब्राह्मण को बुलाया जाता है, बाकी सब कार्य आचार्य करते हैं । उनका प्रधान तीर्थ है खण्डगिरि का गुफा

मन्दिर । वर्ष में एक बार उन्हें अवश्य वहाँ जाना होता है । गेटे साहब के मत से ये लोग बौद्ध हैं ।[58]

राँची जिले के खूँटी महकमें में बंगला भाषी एक ऐसी जाति के लोग रहते हैं जो जीव्-हिंसा नहीं करते । वे निरामिष भोजी हैं । खूँटी से करीब ४ कोस की दूरी पर हासा, गागरा आदि गाँवों में ऐसे बहुत से लोग निवास करते हैं । इनमें बहुत कम लोग पढ़े-लिखे हैं । आचार-व्यवहार, रीति-रिवाज सर्वप्रकार से वे बंगाली हैं । उनकी वेशभूषा और कपड़े पहनने की रीति भी बंगालियों जैसी हैं । लड़कियाँ पानी लाने के लिए कलशी काँख में लेती है । बस केवल मांस-मछली नहीं खाते । पूछने पर कहते हैं—'हम जैन हैं ।' उनके पूर्वज मानभूम जिले से आकर इन स्थानों पर बस गए थे । यह बहुत आगे की बात है इन्हें बिहार के मत्स्य विभाग के अध्यक्ष विशेष रूप से जानते हैं जिनका नाम है श्री धीरेन्द्रनाथ सेन । मुझे उन्हीं से यह सब ज्ञात हुआ है । शायद ये लोग किसी प्राचीन श्रावक दल के उत्तर पुरूष हैं ।

जिन भद्रबाहु ने पौण्ड्रवर्द्धन से बाहर जाकर पाटलिपुत्र, मालव, महाराष्ट्र, कर्नाटक, महीशूर तक जैन धर्म का प्रचार किया था आज उन्हीं के देश में राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़ आदि देशों से जैन लोग आकर जैन मन्दिर उपाश्रय आदि प्रतिष्ठित करते हैं । अभी जियागंज, अजीमगंज, मुर्शिदाबाद आदि स्थान जैनों के तीर्थ की भाँति हो गए हैं । कलकत्ता में भी पारसनाथ आदि के मन्दिर समस्त जैनों के आराध्य क्षेत्र हैं ।

बंगाल का जैन धर्म बहुत दिनों पश्चात् आज पुनः बंगाल में ही लौट आया है । बंगालियों को चाहिए कि पूरे सम्मान और आदर भाव से इस धर्म के ज्ञान और शिक्षा को ग्रहण करें । इनके शास्त्र और सिद्धान्तों के प्रति श्रद्धा परायण हो । सर्वप्रकार से इन सब शास्त्रों की आलोचना कर स्वयं को धन्य करें । बाईबिल में लिखा है—घर का लड़का बहुत दिनों पश्चात् अपने घर लौट आने पर उसके प्रति स्नेह और प्रेम शत्धार में उच्छ्वसित होता है । इसी प्रकार हमलोगों की श्रद्धा और प्रेम भी इस धर्म और इसके शास्त्रों के प्रति अपरिमित हो जाए ।

❖❖❖

१. राखालदास बन्द्योपाध्याय, प्रवासी, आश्विन १३३७, पृ° ८११ ।
२. Eastern Indian School of Medieval Sculpture, पृ° १४४ ।
३. J.A.S.B. भाग ५, पृ° २३९ ।
४. Modern Review, १९२८, खण्ड १, पृ° ५०२, Annual Report of Archaeological Survey of India, १९२५-२६, पृ° ११० । Indian Historical Quarterly (१९३१), पृ° ४३९ की उद्धृति अनुसार ।
५. Epigraphia Indica, २०, पृ° ३९ ।
६. B. Sarkar, Indian Historical Quarterly, १९३१, पृ° ४४१ ।
७. B. Sarkar, Indian Historical Quarterly, १९३१, पृ° ५२८ ।
८. Report of Varendra Research Society, १९२८, २९, ३० ।
९. कालिदास दत्त, भारतवर्ष, आश्विन १३३६, पृ° ५६१-५७७ । मेदिनीपुर में राढ़ की भाँति ही जैन मूर्त्तियों का अम्बार है ।
१०. Chimanlal Shah, Jainism in Northern India, पृ° ३३ ।
११. वही, पृ° १५१ ।
१२. Sacred Books of the East : Acaranga Sutra, १, ८, ३, १-२ ।
१३. वही, १, ८, ३, ३ ।
१४. वही, १, ८, ३, ४ ।
१५. वही, १, ८, ३, ५ ।
१६. वही, १, ८, ३, ७ ।
१७. वही, १, ८, ३, ८-९ ।
१८. वही, भूमिका, पृ° १५ ।
१९. J. Stevenson, Kalpa Sutra, पृ° ७८ ।
२०. Jainism in Northern India, पृ° ७८ ।
२१. Epigraphia Indica, भाग ९, पृ° ५५ ।
२२. वही, भाग ५, पृ° १८, २५० ।
२३. Indian Antiquary, खण्ड २०, पृ° ३४१-३६१ ।
२४. Encyclopaedia of Religions and Ethics, भाग ९, पृ° ६६ ।
२५. वही, पृ° ६५-६६ ।
२६. (क) Encyclopaedia of Religions and Ethics, पृ° १२३ ।
२७. (क) Indian Literature, पृ° ४३७-३८ ।

२८. Journal of Bihar Orissa Research Society, चतुर्थ खण्ड, पृ° ३८९।
२९. भद्रबाहु चरित, ४, श्लोक १५४ ।
३०. Jainism in Northern India, पृ° २३३-२३४ ।
३१. सूरि परम्परा प्रशस्ति, ११ ।
३२. भद्रवाहवी संहिता, भूमिका, पृ° ९ ।
३३. Stevenson, Kalpa Sutra, Introduction, पृ° २४ ।
३४. ZDMG XXXVIII, पृ° १७ ।
३५. Jolly, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, पृ° १०-११ ।
३६. Jainism in Northern India, पृ° १३७ ।
३७. Journal of Bihar Orissa Research Society, तृतीय खण्ड, पृ° ४५२।
३८. Stevenson, Kalpasutra, पृ° १८ ।
३९. Indian Historical Quarterly, १९३३, पृ° ७२२, प्रबन्ध चिन्तामणि, मल्लवादि प्रबन्ध, २०२, पृ° १०७ ।
४०. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, अपापावृहत्कल्प, पृ° ४१ ।
४१. (क) चतुर सूरि, महातीर्थनामसंग्रहकल्प, पृ° ८६ ।
४२. (ख) सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ° ८८ ।
४३. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ° ८४ ।
४४. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ° ११२-१३ ।
४५. वप्पभट्टसूरि प्रबन्ध, पृ° ३८ ।
४६. सिंघी जैन ग्रन्थमाला, पृ° ८८ ।
४७. प्रबन्ध कोष, वणाभट्टिसूरि प्रबन्ध, पृ° ३० ।
४९. प्रबन्ध कोष, वप्पभट्टि सूरि प्रबन्ध, पृ° ३३ ।
५०. तही, पृ° ३५ ।
५१. वही, पृ° ३७ ।
५२. पुरातन प्रबन्ध संग्रह, पृ° १२२ ।
५३. वही, लक्ष्मणसेन कुमारदेव प्रबन्ध, पृ° ८८ ।
५४. हरिषेण कथाकोष, सिंघी जैन ग्रन्थमाला १७, भूमिका, पृ° १२० ।
५५. सिंघी जैन ग्रन्थमाला ११, पृ° १० ।
५६. उत्तर, १८९,२ ।
५७. वही, १८९,३ ।
४८. Encyclopaedia of Religion & Ethics, पृ° ४९५ ।

संकलन

'पूर्वी भारत में जैन धर्म' लेख से उद्धृत अंश

"महावीर ने राढ़ की कुटियों में जो लघुदीप कभी प्रज्वलित किया था, क्या उसकी लौ का काजल आज हम हटा नहीं पायेंगे ? क्या सराक जन के रूप में हमारे जो पुरखे यहाँ हैं, उन्हें हम बगैर पंथभेद के सहेज पायेंगे ? अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त की आज सैकड़ों भूमिकाएँ हो सकती हैं लोक-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में, किन्तु क्या राढ़-अंचल में हुई महावीर की तितिक्षा-साधना को पुनरूज्जीवित करने का खतरा मोल लेने की हिम्मत कोई आज कर पायेगा ?"

"अंग, बंग, मगध, उत्कल को छोड़ जो आर्य थे, उनमें वस्तुतः धर्म की रागात्मक छवि का ही विकास अधिक हुआ था, उसका चिन्तनात्मक/ज्ञानात्मक/दार्शनिक पक्ष उनमें पूरी तरह खुल/उघड़ नहीं पाया । जिसे हम धर्म का चिन्तन-पक्ष कहते हैं, उसका पटोत्थान मुख्यतः मगध, बंग, उत्कल में ही हो सका । राजा जनक की यह घोषणा कि 'जो ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या करने में सफल होगा, उसे १००० गौएँ दी जाएँगी' काफी महत्त्वपूर्ण है, घोषणा से कहीं अधिक महत्त्व का तथ्य यह है कि उनकी जिज्ञासा/पिपासा को शान्त करने के लिए विदेह के ऋषि याज्ञवल्क्य ही आगे आये, मगध का कोई आर्य सामने नहीं आया । व्रात्यों को ले कर आर्यों का जो दृष्टिकोंण था, वह भी अतिरंजित/पूर्वाग्रहयुक्त था । यह भ्रम कि ब्राह्मण ही अध्ययन, मनन, चिन्तन का अधिकारी है, मगध/विदेह की धरा पर ही मिथ्या साबित हुआ और लड़खड़ा कर ध्वस्त हो गया । यहाँ यह सिद्ध हो सका कि क्षत्रिय भी अध्यात्म के प्रज्ञ वेत्ता हैं/हो सकते हैं, बल्कि इससे कहीं अधिक, जितने तत्कालीन ब्राह्मण थे । इन्द्रभूति आदि का महावीर के अनेकान्तात्मक प्रतिपादन के प्रति नतशीश होना इसी का ज्वलन्त प्रमाण हैं।"

"यहाँ तक पूर्वी भारत के ऐतिहासिक महत्व का प्रश्न है, वह बहुत स्पष्ट है । सम्राट खारवेल का कलिंग-स्थित हाथीगुफा शिलालेख इत्यादि से

पता चलता है कि इस हिस्से में आज से लगभग २८०० वर्ष पूर्व जैन धर्म का पूर्ण वर्चस्व था, या होने जा रहा था, तथा पार्वत्य गुफाओं में जैन मुनियों की निर्द्वन्द्व तपःसाधना के लिए अनुकूल/निर्विघ्न वातावरण था। तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ तथा महावीर की ऐतिहासिकताएँ आज पूर्णतः सिद्ध हैं। वेदों में इनके स्पष्ट उल्लेख आये हैं। वर्णन मिलते हैं कि तीर्थंकर महावीर ने पूर्वी भारत में परिस्थितियों के जटिल विषम और प्रतिकूल होने पर भी बिहार किया था, और वे यहाँ के लोकमानस को परिवर्तित करने में सफल हुए थे। पौराणिकताएँ भी साफ हैं। सराक जाति के ध्वंसावशेष भी जीवन्त साक्ष्य हैं।"

"जैन धर्म का पूर्व भारत को सांस्कृतिक प्रदेय क्या है, इसका भी संतुलित/पूर्वाग्रह-रहित मूल्यांकन होना चाहिये। विचारणीय है कि भगवान महावीर ने पूर्वी भारत में परिस्थितियों के अत्यन्त विषम/प्रतिकूल होते हुए भी वहाँ बिहार करने का संकल्प क्यों किया—विशेषतः राढ़ अंचल में जहाँ उन पर कुत्तों को छुछकारा गया और मिट्टी के लौंधे फेंके गये? उस आर्येतर, पहाड़ी, बर्बर भू-भाग में वे गये और उन्होंने अपनी तितिक्षा को साधा, तथा उस अंचल को अपनी अपरिसीम, अखूट और अनन्त करूणा से अभिषिक्त किया, वहाँ की अन्तरात्मा को अपनी अक्षय/असीम वत्सलता दी। हृदय-परिवर्तन का इससे बड़ा प्रयोग संभवतः इस धरती पर कहीं नहीं हुआ। यह इसी बंग धरा पर घटित हुआ था।"

"राढ़ अंचल में उनके साथ जो हुआ उसने यह सिद्ध कर दिखाया कि महावीर मनुष्य थे, ईश्वर नहीं थे, और यह कि मनुष्य में से ही ईश्वर प्रकट होता है, वह अलग किसी अन्य धातु की रचना नहीं है। उन्होंने सारे खतरे झेल कर यह साबित किया कि मनुष्य तन में ही परमात्मत्व की सारी संभावनाएं सन्निहित हैं बशर्ते वह भेद-विज्ञान के प्रखर औजार से जीव-अजीव को पृथक् कर सके। राढ़ के उपसर्ग उन्हें भेद-विज्ञान की ओर ले गये। उनका जीवन-दर्शन बना : अध्यात्म में भेद-विज्ञान, समाज में अभेद-विज्ञान; आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त। जिस मानवतावाद के वे जीवन्त प्रतीक बने उसने संपूर्ण पूर्वी भारत को झकझोर दिया; करूणा/सहिष्णुता की यह हवा

केवल मगध/बंग पर ही ठहरी नहीं रही, आगे बढ़ी और उसने सारे देश को अपनी अहिंसक/प्रीतिपूर्ण भुजाओं में समेट लिया। वस्तु-स्वातन्त्रय का अकाट्य प्रतिपादन, जो उनके अपने जीवन में-से प्रकट हुआ, इतना तेजस्वी था कि लोग उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। इधर यज्ञों में परम्परित/रूढ़ जो कुछ हो रहा था, उसने तत्कालीन मनुष्य की संवेदनशीलता को नख-शिख झुलस दिया था, महावीर ने उस आहता को अपनी अहिंसा की मृदु अंगुलियों से सहलाया, समर्थ बनाया, और एक बार पुनः मुमुर्षु मानवता को पुनरूज्जीवित किया; इसलिए हम कहेंगे कि पूर्वी भारत न केवल भौतिक/पार्थिव सूर्य की उदय-धरा है, वरन् वैचारिक क्रान्ति की प्रसविनी धरित्री भी है।"

"वज्जियों का गणतन्त्र राज-पद्धति के विकास में बहुमूल्य योगदान है। यह सब ईसा-पूर्व छठी सदी की बात है, यानी महावीर का समकालीन भारत राजनीतिक दृष्टि से सुदृढ़/समृद्ध था, क्योंकि ऐसे समय जबकि विश्व के अन्य राष्ट्रों में गणतन्त्र-दर्शन आँख ही नहीं खोल पाया था, पूर्वी भारत में उसकी बारीकियाँ/गंभीरताएँ विकसित हो चुकी थीं।"

"जैनों का वह चिन्तन जिसका उदय-उद्भव पूर्वी भारत में हुआ, इतना विशद, प्रोज्ज्वल, उदार, तेजस्वी, मानवीय, जनोपकारी है कि उसे विश्व के अन्तिम जन तक पहुँचा कर विश्व के नवभाग्य का सुखद निर्माण किया जा सकता है।"

साभार- तीर्थंकर, फरवरी-मार्च १९९८ डा° नेमीचंन्द जैन

मिट्टी उत्खनन मे विशाल-विशाल मूर्त्तियो की प्राप्ति लेकिन प्रशासन इस विषय में उदासीन

'पकविड़रा (पुरूलिया) में पहले ६ फुट पर फिर ५ फुट पर तथा और थोड़ा खोदने पर लगभग ७ फुट पर ही पत्थर की प्राचीन मूर्त्तियाँ निकल रही हैं । प्रायः दस वर्षों से यही क्रम चल रहा है । प्रारम्भ में अचानक पत्थर की तीन विशाल मूर्त्ति निकली उसके बाद से ये सिलसिला शुरू हो गया है तथा आज भी छोटी-बड़ी सभी मूर्त्तियाँ निकल रही हैं । गाँव के वृद्धजनों की धारणा है कि पूरे पकविड़रा में लगभग ५०० मूर्त्तियाँ अभी भी जमीन के नीचे पड़ी हुई हैं । उस धारणा का समर्थन पुरातत्व विभाग के अधिकारी भी करते हैं । इन महत्वपूर्ण मूल्यवान मूर्त्तियों के संरक्षण के प्रति सरकार का कोई आग्रह नहीं हैं ।'

साभार- आजकल २ फरवरी १९९८ से

निच्चकालऽप्पमत्तेणं, मुसावायविवज्जणं ।
भासियव्वं हियं सच्चं, निच्चाऽऽउत्तेण दुक्करं ॥

[उत्तरा॰ अ॰ १९ गा॰ २६]

सदा अ-प्रमादी और सावधान रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए । इस तरह सत्य बोलना बड़ा कठिन होता है ।

जैन भवन

जैन दर्शन की सरिता के स्वच्छन्द प्रवाह को निरन्तर गतिशील रखने के लिये पूर्वोत्तर भारत मे पचास से भी अधिक वर्षों से कार्यरत संस्था जैन भवन है जिसकी स्थापना १९४५ ई में कलकत्ता के बड़ा बाजार क्षेत्र में जैन समाज के विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा की गयी । इसका प्रमुख उद्देश्य जैनागम के गौरव और महात्मय को प्रकट करना, उसका प्रचार करना और विश्व मे उसकी सार्थकता को तर्कसंगत प्रमाण तथा नयी भाव भूमिका के साथ प्रस्तुत करना । उसी के साथ समाज में बौद्विक, नैतिक एवं अध्यात्मिक चेतना का विकास करना । इन्ही उद्देश्यों की पूर्ति के लिये जैन भवन द्वारा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों मे निम्नलिखित कार्य किये गये हैं ।

नयी पीढ़ी को शिक्षा प्रदान कर समाज में जागृति लाने के लिये जैन भवन द्वारा जैन शिक्षालय चलाया जाता है जिसमें पश्चिम बंग शैक्षणिक बोर्ड द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रमानुसार शिक्षा दी जाती है । साथ में नैतिक शिक्षा भी प्रदान की जाती है इस शिक्षालय मे लगभग ५५० छात्र छात्राएँ एवं पच्चीस अध्यापिकाएँ कार्यरत हैं ।

समय की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए यहाँ विशिष्ट शिल्प कलाओं, हस्तकलाओं ललित कलाओं, मार्शल आर्ट, जूडो, कर्राटे, योगआसन तथा अंग्रेजी संलाप की कक्षाओं का प्रारम्भ किया गया है । छात्राओं को इन सबका प्रशिक्षण दिया जाता है । स्कूल की छात्राओं के अलावा बाह्म छात्राओं के लिये भी ये कक्षाएँ पूरे वर्ष चलती है । तथा आस-पास के क्षेत्र की महिलाएँ भी इन कक्षाओं से लाभान्वित होती हैं ।

शिक्षा और ज्ञान के अर्ध्य से ही व्यक्ति की उन्नति सम्भव है क्यों कि यही जीवन की जीवन्त उपासना है । इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए जैन भवन में एक पुस्तकालय निर्मित किया गया है जिसमें जैन दर्शन, साहित्य एवं धर्म सम्बन्धी १०,००० पुस्तके तथा ३,००० हस्तलिखित दुर्लभ ग्रन्थों का समावेष है जिनकी सूचि उपलब्ध है। गवेषणा के लिये अनेक छात्र छात्राएँ यहाँ आकर अध्ययन करते हैं । समकालीन चिन्तन धारा से जुड़े रहने के लिये यहाँ देश विदेश से, करीब १०० से भी अधिक मासिक एवं साप्ताहिक पत्रिकाओ का विशाल संग्रह है जो पाठकों को अध्ययन के लिये उपलब्ध है।

जैन दर्शन में शोध की आवश्यकता को परिपूर्ण करने के लिये जैन

भवन शोधात्मक संस्थान के रूप में जैन दर्शन पर तीन शोध पत्रिकाएँ निकालता है । ये तीन पत्रिकाएँ है अंग्रेजी में 'जैन जर्नल' हिन्दी मे 'तित्थयर' और बंगला में श्रमन । जैन जर्नल लगभग ३२ वर्षो से सिर्फ देश में ही नहीं विदेशों में अत्यन्त लोकप्रिय है । वर्तमान मे इसका सम्पादन प्रसिद्ध भाषा विद् डा॰ सत्यरंजन बनर्जी कर रहे हैं । बंगला भाषा में एकमात्र जैन दर्शन पर पत्रिका श्रमण है जो १९९८ मे २५ वर्ष पूरे कर रही है। तथा डा॰ सत्यरंजन बनर्जी के कुशल सम्पादन में बंगाली समाज मे जैन दर्शन के ज्ञान का उत्कृष्ट माध्यम बन गयी है । हिन्दी पत्रिका तित्थयर अप्रेल १९९८ ई मे २२ वें वर्ष में प्रवेश करने जा रही है । श्रीमती लता बोथरा इसका संपादन कर रही हैं । जैन साहित्य और दर्शन के प्रचार और प्रसार में इन पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका है तथा ये पत्रिकाएँ निरन्तर प्रगति पथ पर अग्रसर हैं । हम आशा करते हैं कि इन पत्रिकाओं में लिखे जैन दर्शन पर शोधात्मक लेख भविष्य में आने वाली पीढ़ी के लिये एक अमूल्य थाती बन जाएँगे ।

जैन भवन द्वारा जैन दर्शन से सम्बन्धित विषयों पर विचारों को प्रकट करने के लिये प्रसिद्ध विद्वानों भाषा विदों, अध्यापकों को वक्तव्य देने के लिये उन्हे आमन्त्रित किया जाता है । इस प्रकार विचारों का परस्पर आदान-प्रदान भी होता है । जैन दर्शन पर शोध कार्य करने वालों को प्रोत्साहित करने के लिये समय-समय पर छात्र वृतियाँ भी दी जाती हैं । इसके अलावा जैन धर्म एवं साहित्य सम्बन्धित पुस्तकों का प्रकाशन भी जैन भवन द्वारा किया जाता रहा है जिसमे कुछ प्रमुख पुस्तकें हैं—भगवती सूत्र (अंग्रेजी) भाग- १,२,३,४ बरसात की रात, पंचदशी, बंगाल का आदि धर्म आदि ।

शिक्षा व शोध के क्षेत्र मे स्वाबलम्बी बनने के लिये १५ फरवरी १९९८ को कम्प्यूटर प्रशिक्षण केन्द्र की स्थापना के साथ जैन भवन ने प्रगति की दिशा मे एक और नया कदम बढ़ाया है । कम्प्यूटर द्वारा विश्व की शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं से सहज ही सम्बन्ध कायम किया जा सकता है । यह कदम वैश्विक सम्बन्धो को भी दृढ़ करने में सहायक है तथा जैन धर्म की महत्ता को विश्व के चित्रपट पर स्थापित करने की दिशा मे एक महत्वपूर्ण आयाम भी है ।

बौद्धिक अन्तर्विरोधों से ग्रसित समाज के लिये जैन भवन एक पथ प्रदर्शक के रूप में है । तथा यह स्थान प्राकृत भाषा का अध्ययन केन्द्र बन कर अनेकानेक शोधार्थियों की ज्ञान पिपासा को शान्त करता है । हमारे पाठको से अनुरोध है कि जैन भवन की इन सृजनात्मक उपलब्धियों और शोधात्मक क्रियाकलापों में अपना सहर्ष योगदान देंवे।

सत्य-सूत्र

1. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया ।
हिंसगं न मुसं बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥

[दश० अ० ६ गा० १२]

अपने स्वार्थ के लिए अथवा दूसरों के लिए, क्रोध से अथवा भय से—किसी भी प्रसंग पर दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाला असत्य वचन न तो स्वयं बोले, न दूसरों से बुलवाये ।

2. मुसावाओ य लोगम्मि, सव्वसाहूहिं गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं, तम्हा मोसं विवज्जए ॥

[दश० अ० ६ गा० १३]

मृषावाद (असत्य) संसार में सभी सत्पुरूषों द्वारा निन्दित ठहराया गया है और सभी प्राणियों को अ-विश्वसनीय है, इसलिए मृषावाद सर्वथा छोड़ देना चाहिए ।

3. न लवेज्ज पुट्ठो सावज्जं, न निरट्ठं न मम्मयं ।
अप्पणट्ठा परट्ठा वा, उभयस्सन्तरेण वा ॥

[उत्तरा० अ० १ गा० २५]

अपने स्वार्थ के लिए, अथवा दूसरों के लिए, दोनों में से किसी के भी लिए, पूछने पर पाप-युक्त, निरर्थक एवं मर्म-भेदक वचन नहीं बोलना चाहिए ।

4. तहेव सावज्जऽणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवधायणी ।
से कोह लोह भय हास माणवो,
न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥

[दश० अ० ७ गा० ५४]

श्रेष्ठ साधु पापकारी, निश्चयकारी और दूसरों को दुःख पहुँचानेवाली वाणी न बोले ।
श्रेष्ठ मानव इसी तरह क्रोध, लोभ, भय और हास्य से भी पापकारी वाणी न बोले । हँसते हुए भी पाप-वचन नहीं बोलना चाहिए ।

5. दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुण्णं वियंजियं ।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तयं ॥

[दश० अ० ८ गा० ४९]

आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य), परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण, स्पष्ट-अनुभूत, वाचालता-रहित, और किसी को भी उद्विग्न न करनेवाली वाणी बोलनी चाहिए ।

6. भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य दुट्ठे परिवज्जए सया ।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥

[दश० अ० ७ गा० ५६]

भाषा के गुण तथा दोषों को भली-भाँति जानकर दूषित भाषा को सदा के लिए छोड़ देनेवाला, षट्काय जीवों पर संयत रहनेवाला, तथा साधुत्व-पालन में सदा तत्पर बुद्धिमान साधक एकमात्र हितकारी मधुर भाषा बोले ।

7. सयं समेच्च अदुवा वि सोच्चा,
भासेज्ज धम्मं हिययं पयाणं ।
जे गरहिया सणियाणप्पओगा,
न ताणि सेवन्ति सुधीरधम्मा ॥

[सूत्र० श्रु० १ अ० १३ गा० १९]

श्रेष्ठ धीर पुरूष स्वयं जानकर अथवा गुरूजनों से सुनकर प्रजा का हित करनेवाले धर्म का उपदेश करे । जो आचरण निन्द्य हों, निदानवाले हों, उनका कभी सेवन न करे ।

8. सवक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया ।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥

[दश० अ० ७ गा० ५५]

विचारवान मुनि को वचन-शुद्धि का भली-भाँति ज्ञान प्राप्त करके दूषित वाणी सदा के लिए छोड़ देनी चाहिए और खूब सोच-विचार कर बहुत परिमित और निर्दोष वचन बोलना चाहिए । इस तरह बोलने से सत्पुरूषों में महान् प्रशंसा प्राप्त होती है ।

9. तहेव काणं काणे त्ति, पंडगं पंडगे त्ति वा ।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेणं चोरे त्ति नो वए ॥

[दश० अ० ७ गा० १२]

काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर कहना यद्यपि सत्य है, तथापि ऐसा नहीं कहना चाहिए । (क्योंकि इससे उन व्यक्तियों को दुःख पहुँचता है ।)

10. वितहं वि तहामुत्तिं, जं गिरं भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेणं, किं पुण जो मुसं वए ?

[दश० अ० ७ गा० ५]

जो मनुष्य भूल से भी मूलतः असत्य, किन्तु ऊपर से सत्य मालूम होनेवाली भाषा बोल उठता है, और वह भी पाप से अछूता नहीं रहता, तब भला जो जान-बूझकर असत्य बोलता है, उसके पाप का तो कहना ही क्या ?

11. तहेव फरूसा भासा, गुरूभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥

[दश० अ० ७ गा० ११]

जो भाषा कठोर हो, दुसरों को भारी दुःख पहुँचानेवाली हो—वह सत्य ही क्यों न हो—नहीं बोलनी चाहिए । क्योंकि उससे पाप का आस्त्रव होता है ।

B. W. M. INTERNATIONAL
Manufacturers & Exporters
Peerkhanpur Road, Bhadohi - 221401 (U.P.)
Ph : (O) 05414-25178, 25778, 25779
Bikaner Ph : 0151-522404, 25973
Fax: 05414-25378 (U.P.) 0151- 61256 (Bikaner)

RATAN LAL DUNGARIA
16B, Ashutosh Mukherjee Road
Calcutta - 700 020, Ph: (R) 455-3586

ROYAL TOUCH OVERSEAS CORPORATION
47, Pandit Purushottam Roy Street, 2nd Floor,
Calcutta -700 007, Ph: (033) 230-1329, 232-1033
Fax: 91-33-2302413

NAHAR
5/1, A.J.C. Bose Road, Calcutta - 700 020
Ph: 247-6874, Resi : 244-3810

GRAPHITE INDIA LIMITED
Pioneers in Carbon/Graphite Industry
31, Chowranghee Road, Calcutta -700016
Ph: 2264943, 292194, Fax: (033) 2457390

LALCHAND DHARAMCHAND
Govt. Recognised Export House
12, India Exchange Place, Calcutta - 700 001
Ph: (B) 220-2074/8958 (D) 220-0983/3187
Cable : SWADHARMI, Fax : (033) 2209755
Resi : 464-3235/1541, Fax : (033) 4640547

PRITAM ELECT. & ELECTRONICS PVT. LTD.
22, Rabindra Sarani, Shop No. G-136
Calcutta - 700 073, Ph: (033) 262210

M/S. METROPOLITION BOOK COMPANY
93, Park Street, Calcutta - 700 016
Ph: 226-2418, Resi : 464-2783

ARBEITS INDIA
8/1, Middleton Road, 8th Floor, Room No. 4
Calcutta - 700 071, Ph: 296256/8730/1029
Resi : 2476526/6638/2405126
Telex : 021 2333, ARBI IN, Fax : 226-0174

G. M. SINGHVI
M/S. WILLARD INDIA LIMITED
Mcleod House
13, Netaji Subhas Road, Calcutta - 700 001
Phone : (O) 248-7476-8, (R) 475-4851/1483
Fax : 248-8184

CREATIVE LIMITED
12, Dargah Road, Post Box : 16127, Cal - 17
Ph: (033) 240-3758/1690/3450/0514
Fax : (033) 240 0098, 247 1833

JAYANTI LAL & CO.
20, Armenian Street, Calcutta - 700 001
Ph: 25-7927/3816/6734, Resi : 240-0440

P. C. JAIN
B-14, Sarvodaya Nagar, Kanpur - 208005
Ph: 29-5552/29-5955

UJJWAL TRADING PVT. LTD.
Regd Office :11, Clive Row, 3rd Floor, Room no. 14,
Cal -700 001, Ph: (O) 242-4131/4756

HARAK CHAND NAHATA
21, Anand Lok, New Delhi - 110049
Ph : 646-1075

BHEEKAM CHAND DEEP CHAND BHURA
D. C. Group Pvt. Ltd.
Sagar Estate, 5th Floor
2, Clive Ghat Street, Calcutta - 700 001
Phone : 220-4779/0131/5721

SUNDERLAL DUGAR
R.D.B. Industries Ltd.
Regd. Off : Bikaner Building
8/1 Lal Bazaar Street, Calcutta - 700 001
Ph : 248-5146/6941/3350, Mobile : 9830032021
Office : Tobacco House
1/2, Old Court House Corner
Calcutta - 700 001, Ph : 220-2389/3570/3569

SMT. KUSUM KUMARI DOOGAR
166, Jodhpur Park, Calcutta -700068
Phone: 4720610

GLOBE TRAVELS
Contact for better & Friendlier Service
11, Ho Chi Minh Sarani, Calcutta - 700 071
Phone : 282-8181

SURENDRA SINGH BOYED
Sovna Apartment
15/1 Chakrabaria Lane, Calcutta - 700 026
Phone : 476-1533

APARAJITA BOYD
9/10, Sitanath Bose Lane, Salkia
Howrah - 711 106, Phone : 665-3666/2272

BOYD SMITHS PVT. LTD.
8, Netaji Subhas Road
B-3/5 Gillander House, Calcutta - 700 001
Ph: (O) 220-8105/2139, Resi : 244-0629/0319

PARSAN BROTHERS
Diplomatic & Bonded Stores Suppliers
18-B, Sukeas Lane, Calcutta - 700 001
Ph : (O) 242-3870/4521, Fax : 242-8621

J. KUTHARI PVT. LTD.
12, India Exchange Place
Calcutta - 700 001
Ph: 220-3142, Resi : 475-0995, 476-1803
Fax : 221-4131

SATKAR CONSTRUCTION PVT. LTD.
Gujrat Mansion, 5th Floor
14, Bentick Street, Calcutta - 700 001
Ph : 248-4730/6256/9867, Direct : 248-6477/6169
Resi : 478-0765/458-3397, Mobile : 98300-30618
Fax : 248-6169

AJAY DAGA, AJAY TRADERS
203/1 M.G. Road, Calcutta - 700 007
Phone : (O) 238-9356/0950
(Fact) 557-1697/7059

DUGAR & CO. JUTE BROKER
12, India Exchange Place, (3rd Floor)
Calcutta - 700 001
Phone : 220-1283/0813, Resi : 555-6039

KUMAR CHANDRA SINGH DUDHORIA
7, Camac Street, Calcutta - 700 017
Phone : 242-5234/0329

BALCHAND SOHANLAL
5, Karbala Mohammed Street
Calcutta - 700 001, Phone : 953902/252759
Fax : 033-252902

Dr. ANJULA BINAYIKA
M.D. DND, M.R.C.O.G (London)
12, Prannath Pandit Street
Calcutta - 700 025, Phone : 474-8008

ABHANI BACHHRAJ
Fancy Saree Emporium
156, J.L. Bajaj Street, 1st Floor, Calcutta - 700 007
Ph : Shop- 238-6582, 239-0079
Resi- 483988/2573

CHOPRA TYRES
Unit of Fatehchand Chopra & Family
Tyre Resoler
Sakunta Road, Agartala, (Tripura)

ASHOK TRADING COMPANY
Authorised Distributors of
J.K. Engineering Steel Files & Drills I.T. Cuttings, Tools
Miranda Tools & (Hacksaw Blades) BIPICO-ECLIPSE
18C, Sukeas Lane, Calcutta - 700 001
Ph : 242-2345/4461

BHANWARLAL KARNAWAT
BEEKY TAI FEB UDYOG PVT. LTD.
City Centre, Room No. 534 & 535, 5th Floor
16, Synagauge Street, Calcutta - 700 001
Ph : 238-7281, 230-1739

AKHILESH KUMAR JAIN
JUTE BROKER
9, India Exchange Place, Calcutta - 700 001
Phone : 221-4039, 210-2760, (R) : 660-1604

COMPUTER EXCHANGE
'Part Centre' 24 Park Street
Calcutta - 700 016, Phone : 295047, 299110

S.C. SUKHANI
Santiniketan Building, 4th Floor, Room No. 14
8, Camac Street, Calcutta - 700 017
Phone : (O) 242-0525 (R) 239-9548
Fax : 242-3818

MAUJIRAM PANNALAL
Citizen Umbrellas
45, Armenian Street, Calcutta - 700 007
Ph : Shop- 242-4483/9181, (O) 238-1396/1871
Fax : 231-2151/666-6013

A.C. LOCKS CO.
22 Bonfield Lane, Calcutta - 700 007

CHUNNILAL ASHOK KUMAR
30, Cotton Street, 3rd Floor
Calcutta - 700 007, Phone : 238-7764
Resi : 666-4541, 530-9286

ARIHANT JEWELLERS
Mahendra Singh Nahata
57, Burtalla Street, Calcutta - 700 007
Phone : 238-7015, 232-4087/4978

C. H. SPINNING & WEAVING MILLS PVT. LTD.
Bothra ka Chowk, Gangasahar, Bikaner

JAICHAND VINODKUMAR
Exclusive Wholesaler of Fancy Sarees
1/1, Noormal Lohia Lane, 2nd Floor, Calcutta - 700 007
Phone : 238-3328/9678, 239-3450
Resi : 247-6785/7086, 40-0325/3995
Fax : 239-3450, 247-7526
Telex : 217761 JVS-IN Gram MINNI-BROS

KUSUM CHANACHUR
Prop. Churoria Brothers
Mfg. by : K. C. C. Food Product
P.O. Ajimganj, Dist. : Murshidabad
Phone: STD (03483)-53234
Calcutta- 230-0432, 231-2802

SURANA MOTORS PVT. LTD.
24A, Shakespeare Sarani
84 Parijat, 8th Floor, Calcutta - 700 071
Phone: 2477450/5264

KALURAM RAMLAL
40A, Armenian Street, Calcutta - 700 001
Phone : 238-9089/239-1264

MOTILAL BENGANI
CHARITABLE TRUST
12 India Exchange Place
Calcutta - 700 001, Phone : 220-9255

A.M. BHANDIA & CO.
23/24 Radha Bazar Street, Calcutta - 700 001
Phone : 242 1022/6456/555-4315 (R)

BALURGHAT TRANSPORT LTD.
170/2/C, Acharya Jagadish Bose Road
Calcutta, Phone : 245-1612-15
2, Ram Lochan Mallick Street
Calcutta - 700 073

ABHAY SINGH SURANA
Surana House
3, Mango Lane, Calcutta - 700 001
Phone : 248-1398/7282

SATISH KUMAR SHYAMSUKHA
11, Pollock Street, Calcutta - 700 001

NARENDRA JAIN
Super Iron Factory
7, Rabindra Sarani, Calcutta - 700 001
Phone : 225-3785/0069
Works : 665-3144
Fax : 91-33-2250198, 943333, 954321

ACARDIA SHIPPING LTD.
22, Tulsiani Chambers
Nariman Point, Bombay - 400 021

SUDIP KUMAR SINGH DUDHORIA
Indian Silk House Agencies
129, Rasbehari Avenue
Calcutta, Phone : 464-1186

CALTRONIX
12, India Exchange Place
3rd Floor, Calcutta - 700 001
Phone : 220-1958/4110

BOTHRA & BOTHRA
12, Noormal Lohia Lane
2nd Floor, Calcutta - 700 007
Phone : Shop - 230-0216, (R) : 259657, 259312

GRAPHIC PRINT & PACK
12C, Lord Sinha Road, Calcutta - 700 071
Phone : (O) 242-4916/8380
Resi : 343-8302, Pager : 6902-315070

N. K. JEWELLERS
Gold Jewellery & Silver Ware Dealers
2, Kali Krishna Tagore Street, Calcutta - 700 007

IN THE MEMORY OF LATE
Jitendra Singh Nahar, Rabindra Singh Nahar
40/4A, Chakraberia South, Calcutta - 700 020
Phone : (O) 244-1309, (R) 475-7458

SUDERA ENTERPRISES PVT. LTD.
1, Shakespeare Sarani, Calcutta - 700 071
Phone : 282-7615/7617/2726
Gram : Sudera

VEEKEY ELECTRONICS
36, Dhandevi Khanna Road
Calcutta - 700 054
Phone : 352-8940/334-4140 (R) 352-8387/9885

SPACE 'N' WINGS
Travel Agents
10, Dr. Rajendra Prasad Sarani (Clive Row)
1st Floor, Calcutta - 700 001
Phone : 242-7806/8835/5852
P.S.A. Biman Bangladesh Airlines

GAUTAM TRADING CORPORATION
32, Ezra Street, Calcutta - 700 001
6th Floor, Room No - 654
Phone : (O) 250623, (R) 239-6823

SANA FASHIONS
A20/21 Laghu Udyog
I.B. Patel Road, Goregaon East, Bombay - 400 063

H. R. ELECTRICALS
Dealers in Electrical Switch gear, starter & spare parts
Siemens, English Electric L.T/ L.K. B.C.H., etc.
32, Ezra Street, 7th Floor, Room No - 712A
South Block, Calcutta - 700 001
Room No - 314, 3rd Floor
Phone : (O) 255009/1299, (R) 660-4332

VIJAY AJAY
9, India Exchange Place
Room No - 4/2, 4th Floor, Calcutta - 700 001
Phone : (O) 220-6974/8591/7126, 243-4318
Fax : 220 6974

MAHASINGH RAJ MEGH RAJ BAHADUR
Goal Para, Assam

KASTURCHAND VIJAYCHAND
155, Radha Bazar Street, Calcutta - 700 001
Phone : 220-7713

SURAJ MAL TATER
C/o Surajmal Chandmal
137, Bipin Behari Ganguli Street
Calcutta - 700 012
Phone : Shop - 227-1857 (R) 238-0026

TARUN TEXTILES (P) LTD.
203/1, Mahatma Gandhi Road, Calcutta - 700 007
Phone : 238-8677/1647, 239-6097

VISHESH AUTOMATIONS PVT. LTD.
Dealers of IBM, HCL-H.P. Seimens & Toshiba
16D, Ashutosh Mukherjee Road
Calcutta - 700 020, Phone : 476-2994, 455-0137
Fax : 91-33-4552151

ELECTRO PLASTIC PRODUCTS (P) LTD.
22, Rabindra Sarani, Calcutta - 700 073
Phone : 26-3028, 27-4039

MUSICAL FILMS (P) LTD.
9A, Explanade East, Calcutta - 700 069

S. VIJAY CHAND
Vinay Textiles
Whole Sale Merchants
113B Manohar Das Katra, Calcutta - 700 007
Phone : Shop - 238-1388, (R) 247-6105/2750
'Guddi' 10, Jamunalal Bajaj Street
2nd Floor, Calcutta - 700 007

जो हिंसात्मक प्रवृति से विलग है,
वही बुद्ध, ज्ञानी हैं
WITH BEST WISHES

PANKAJ NAHATA
Oswal Manufacturers Pvt. Ltd.
Manufacturers & Suppliers of Garments & Hosiery Labels
4, Jagmohan Mallick Lane, Calcutta - 700 007
Phone : (O) 238-4755, (R) 238-0817

KUMAR PAL BAHADUR SINGH DUGAR
2F, Garcha First Lane, Calcutta - 700 019
Phone : (O) 278841/7539, (R) 475-9712/2807

D. K. SYNTHETICS
Whole Sale Dealer
180, Mahatma Gandhi Road
Mullick Kothi, 1st Floor, Calcutta - 700 007
Phone : Shop - 232-6040, (R) 684181

JAYSHREE EXPORTS
A Govt. of India Recognised Export House
105/4 Karaya Road, Calcutta - 700 017
Phone : 247-1810/1751, 240-6447
Fax : 91-33247-2897

MAHAVIR COKE INDUSTRIES (P) LTD.
1/1A Biplabi Anukul Chandra Street
Calcutta - 700 072, Ph : 215-1297, 26-4230/4240

APRAJITA
Air Conditioned Market
Calcutta - 700 071, Ph : 282-4649, Resi : 247-2670

AAREN EXPORTERS
12A, Netaji Subhas Road, 1st Floor, Room No. 10
Calcutta - 700 001, Phone : 220-1370/3855

विशुद्ध केशर तथा मैसूर की सुगन्धित चन्दन की लकड़ी,
वरक एवं धूप के लिये पधारें
SHRI JAIN SWETAMBER SEVA SAMITI
13, Narayan Prasad Babu Lane
Calcutta - 700 007, Phone : 239-1408

S. P. SYNTHETICS
House of Exclusive Shirtings
38, Armenian Street, 1st Floor, Calcutta - 700 001
Phone : 25-7312, Shop : 230-1180, Resi : 241-6831

SIDDHA NIKETAN
Goldel Chance to book flat in Jaipur
8, Ho Chi Minh Sarani
Calcutta - 700 071, Ph : 282-2164/4577

मथुरा के जैन स्तूप इस बात के
स्पष्ट और अकाट्य प्रमाण हैं कि
जैन धर्म प्राचीन है और
प्रारम्भ में भी वर्तमान स्वरूप में था ।

Shri Vinsent Smith

卐

RADHIKAS

ICE CREAM PARLOUR &
FAST FOOD CENTRE

SHIVAM CHAMBERS
53, Syed Amir Ali Avenue
(Near Ice Scating Rink)
Calcutta - 700 019
Phone : 247-2602

THE PURE VEGETARIAN PARLOUR FOR CHOICEST & TASTIEST IDLIS, DOSAS, BURGERS, CHATS AND MANY MORE DELICIOUS FOODS WITH VARITIES OF ICE-CREAMS.

जैन संस्कृति मनुष्य संस्कृति है,
जैन दर्शन भी मनुष्य दर्शन ही है,
जिन देवता नहीं थे, किन्तु मनुष्य थे ।

Prof. Harisatya Bhattacharya

We are, always ready to most the Exact type of your requirement

AUCKLAND INTERNATIONAL LTD.

(UNIT : AUCKLAND JUTE MILLS)

'KANKARIA ESTATE'

6, Little Russel Street
Calcutta - 700 001

A Recognised Export House
Cable : SWANAUCK, CALCUTTA
Telex : 21-2396 AUCK IN
Codes : BENTLEY'S SECOND
Phone : 29-2621, 2623, 7199, 7698, 7710

Registered Office &
'JUTE MILL'
At Jagatdal, 24 Parganas
Phone : BHATPARA 2757, 2758 & 2038

एतिहासिक सामग्री से यह सिद्ध होता है कि आप से
पांच हजार वर्ष पहले भी जैन धर्म की सत्ता थी ।

Dr. Prannath (Historian)

GYANI RAM HARAKH CHAND SARAOGI CHARITABLE TRUST

P-8, Kalakar Street
Calcutta - 700 007
Phone : 239-6205/9727

Founders of

Shri Gyaniram Harakchand Saraogi College
of Arts & Commerse
Sujangarh

Shri Gyaniram Saraogi Homeo Hall

Shri Gyaniram Saraogi Physiotherapy Centre

जैन मत तब से प्रचलित है
जबसे संसार में सृष्टि का आरम्भ हुआ ।
मुझे इसमें किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है
कि जैन धर्म वैदान्तिक दर्शनों से पूर्व का है ।

Dr. Satish Chandra
Principal Sanskrit College
Calcutta

JYOTSNA — EKTA BOTHRA

55, Bhagawati Chatterjee Street
Calcutta - 700 056
Phone : 553-8035

भागवत पुराण के अनुसार
ऋषभदेव जैन धर्म के संस्थापक हैं ।

Shri Radha Krishnan

卐

HINDUSTAN GAS & INDUSTRIES LTD.
ESSEL MINING & INDUSTRIES LTD.

Registered Office
"Industry House"
10, Camac Street, Calcutta - 700 017
Telegram : 'Hindogen' Calcutta
Phone : (033) 242-8399/8330/5443
Fax : (91) 33 2424998/4280

Manufacturers of
Engineers' Steel Files & Carbon Dioxide Gas
At Tangra (Calcutta)
IronOre and Manganese Ore Mines
In Orissa
S. G. Malleable & Heavy Duty Iron Castings
At Halol (Gujrat)
Ferro Vanadium and Ferro Molybdenum
At Vapi (Gujrat)
High Purity Nitrogen Gas
At Mangalore
H.D.P.E./P.P. Woven Sacks
At Jagdishpur (U.P.

जैन धर्म सर्वथा स्वतन्त्र धर्म है
यह किसी का अनुकरण नहीं है ।
Dr. Jacobi

卐

R. C. BOTHRA & COMPANY PVT. LTD

Steams Agents, Handling Agents,
Commission Agents & Transport Contractors

Regd. Office
2, Clive Ghat Street,, (N. C. Dutta Sarani).
6th Floor, Room No. 6, Phone : 220-6702, 220-6400
Fax : (91) (33) 220-9333, Telex : 21-7611 RAVI IN

Vizag Office
28-2-47 Daspalla Centre
Vishakhapatnam - 530020, Phone : 69208/63276
Fax : 91-0891-569326, Gram : BOTHRA

JAIN BHAWAN PUBLICATIONS

P-25 Kalakar Street, Calcutta - 700 007

English			
1.	*Bhagavati-sütra* – Test edited with English translation by K.C. Lalwani in 4 volumes;		
	Vol-I (śatakas 1-2)	Price : Rs.	150.00
	Vol-II (śatakas 3-6)		150.00
	Vol-III (śatakas 7-8)		150.00
	Vol-IV (śatakas 9-11)		150.00
2.	James Burges – *The Temples of Śatruñjaya*, Jain Bhawan, Calcutta, 1977, pp. x+82 with 45 plates	Price : Rs.	100.00
	[It is the glorification of the sacred mountain *Śatruñjaya.*]		
3.	P.C. Samsukha – *Essence of Jainism* translated by Ganesh Lalwani.	Price : Rs.	10.00
4.	Ganesh Lawani – *Thus Sayeth Our Lord*		10.00
Hindi			
5.	Ganesh Lalwani – Atimukta (2nd edn.) translated by Shrimati Rajkumari Begani		40.00
6.	Ganesh Lalwani – Śraman Samskriti ki Kavitä		20.00
7.	Ganesh Lalwani – Nílänjanä translated by Shrimâti Rajkumari Begani		30.00
8.	Ganesh Lalwani – Candana-Mürti, translated by Shrimati Rajkumari Begani		50.00
9.	Ganesh Lalwani – Vardhamän Mahavír		60.00
10.	Ganesh Lalwani – Barsät kí Ek Rät		45.00
11.	Ganesh Lalwani – Pañcadaśí		100.00
12.	Rajkumari Begani – Yädó ke Äine më		30.00
Bengali			
13.	Ganesh Lalwani – Atimukta		40.00
14.	Ganesh Lalwani – Śraman Samskrti Kavitä		20.00
15.	Puran Chand Shyamsukha – Bhagaván Mahávír O Jaina Dharma		15.00

तित्थयर

जिन धर्म और संस्कृति की महक से
सुरभित करने वाली पत्रिका तित्थयर (मासिक)
के आजीवन सदस्य बनें ।

आजीवन सदस्यता शुल्क- एक हजार रूपये

JAIN JOURNAL

**One of its Kind, most Valuable,
Quarterly research Journal
on Jainism**

**Life Membership – Rs. 2000/-
Yearly – Rs. 60/-**

श्रमण

बंगाल की भूमि में जैन संस्कृति के
गौरव का प्रतीक श्रमण (बंगला) के
आजीवन सदस्य बनिये ।

आजीवन सदस्यता शुल्क- पाँच सौ रूपये

वार्षिक शुल्क- तीस रूपये

सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता है। ज्ञान के बिना चरित्र के गुण नहीं होते। गुणों के बिना भक्ति नहीं होती और भक्ति बिना निर्वाण शाश्वत् आत्मानन्द प्राप्त नहीं होता।

G.C. Jain

A-40 N.D.S.E - II
New Delhi - 110049
Tel : 625-7095/0330

WB/NC - 330
VOL XXII No.1

'Titth ayara'

Registered with the registered
of Newspapers for India under
No. R.N. 3018/77

April 1998

अरिहंते सरणं पवज्जामि
सिद्धे सरणं पवज्जामि
साहु सरणं पवज्जामि
केवलि पन्नत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि

"आत्मा के साथ ही युद्ध करो, बाहरी दुश्मनों
के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा को आत्मा
के द्वारा ही जीत कर मनुष्य सच्चा सुख पा सकता है।"

Kamal Singh Rampuria
Rampuria Mansions
17/3 Mukhram Kanoria Road, Howrah
Phone No. : 666 7212/7225